

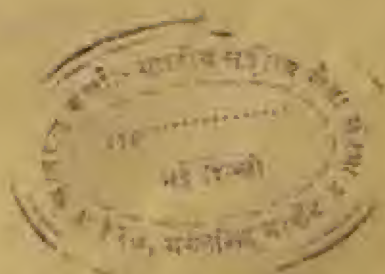
GOVERNMENT OF INDIA

ARCHÆOLOGICAL SURVEY OF INDIA

CENTRAL
ARCHÆOLOGICAL
LIBRARY

ACCESSION NO. 36851

CALL No. 901.0954/ Har.







पिप्लरी बग्याची में भारतीय पुरातत्व की एक बड़ी कोठ भारत
में सिन्धु सभ्यता के अवशेषों का पता लगाना है। इसका सबसे
महत्वपूर्ण स्थान खोज है। इसकी खुदाई में प्राप्त एक
स्वर्णहार (पृ० ६१)

भारत का

30551

सांस्कृतिक

इतिहास

* 119

हरिवन्त वेदालंकार

पृष्ठ २०

गुरुकुल विश्वविद्यालय
कांगड़ी

तीसरा संस्करण

901.0954

Har

~~SPECIMEN~~ 1061

१९६२

आत्माराम पण्ड संस, दिल्ली-६

BHARAT KA SANSKRITIK ITIHAS

(Cultural History of India)

by

Hari Dutta Vedalankar

Rs. 8.00

(Third Edition, 1962)



COPYRIGHT © ATMA RAM & SONS, DELHI-6

प्रकाशक

रामबाल पुरी, संचालक
आत्माराम एण्ड संस
कादमोरी गेट, दिल्ली-6

शाखाएँ

- होज बाग, नई दिल्ली
- चौहा रास्ता, जयपुर
- माई हौरा गेट, जालन्धर
- बेगमपुल रोड, मेरठ
- विश्वविद्यालय क्षेत्र, वरधौगढ़

मूल्य आठ रुपए

मुद्रक

रसिक प्रिंटर्स

करोल बाग, नई दिल्ली

RECEIVED 11-11-63

11-11-63

36851
21.5-63
901-0954

तृतीय संस्करण की भूमिका

इस संस्करण को पूर्णतया संशोधित करते हुए इसमें पिछले दस वर्षों में हुए नवीन पुरातत्वीय खन्वेधर्मी तथा सांस्कृतिक परिवर्तनों का विस्तार से वर्णन किया गया है। दूसरे अध्याय में लोपल की गुदाई पर एक नया प्रकरण बढ़ाया गया है। शासनप्रणाली तथा प्राधुनिक भारत वाले समस्याओं की सामग्री की अद्यतनीय बनाने के लिये अनेक संशोधन किये गये हैं। तथोपिन के लिये सुबे डा० बागुदेवशरणजी शंकराव, हिन्दू विश्वविद्यालय, तथा श्री कुलवत्तजी बानेजी, माधव विश्वविद्यालय, से बहुमूल्य भुक्तान मिले हैं, मैं इनका इसके लिए अत्यन्त धन्यारी हूँ। भारत सरकार के पुरातत्वे विभाग ने लोपल, मोहेंजोदड़ो आदि के सम्बन्ध में धनने बहुमूल्य चित्र छापने की अनुमति प्रदान की है, इसके लिए इस विभाग का बहुत अनुगृहीत हूँ।

गुरुकुल कांगड़ी

२४-४-६२

हरिदत्त वेदालंकार

प्रथम संस्करण की भूमिका

इस पुस्तक का उद्देश्य प्राचीन भारतीय संस्कृति के सब महत्त्वपूर्ण का सरल एवं सुबोध रूप से संक्षिप्त तथा प्रायोगिक दिग्दर्शन कराना है। यह बड़ी प्रमत्ता की बात है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद जनता का इस विषय में धनुराम निरन्तर बढ़ रहा है और विश्वविद्यालय अपने पाठ्य-क्रमों में इनका समावेश कर रहे हैं। यह पुस्तक विभिन्न विश्वविद्यालयों के पाठ्य-क्रम को ध्यान में रखते हुए लिखी गई है, उनमें स्थित सभी विषयों का इनमें संक्षिप्त एवं सारगर्भित प्रतिपादन है। धारा है कि विश्वविद्यालयों के छात्रों के लिए यह पुस्तक उपयोगी होगी तथा प्राचीन संस्कृति के सम्बन्ध में विज्ञान रखने वाले सामान्य पाठक भी इनमें लाभ उठा सकेंगे।

पुस्तक के पहले अध्याय में भारतीय संस्कृति की महत्ता, सम्पत्ता और संस्कृति के स्वरूप, तथा हमारे देश की सांस्कृतिक एकता की महत्त्वपूर्ण विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है और विभिन्न राजनीतिक युगों की सांस्कृतिक उत्पत्ति का संक्षिप्त निर्देश है। इस अवतरणिका के बाद दूसरे से तीसरे अध्यायों तक वैदिक, महाकाव्य-कालीन, गुप्त एवं मध्य युग की सांस्कृतिक दशा का तथा बौद्ध, जैन, भक्ति-प्रधान पौराणिक हिन्दू-युग, बृहत्तर भारत, वर्ण-न्यायस्था, भारतीय दर्शन, शासन-प्रणाली, शिक्षा-व्यवस्था तथा कला आदि संस्कृति के महत्त्वपूर्ण अंगों का विवेक

है, हिन्दू धर्म और इस्लाम के भारतीयिक सम्पर्क के परिणामों का भी उल्लेख है। नौदहवें संस्करण में भारतीय संस्कृति की विशेषताओं और उसके भविष्य पर विचार किया गया है। पन्द्रहवें संस्करण में आधुनिक भारत के सांस्कृतिक नव जागरण का प्रयोग है, इसमें ब्राह्म-समाज, धर्म-समाज आदि धार्मिक आन्दोलनों, नती-प्रथा के निर्णय से हिन्दू कोड तक के सामाजिक सुधारों, वर्तमान भारत के वैज्ञानिक विकास, साहित्यिक उन्नति और कलात्मक पुनर्जागृति का संक्षिप्त उल्लेख है।

पुस्तक की कुछ प्रभाव विशेषताओं का वर्णन अनुचित न होगा। इसकी भाषा और शैली सशुद्ध सरल और सुबोध रखी गई है। इसमें इस बात का प्रयत्न किया गया है कि प्रत्येक युग और सांस्कृतिक पहलू के अधिक विस्तार में न जाकर उसकी भूला बातों की ही चर्चा की जाए, विभिन्न विषयों का काल-क्रमानुसार इस प्रकार वर्णन किया जाय कि जारा विषय हस्तामलकवत् हो जाय। पाठक और विद्यार्थी स्पष्ट रूप से यह जान सकें कि हमारी संस्कृति में कौन-सी संस्था, प्रथा, व्यवस्था, कथा-वीथी दार्शनिक विचार किस समय और किस कारणों में प्रादुर्भूत हुए। उदाहरणार्थ जाति-भेद का बीदक, मीथे, सातवाहन, गुप्त तथा मगध युगों में कैसे विकसित हुआ, इसका संक्षिप्त वर्णन किया गया है। इस प्रकार धर्म तथा अन्य क्षेत्रों में भी सांस्कृतिक उन्नति की कमिक व्यवस्थाओं का निदर्शन है। भारतीय कला वाले संस्करण में न केवल भारतीय कला की विशेषताओं तथा उसकी विभिन्न शैलियों का परिचय दिया गया है किन्तु उनके स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए १४ चित्र भी दिये हैं, चित्रों का सुसज्ज इस दृष्टि से किया गया है कि इनमें भारतीय कला के सभी कार्यों के एक ही उत्तम नमूने का ज्ञाप। लेखक कुछ अधिक चित्र देना चाहता था किन्तु पुस्तक के जर्जरी में छापने के कारण, उसे इतने चित्रों से ही संतोष करना पड़ा है। संक्षेप संस्करण में वह इन चित्रों को पूरा करने का भरसक प्रयत्न करेगा। सात चित्र भारतीय पुरातत्त्व-विभाग की कृपा से प्राप्त हुए हैं। इनके प्रकाशित करने की अनुमति प्रदान करने के लिए मैं इस विभाग को अत्यन्त ध्यामारी हूँ। विद्वत्ताओं से भारतीय संस्कृति का प्रसार स्पष्ट करने के लिए एक मान-चित्र भी दिया गया है।

यदि यह पुस्तक छात्रों तथा भारतीय संस्कृति के प्रेमियों को इस विषय का ज्ञान करा सके और इसके प्रति अनुमान उत्पन्न कर सके तो लेखक अपना प्रयत्न सफल समझेगा।

गुरुकुल काँगड़ी

हरिदत्त वेदार्थकार

विषय-सूची

१. विषय-प्रवेश	१
२. प्रागैतिहासिक युग	१४
३. वैदिक साहित्य और संस्कृति	३४
४. रामायण और महाभारत तथा संस्कारीन भारत	५४
५. जैन और बौद्ध-धर्म	६५
६. भक्ति-प्रधान पौराणिक धर्म का उदय और विकास	७४
७. दर्शन	८६
८. मौर्य-शातवाहन-कुशाण युग	९६
९. गुप्त-युग का समाज, साहित्य और विज्ञान	११७
१०. वृक्षतर भारत	१२८
११. मध्यकालीन संस्कृति	१४०
१२. इस्लाम और हिन्दू धर्म का सम्पर्क तथा उसके प्रभाव	१५३
१३. शासन प्रणाली	१६५
१४. भारतीय कला	१७७
१५. प्राचीन शिक्षा-पद्धति	२०३
१६. आधुनिक भारत	२१८
१७. भारतीय संस्कृति की विशेषताएँ	२४१
पहला परिशिष्ट-संस्कृति विषयक संस्कृत के महत्वपूर्ण ग्रन्थों तथा लेखकों का काल	२५३
दूसरा परिशिष्ट-प्राचीन भौगोलिक स्थानों के वर्तमान रूप	२५८
सहायक ग्रन्थ-सूची	२६२
अनुसूचिका	२६४

हाफ्टोन चित्र-सूची

१. ओषध की खुदाई में प्राप्त स्वर्णहार ।
२. अशोककालीन कुपभाकित स्तम्भशीर्ष (३ रीं श० ई० पू०) ।
३. अमरावती स्तूप का एक दृश्य ।
४. भारहुत में बुद्ध की उपासना का एक दृश्य ।
५. भारहुत स्तूप में उत्कीर्ण राजकुमार जेत के उद्यान की खरीदने का दृश्य (२ रीं श० ई० पू०) ।
६. महामाया का स्वप्न (२ रीं श० ई० पू०) ।
७. भारहुत स्तूप पर उत्कीर्ण खेप्ली की मूर्ति (२ री० श० ई० पू०) ।
८. अलहाबाद में मुशोभित पार्वती मस्तक, अहिच्छत्रा बरेली में प्राप्त, (१ वीं श० ई०) ।
९. चामर अहिनी गल्ली दीदारगंज, पटना ।
१०. भगवान् राम की कांस्य प्रतिमा (११ वीं श० ई०) ।
११. प्रजा पारमिता (१२ वीं श०) ।
१२. होयसलेश्वर (हालेबिद, मैसूर) के मन्दिर का बाहरी दृश्य ।
१३. दक्षिण में भारतीय संस्कृति के प्रसारक महर्षि अगस्त्य (चिदम्बरम्, १३ वीं श० ई०) ।
१४. भारनाथ की बुद्धमूर्ति ।
१५. राजराज चोल द्वारा तंजौर में बनवाया बृहदीश्वर का मन्दिर (१० वीं श० ई०) ।
१६. चारापुरी (एलिकैण्टा) की त्रिमूर्ति ।
१७. देववाड़ा (घात) के जैन मन्दिर में अंगमरमर की कारीगरी वाली छत (१०३१ ई०) ।
१८. बच्चे की दुलार कर्त्तों में (भुवनेश्वर, उड़ीसा, ११वीं श०)
१९. पञ्च विषती हुई नारी (भुवनेश्वर, ११ वीं श०)
२०. लिंगराज (भुवनेश्वर) के मन्दिर ।
२१. कोथार्क (उड़ीसा) के रथ का विशालचक्र ।

लाइन स्टाक विषय-सूची

१. हड़प्पा के दो कब्रस्थ	पृ० १७६
२. मोहेज्जोदड़ो की मुहरें	पृ० १७६
३. सांची का स्तूप	पृ० १८०
४. बराबर (जि० गया) में धनोक की बनवाई सोमनाथ मूर्ति की मुफा	पृ० १८२
५. अजन्ता का एक भित्तिचित्र	पृ० १८६
६. पद्मनाभि अमलोकितेश्वर	पृ० १८६
७. मासलपुरम् का एकाग्रम मन्दिर	पृ० १८९
८. नगीरम की तपस्या	पृ० १९३
९. एलोरा का कैलाश मन्दिर	पृ० १९४
१०. खजुराहो के मन्दिर	पृ० १९५
११. मोहेज्जोदड़ो की भर्तृकौ	पृ० २०१
१२. नटराज विषय	पृ० २०२
१३. नालन्दा के प्राचीन अवशेष	पृ० २१४



विषय-प्रवेश

भारतीय संस्कृति की महत्ता—भारतीय संस्कृति विश्व के इतिहास में बड़े दुर्घटनों से विशेष सहन रखती है। यह संसार की प्राचीनतम संस्कृतियों में से है। मोहेंजोदड़ो की खुदाई के बाद से यह मिस्र और मेसोपोटेमिया की सबसे पुरानी सभ्यताओं के समकालीन समझी जाने लगी है। प्राचीनता के साथ इसकी दूसरी विशेषता समरता है। चीनी संस्कृति के घातिरक्त पुरानी दुनिया की अन्य सभी—मेसोपोटेमिया की सुमेरियन, अशोरियन, बबिलोनियन और एजिप्शियन प्रभृति तथा मिस्र, ईरान, यूनान और रोम की—संस्कृतियों का जल के कमल पत्र में गया लूकी है, कुछ स्वतन्त्रता यद्यपि इनकी गौरव-भाषा माने के लिए बने हैं; किन्तु भारतीय संस्कृति कई हजार वर्षों तक बाल के फूल धपड़ों की महती हुई साथ तक जीवित है। उसकी तीसरी विशेषता उसका जगद्गुरु होता है। उसे इन बात का खेद प्राप्त है कि उसने न केवल इस महाद्वीप-भराने जगतवर्ष को सम्मत्ता का पाठ पढ़ाया प्रांतु भारत के बाहर भी बहुत बड़े हिस्से को जपती जातियों को सभ्य बनाया, साइबेरिया में निहल (धीनका) तक और ईरानास्कर हावू, ईरान तथा अफगानिस्तान में प्रजात महाभारत के बोनिवी, बान्नी के ईंधी तक के विराट मुन्धक पर अपना घमिड प्रभाव छोड़ा। सर्वोच्चता, विभाजता, उदारता और महिष्मता की दृष्टि में अन्य संस्कृतियां उसकी समता नहीं कर सकती।

इन प्रमुख और विलक्षण संस्कृति के उत्तराधिकारी होने के नाते इसका जवाबदान धारण करना हमारा परम आवश्यक कर्तव्य है। इसमें न केवल हम उसके गुण, महत्त्व और भी, मान्य होंगे। यह भी बात होगी कि किन कारणों से उसका उत्कर्ष और अवनति हुआ। इसमें तो कोई संदेह नहीं कि भारतीय संस्कृति का अतीत अत्यन्त उज्ज्वल था, किन्तु हमारा कर्तव्य है कि हम अविष्य को भूत से भी अधिक उज्ज्वल और भीमपूर्ण बनाने का प्रयास करें। यह सांस्कृतिक इतिहास के सम्पूर्ण अध्ययन से ही सम्भव है।

किन्तु इससे पहले संस्कृति के स्वरूप तथा भारतीय संस्कृति की औपचारिक और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का सामान्य परिचय आवश्यक है।

सभ्यता और संस्कृति—संस्कृति का अन्वय है उन सब चीजों की स्थिति। सभ्यता स्वभावतः ऐतिहासिक प्राणी है। यह बुद्धि के प्रयोग से करने वाली और जो

प्राकृतिक परिस्थिति को निरन्तर सुधारता और उन्नत करता रहता है। ऐसी प्रत्येक जीवन-पद्धति, नीति-नीति, रहन-सहन, खाद्य-विहार, नर्तन-प्रतुनभाव और आर्थिक-प्रकार, जिनमें मनुष्य पशुओं और जंगलियों के दर्जे में ऊँचा उठता है तथा नष्ट करता है, सभ्यता और संस्कृति का प्रगम है। सभ्यता (Civilization) से मनुष्य के भौतिक क्षेत्र की और संस्कृति (Culture) से मानसिक क्षेत्र की प्रगति सूचित होती है। प्रारम्भ में मनुष्य घोंघी-घाँघी, मुट्ठी-मुट्ठी लकड़-मुहल लुहा जंगलों में रहता था, धर्म-धर्म: उसने इन प्राकृतिक विपदाओं से अपनी रक्षा के लिए पहले मुकाबों और फिर कमल, लकड़ी, ईंट या पत्थर के मकानों की शरण ली, घड़े बड़े घोड़े और सीमेंट की समतल-मुम्बी श्रुतानिकाओं का निर्माण करने लगा है। प्राचीन काल में गलापाग का साधन किसी मानव के दो पैर ही थे, फिर उसने घोड़े, ऊँट, हाथी, रत्त और बहलौ का आश्रय लिया, अब वह मोटर और रेजगाड़ी के द्वारा थोड़े समय में बहुत लम्बे फासमें लय करता है, हवाई जहाज द्वारा आकाश में भी उड़ने लगा है, स्मृतिकी, राकेटों, अंतरिक्ष-यानों द्वारा अन्तर्मा, शुक्र तथा मंगल ग्रहों तक पहुँचने का प्रयत्न कर रहा है। पहले मनुष्य जंगल के रान्द, मूल और फल तथा शाखों से अपना निर्वाह करता था। बाद में उसने पशु-पालन और कृषि के आर्थिकता द्वारा आजीविका के साधनों में उन्नति की। पहले वह अपने सब कार्यों की शारीरिक शक्ति से करता था, पीछे उसने पशुओं की शक्ति बनाकर और अन्तर्कर उनकी शक्ति का हल, गाड़ी आदि में उपयोग करना सीखा। अन्त में उसने हवा, पानी, गन्ना, बिजली आदि भौतिक शक्तियों को तथा रासायनिक शक्ति को बल में करके ऐसी मशीनें बनाई जिनसे उसने भौतिक जीवन में काम-चलद हो गई। मनुष्य को यह सारी प्रगति सभ्यता कहलाती है।

संस्कृति का स्वरूप—मनुष्य केवल भौतिक परिस्थितियों में सुधार करके ही सन्तुष्ट नहीं हो जाता। वह जीवन से हो नहीं जाता, शरीर के मांस मन और आत्मा भी है। भौतिक उत्पत्ति से शरीर की भूख मिट सकती है, किन्तु इसके बादबूद मन और आत्मा भी सन्तुष्ट हो बने रहते हैं। इन्हें सन्तुष्ट करने के लिए मनुष्य धर्मना को विश्वास और उन्नति करता है, उसे संस्कृति कहते हैं। मनुष्य को विश्वास का परिणाम धर्म और दर्शन होते हैं। धर्म-दर्श की प्रेरणा करत हुए वह संगीत, साहित्य, नृति, विष और वास्तु आदि अनेक कलाओं को उन्नत करता है। मनुष्यनिक निवास के लिए सामाजिक और राजनीतिक संघटनों का निर्माण करता है। इस प्रकार मानसिक क्षेत्र से उन्नति को रूपक उसकी प्रत्येक 'सम्पन्न-वृद्धि' संस्कृति का प्रगम बनती है। इसमें प्रदान रूप से धर्म, दर्शन, सभी ज्ञान-विज्ञानों और कलाओं, सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थाओं और प्रथाओं का समावेश होता है।

संस्कृति का निर्माण—किसी देश की संस्कृति उसकी सम्पूर्ण मानसिक विधि को मुक्ति करता है। यह किसी विशेष व्यक्ति के पुस्तक के फल नहीं अपितु धर्मरूप ज्ञान तथा अज्ञान व्यक्तियों के अनुरूप प्रयत्न का परिणाम होती है। सब

व्यक्ति अपनी सामर्थ्य और योग्यता के अनुसार संस्कृति के निर्माण में सहयोग देते हैं। संस्कृति की तुलना चाटुलिपि के निचट सन्त में पाए जाने वाली मूर्ख की भाँसकाम बहानों से की जा सकती है। मूर्ख के अक्षरों कीड़े अपने छोटे घर बनाकर समाप्त हो गए, फिर नये कीड़ों ने घर बनाए, उनका भी अन्त हो गया। इसके बाद उनकी धनवी पीढ़ी ने भी वही किया, और यह कम हुआ कि वर्षों तक निरन्तर चला रहा। आज उन सब मूर्खों के नष्ट-नष्ट घरों ने परस्पर जुड़े हुए विघात बहानों का रूप धारण कर लिया है। संस्कृति का भी इसी प्रकार धीरे-धीरे निर्माण होता है और उसके निर्माण में हजारों वर्ष लगते हैं। मनुष्य विभिन्न स्थानों पर रहते हुए विशेष प्रकार के सामाजिक वातावरण, संस्कारों, प्रथाओं, व्यवस्थाओं, धर्म, दर्शन, लिपि, भाषा तथा कलाओं का विकास करते अपनी विशिष्ट संस्कृति का निर्माण करते हैं। भारतीय संस्कृति की भी इसी प्रकार रचना हुई है।

भारतीय संस्कृति में सम्मिश्रण—भारतीय संस्कृति को प्रायः केवल आर्यों की कृति समझा जाता है। इसमें कोई शक नहीं कि हमारे संस्कृति के निर्माण में प्रधान भाग अर्यों का था, किन्तु हम यह नहीं भूलना चाहिए कि आज हमारे जो संस्कृति है वह आर्यों नहीं अपितु भारतीय है। इसमें आर्यों ने, उनके पूर्व यहाँ बसने वाले तथा उनके बाद गये जाने वाली सभी अन्तर्गत जातियों ने अपनी देन दी है। जिस प्रकार मिट्टी के घनेक स्तरों के समान से केला बनता है, उसी प्रकार भारतीय संस्कृति नाना जातियों की साधनाओं के परस्पर सम्मिश्रण से बनी है। सिन्धु, गान्धारी, आर्य, द्रविड़, ईरानी, यवन, शक, कुषाण, पालव, गुप्त, अलख, तुर्क, मुगल प्रभृति अनेक जातियों ने संस्कृतिक मूल में अपनी-अपनी धातु डी है। समरीक्षा और चाटुलिपि में जिस प्रकार समूची-बीनामूची पुरानी संस्कृतियों और जातियों का उन्मूलन करके राष्ट्रीय एकता की प्रतिष्ठा की गई, ऐसा वहाँ कभी नहीं हुआ। वहाँ किसी जाति ने दूसरी जाति के उन्मूलन की बात नहीं सोची। आज भारतीय संस्कृति जिस रूप में दिखाई दे रही है, यह आर्य और अन्तर्गत बहुविध जातियों की साधनाओं के सम्मिश्रण का फल है। वर्तमान भारत का प्रत्येक विचार, विचारों और सामाजिक तथा राजनीतिक पक्षों विभिन्न तरफों से मिलकर बने हैं। प्रयागराज की त्रिवेणी में तीन नदियों का संगम होता है, किन्तु भारतीय संस्कृति अनेक पुनोत्पन्न नदियों के संगम से बनी है।

सम्मिश्रण का कारण सहिष्णुता—इस प्रकार का सम्मिश्रण बहुत कम देशों में हुआ है। इस सम्मिश्रण का प्रधान कारण आर्यों की सहिष्णुता की प्रवृत्ति प्रतीत होती है। प्रायः विजेता असहिष्णु होते हैं, वे विजितों पर अपना धर्म, व्यवहार-विचार, विद्वान् व्यवस्था कोपना चाहते हैं। यूरोप में कई सभियों तक न केवल विभिन्न धर्मों अपितु भाषाओं में भी अपने-से प्रतिष्ठित मत रखने वालों का क्रूरता-पूर्ण दमन करने तथा एक ही धर्म की बहाने के बाद धार्मिक सहिष्णुता का पाठ पढ़ा है। किन्तु भारत में आर्यों ने जल्द ही के समय से यह सिद्धांत मान लिया था—एक ही भगवान् की ओर नाना नामों से पुकारते हैं (एक सदिश बहूधा वदन्ति)। सबको अपने ईश्वर से पूजा

करने, धार्मिक विश्वास रखने तथा उसके अनुसार जीवन बिताने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। समूचे भारतीय इतिहास में यह प्रवृत्ति प्रबल रही है। इसी कारण भारतीयों ने बाहर से आने वालों को बिदेसी नहीं समझा, उनसे घृणा नहीं की, उनकी नीति-नीति और आचार-विचार का विरोध नहीं किया। उनका धर्म, भाषा और रहन-सहन मने ही मिश्र हो, भारतीयों ने उसे स्वीकार किया। भारत ने यहूदी, पारसी, मुसलमान, ईसाई धर्मों को आश्रय दिया। सहिष्णुता के कारण धार्मिक, द्रविड़, मंगोल, शक, ईरानी, तुर्क आदि जातियों का सुगमता-पूर्वक सम्मिश्रण हुआ। वहाँ जो जातियाँ आईं, सहिष्णुता और उदारता ने उन्हें अपना बना लिया गया। इस्लाम, हिन्दू धर्म का कट्टर विरोधी था। किन्तु कुछ ही सदियों में मुसलमान बिदेसी नहीं रहे और भारतीय बन गये। समीर कुशरी को इस बात का गर्व था कि वह हिन्दुस्तानी है। उसका कहना था—‘यद्यपि मेरा जन्म तुर्क-कुल में हुआ है तथापि मैं भारतीय हूँ। मैं मिश्र से प्रेरणा नहीं ग्रहण करता, मैं अरब की बात नहीं करता, मेरा मित्र भारतीय भावों के नील-गाता है।’

सम्मिश्रण के परिणाम—इस सम्मिश्रण ने भारतीय दृष्टिकोण अधिक विस्तृत बना, विश्व में उदारता और व्यवहार में सहिष्णुता आई। समूचे देश में एक ऐसी गहरी मौलिक एकता उत्पन्न हुई जो इन आकार के अन्य प्रदेशों में नहीं पाई जाती। यूरोप से यदि कस को निकाल दिया जाये तो बीच प्रदेश का क्षेत्रफल लगभग भारत के लगभग है। लेकिन यूरोप में वैसी गहरी मौलिक एकता नहीं दिखाई देती जैसी भारत में दृष्टिगोचर होती है।

भारतवर्ष की विविधता तथा मौलिक एकता—बाना जातियों के सम्पर्क से सृष्ट भारतवर्ष संस्कृति की एक बड़ी विशेषता यह है कि उसने सब प्रकार की विविधताओं से परिपूर्ण इस देश में मौलिक एकता स्थापित की है। भारतीय देशों का उच्चतम धार्मिक बहुत्व में एकत्व बुँदना रहा है और इस देश की संस्कृति ने उसे विद्यात्मक रूप में जोड़ निकाला है। भौगोलिक दृष्टि से भारत प्रधान रूप से चार भागों में बाँटा जाता है : (१) हिमालय, उत्तर पूर्वी और उत्तर पश्चिमी सीमा के पर्वत, (२) सिन्धु और गंगा का उत्तर भारतीय मैदान, (३) किन्ध-मेगाला (४) दक्षिण। इनमें सब प्रकार की विविधता है। कहीं ऊँचे पहाड़ हैं और कहीं सपाट मैदान, कहीं शस्वरगामल प्रदेश हैं और कहीं निर्बल मरुभूमियाँ, आर्द्रतम और शुष्कतम, ठण्डे से ठण्डा और गर्म-से-गर्म सभी प्रकार का जलवायु, बाना प्रकार के वृक्ष-वनस्पति और पशु-पक्षी वहाँ मिलते हैं।

इसमें रहने वाले लोगों की नस्ल, बोलियाँ, धर्म, रहन-सहन, वेश-भूषा, खान-पान एक नहीं है। भारत को इन सबका अजायबघर कहा जाय तो शायद अत्युक्ति न होगी। भारत में कई विभिन्न नस्लें हैं : जैसे (१) आर्य, (२) द्रविड़, (३) किरात (तिब्बत-बर्मो), (४) मुण्डा (कोल-बील)। दूसरे सम्प्रदाय में इनका विस्तृत वर्णन होगा। इनके सम्मिश्रण से बीसियों संकर नस्लें पैदा हुईं। हिन्दू समाज जल-वायु में

विभक्त है और जातियों की संख्या लगभग २,००० है। यही वैविध्य भाषाओं में । श्री धियर्शन के मतानुसार भारत की विभिन्न भाषाओं तथा बीजियों की संख्या कमरा १७६ और ५४४ है। भारत में हिन्दू, मुस्लिम, जैन, पारसी, ईसाई, ब्रह्मो आदि अनेक धर्म पाये जाते हैं। विविध प्रातजातियों के जैन-भूषा, रहत-सद्म, आन-पान में कोई समता नहीं। बंगाली, बिहारी, पंजाबी, उडिया, मराठी, गुजराती, तामिल, तेलुगु, कन्नड़ और केरल सभी एक दूसरे से भिन्न प्रतीत होते हैं।

भौतिक एकता—किन्तु यह विविधता बाह्य है। वास्तव में इसकी तत्त्व में एक भौतिक एकता है, जो हमारे देश की भौगोलिक और सांस्कृतिक एकता का परिणाम है। उत्तर में हिमालय की विशाल पर्वत-माला तथा दक्षिण में समुद्र ने गारे भारत में एक विशेष प्रकार की ऋतु-वर्द्धि बना दी है। "यमों की ऋतु में जो काल बादल बनकर उड़ती है वह हिमालय की ओर बढ़ती है। बादल हिमालय को नहीं लोच पाते, वे जो तो बरस जाते हैं या हिमालय की चोटियों पर बर्फ के रूप में जम जाते हैं, यमियों में पिघलकर नदियों की धाराएं बनकर वापस समुद्र में जाते जाते हैं। समस्त काल में समुद्र और हिमालय में एक दूसरे पर पानी फेंकने का खेल चल रहा है। इससे बरसात होती है, नदियाँ में पानी घाटा है, विभिन्न कम के अनुसार ऋतुएं धायी हैं और यह ऋतु-चक्र समूचे देश में एक-सा है।" भारत में अनेक बीजियाँ तथा भाषाएँ हैं, किन्तु अधिकांश प्रधान भाषाओं की संख्याएँ एक हैं। भारत में अनेक नस्लें हैं, किन्तु धुल-मिलकर एक प्रदेय में समान भौगोलिक परिस्थिति में रहने, एक भूमि के खल-जल से पोषण पाने हुए उनमें काफी एकता उत्पन्न हो गई है। उन पर भारतीयता की समिट छान पवित हो गई है। भारत को एक देश स्वीकार न करने वाली की भी यह भौतिक एकता स्वीकार करनी ही पड़ती है। सर हर्बर्ट रिचर्ड्स के शब्दों में—"भारत में दर्शन की भौतिक क्षेत्र में और सामाजिक रूप में, भाषा, आधार और धर्म में जो विविधता दिखाई देती है, उसकी वह में, हिमालय के कम्पा-कुमारों तक एक भौतिक एकता है।"

सांस्कृतिक एकता—यह एकता प्रधानतः संस्कृति के प्रकार में प्रादुर्भूत हुई और प्राचीन काल से उसे समूचे देश की विभिन्न जातियों का एक तुक में गिराने में सफलता मिली है। पंजाबी, बंगाली और मराठी साधारण रूप-रंग, भाषा आदि में सब प्रकार से भिन्न हैं, किन्तु सांस्कृतिक रूप में एक हैं। ये एक ही हिन्दू धर्म के अनुयायी हैं। उनके आदर्श पुरुष मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीराम और श्रीकृष्ण एक-ले हैं। वे समान रूप में वेद, उपनिषद्, धर्मशास्त्र, गीता, रामायण और महाभारत, पुराण और शास्त्रों की प्रतिष्ठा करते हैं। गौ, गंगा, रामकी सर्वत्र पवित्र मानी जाती है। शिव, विष्णु, नृपाँ आदि पुराण-प्रतिपादित देवी-देवताओं की सभी पूजा करते हैं। सारे देश में सिन्दूरों के पवित्र तीर्थ फैले हुए हैं। चारों दिशाओं के चार धाम—उत्तर में बद्री-नाथ, दक्षिण में रामेश्वरम्, पूर्व में जगन्नाथ पुरी और पश्चिम में द्वारिका, भारत की सांस्कृतिक एकता और सखण्डता के स्पष्ट प्रमाण हैं। मोक्ष प्रदान करने वाली पवित्र

पुराणों, भगवद्गीता, पञ्चरात्र, माया, काशी, कांची और वनवासी आदि देश में विकसित हुई है। प्राचीन काल से हिन्दु, बौद्ध, जैन, पशुपत, शैव, शक्ति, वैष्णव, सिन्धु और कांची की पूजा मानते आए हैं। समूचे देश का सामाजिक व्यवस्था व्यवस्था एक-सा है, तथा बहुत वैदिक संस्कार और अनुष्ठान प्रचलित हैं, मंत्रों का शक्ति-योग, यज्ञ-व्यवस्था, दत्त-छात्र का विचार समाज का ही माना जाता है। आदि भारत में सामाजिक और महा-भारत की कथाएँ बड़े पैमाने पर सुनी जाती हैं। पुराने जमाने में समूचे देश के विद्वान् समाज को एक पुनः में फिर से नया रूप देने के लिये बहुत प्रयत्न में लगे हुए थे।

एकता से साधन—प्राचीन काल में सामाजिक की धर्मशास्त्रों बहुत धार्मिक थीं। विभिन्न प्रान्त उत्तम पर्वतों, गहरी नदियों, बड़े जंगलों, बौद्ध संन्यासियों द्वारा एक दूसरे से पृथक् थे। फिर भी उनमें अनुष्ठान सांस्कृतिक एकता प्रमाण करने में भी सफलता मिली। मुख्य भाग सिमा, इनमें पहल है—आदि-भूमि, उत्तर, तीर्थ-यात्रा और विद्यापीठों, तथा दूसरे हैं वैदिक-धर्मशास्त्र।

आदि-भूमि—प्राचीन काल में आदि-भूमि में बहुत बड़े बड़े राजा दक्षिण भारत में अपने जमीन और साम्रज्य स्थापित किए। अशोक और मौर्यपुराणों में इनमें दक्षिण की अनेक जातियों की बातें सम्मिलित का पाठ पढ़ाया। सब प्रान्तों में धर्मशास्त्रों की स्थापना करने वाले धर्मशास्त्रों ने सामाजिक एकता को बढ़ाया। कर्णाटुमाटी में नितरी की प्रसिद्धि की प्रकाशित करने के लिए हरिद्वार जाने वाले दक्षिण भारतवासियों और नंगा का जल रामेश्वरम् के नज्द में बहाने वाले उत्तर भारत वालों के परस्परिक सम्पर्क से एकता का गुण होना स्वाभाविक ही था। संस्कृत के विद्वानों और धर्म-सुधारकों ने भी इस प्रवृत्ति में सहयोग दिया। केवल के भी संस्कारों ने हिमालय तक अपना प्रचार किया, महाभूमि चैतन्य ने बंगाल से गुदावन तक समूचे भारत की कृष्ण-भक्ति की पवित्र प्रवृत्ति को साक्षात्कृत किया। पुराने जमाने में बड़े विश्वविद्यालय तीर्थ-स्वातंत्र्य और राजधानियों में होते थे। महाभारत, बभारत, नालन्दा और उज्जयिनी इसी प्रकार के विद्याकेन्द्र थे। भारत के विभिन्न प्रदेशों में विद्यापीठों का स्वातंत्र्य पर शिक्षा प्राप्त करने के लिए जाते थे। इन्होंने भी एक संस्कृति के विकास में सहायता दी। आदि-भूमि, माधु-भूमि इन दिनों विभिन्न प्रान्तों में सम्मान स्थापित करते हुए, सामाजिक जगत के विविध वर्गों को धार्मिक-साहित्यिक एकता के सूत्र में जोड़े रहे थे।

विजय—हिन्दु इस कार्य को बल-पूर्वक करने वाले महात्माओं की और साहसी राजा थे। प्राचीन काल में राजाओं की इच्छा विभिन्न करने चक्रवर्ती सम्राट् बनने की रहती थी। प्रान्तीय राजा दूसरे राज्यों को जीतकर एकजुट सम्राट्, सार्वभौम और राजाधिपति आदि उपाधियाँ धारण करते थे। कौटिल्य के कथनानुसार चक्रवर्ती का साम्राज्य हिमालय से समुद्र तक फैला होना चाहिए। इसी प्रकार के चक्रवर्ती राज्यों से विमान भूतल एक सामन्त-सूत्र के नीचे आ जाते और राज्य-

प्रकृति सांस्कृतिक एकता के प्रसार ने महाकाया करती थी। चन्द्रगुप्त, अशोक तथा समुद्रगुप्त के समय राजनीतिक एकता ने इस प्रवृत्ति को धुँढ़ किया।

सांस्कृतिक और राजनीतिक इतिहास—प्रारम्भ और मध्य युग में राजनीतिक एकता बहुत बड़े काम तक रही। चौथी सदी ई० पू० में समोक्त तथा चौथी सदी ई० में समुद्रगुप्त के समय भारत कुछ मात्र के लिए एक-छत्र शासन के नीचे रहा, मध्य युग में अजातशत्रु (१२६५-१३१२ ई०) और बीरब्रह्म (१६२६-१७०३ ई०) ने समूचे भारत को राजनीतिक दृष्टि में एक किया। वेद-सारे समय गद्दी छोटे-छोटे राजा राज्य करते रहे। किन्तु राजनीतिक एकता के म उद्भव हुए भी सारे समय में सांस्कृतिक एकता बनी रही। भारत का राजनीतिक इतिहास विभिन्न राज्यों के उपासक-पतन, उन्नत-पतन-पुनर् उन्नति और संघर्षों की शृंखला कहलाता है। किन्तु सांस्कृतिक इतिहास हमारी चालि बारा बने दर्शन, कला तथा मान-विज्ञान के क्षेत्र में भी कई महात्वपूर्ण प्रगति की समोर-दृष्टि बनाता है। राजनीतिक इतिहास के नामक दर-सहार और भार-काट करने वाले राजा और सेनानी हैं, किन्तु सांस्कृतिक इतिहास के निर्माता संसार को चालि और वेद का सम्बन्ध-देत वाले महात्मा बुद्ध और महावीर, रामानन्द और कबीर जैसे साधु-मन, चक्रवर्तियों जैसे दार्शनिक, जगन्निवास, गुरु, तुलसी जैसे समस्त महापुरुष हैं।

भारत का सांस्कृतिक इतिहास राजनीतिक इतिहास के आधार पर प्रचार रूप में निम्न युगों में बाँटा जाता है :—

प्रागैतिहासिक युग—भारत में मानव के आदिमाली ने वैदिक युग तक के काल को प्रागैतिहासिक कहा जाता है। इस काल पर प्रकाश डालने वाली कोई लिखित सामग्री या दस्त नहीं है। यह भारतीय सभ्यता का उपा काल है, इसके बाद का एकमात्र साधन उस युग के मानव द्वारा छोड़े छोड़ार-हथियार तथा अन्य वस्तुएँ हैं, जिनसे यह ज्ञात होता है कि इनने कर्न-कर्न, किस प्रकार अपनी बुद्धि के प्रयोग से नये आधिष्ठात किये, अपनी चारों ओर को परिवर्तित कर निजय पानी शुरू की, अपनी आजीविका प्राप्त करने तथा रक्षा की दृष्टि में उनसे विभिन्न उपादानों से छोड़ार और हथियार बनाये। इस दृष्टि में आदिम मानव की प्रगति को बार-बार व्यवस्थाओं में बाँटा जा सकता है : पहली व्यवस्था में वह तपस् के हथियारों का प्रयोग करता था। इसके बाद उसके पहले वाले और फिर काल के हथियार बनाये शुरू किये। अग में छोड़े के हथियारों का निर्माण और व्यवहार होने लगा। इन चार युगों को क्रमशः पथान, लक्ष, कौम और गौह युग कहते हैं। पथान-युग की दो बड़े आधिष्ठातों में बाँटा जाता है—पुराणकाल और नवोदय काल। पुराण काल मानव-सभ्यता की पहली दशा थी, इसमें वह सामान्य तपस् की हथियारों या छोड़ारों के रूप में भरता था। इस समय उनका साधारण चन्द्र-मूल, जननी-कल और शिखर ने प्राप्त सामग्री थी, उसे हथि का मान नहीं था। पुराण काल के अनेक व्यवस्था, बिन्दोरी तपस् के बहुत-से हथियार नर्मदा, गोदावरी की बाँटियों में तथा दक्षिण के तटों में पाए गए

है। राष्ट्रीयता का युग में नैसर्गिक जाति सभी तक इस अवस्था में रहती है। दास्य-युग की दूसरी दशा नवोदय काल थी। वह उस समय प्रारम्भ हुई जब मनुष्य ने पत्थर को चित्रकार, धारदार और चिकने इतिहास बनाने शुरू किए। इसी समय कुर्मि, मिट्टी के बर्तन बनाने तथा पशु पालने की कलाओं का आविष्कार हुआ। भारत में इस युग का प्रमाणित करने वाले वर्तमान मेषाण आदि जातियों के पूर्वज थे। नवोदय काल के बाद ताक-बुग का आविर्भाव हुआ। भारत में इस युग के सबसे अधिक अवशेष मध्यप्रान्त में मिले हैं। काजपुर, फतहगढ़, मथुरा, मैसपुरी से भी कुछ उपकरण मिले हैं। इसके बाद कर्मि का युग आया, जो कि से पाँच हजार वर्ष पूर्व सिन्ध और गैलाब में इसकी शुरुआत शुरू हुई। इस सभ्यता के सबसे अधिक अवशेष मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा में मिले हैं।

प्रागैतिहासिक युग में भारत में विविध जातियों के समागम से भारतीय संस्कृति का सुमंगल हुआ और वह विभिन्न नस्लों से घनेक घन ग्रहण करके समृद्ध हुई। आज किने भारतीय संस्कृति कहा जाता है, वह यशवि आर्यों की प्रति है किन्तु उसमें आर्यतर जातियों का धन कम नहीं है। इसका ताना घाँव है, परन्तु बाना अत्यन्त। अपने धारस्थित काल में इसने बहुत-से महत्त्वपूर्ण तत्त्व मेषाण आदि जातियों के मूल पूर्वज निपादों या आर्यनों (Proto Aryans) में तथा भूमध्य-सागरिय (इरान) तत्त्वों में ग्रहण किए हैं। पान, कपास व ईश की खेती, केला, कारिपन, नींबू आदि फलों का तथा कुम्हड़ा, बेगन आदि फल-आवियों का उत्पादन, सामाजिक जीवन में पान-मुषारी का व्यवहार, धार्मिक कर्म-काण्ड में विन्दु-हस्तों आदि का प्रयोग, भाषा बोधन और पुनर्जन के विचार, मेषाण आदि जातियों तथा वस्त्रों का बुनना, बीत (कीड़ी) के खाद्य पर मेषाण, धान्य जाति की देन हैं। प्रतिभा-गुणन, भात-आँख की उपलब्धि, डमा, विष्णु, रामेश, हनुमान, स्कन्द आदि देवताओं की पूजा इतिहास प्रभाव का परिणाम है। अपने मूल में ही भारतीय संस्कृति प्रभाव रूप से धार्मिक (निपाद), इतिहास और आदि संस्कृतियों की विशेषता के संतम से समृद्ध हुई है।

वैदिक युग (६०० ई० पू० तक) — इस युग में आर्यों ने भारत के सभी भागों में अपने संस्कृति का प्रसार किया। आर्यतर जातियों की सभ्यता का पाठ पढ़ाया। इस काल में वैदिक संहिताओं, ब्राह्मणों, धारण्यों और उपनिषदों की रचना हुई। यह युग दो उपविभागों में बँटा है—पूर्व वैदिक युग और उत्तर वैदिक युग। भारतीय संस्कृति की दृष्टि में उत्तर वैदिक युग सबसे अधिक महत्त्व रखता है। इसी काल में प्रभाव हिन्दु-संस्थाओं तथा सिद्धान्तों का विकास हुआ। भारतीय संस्कृति के विकास में वैदिक आर्यों की विशेष देन महत्त्वपूर्ण और सामान्य की भावना, जाति-विचार का विकास, उपोत्सव-पद्धति, शर्मासम-व्यवस्था और नारियों की प्रतिष्ठा थी।

महाजनपद या प्राक्-बीदे युग (६००-३६६ ई० पू०) — भारतवर्ष सामाजिक

दृष्टि में उस समय १६ बड़े राज्यों (महाराजपदों) में बँटा हुआ था, इसे महाराजपद युग कहा जाता है। इस काल की सबसे महत्वपूर्ण सांस्कृतिक घटना है छठी शती ई० पू० में जैन धर्म के और बौद्ध धर्म के प्रबलक भगवान् महावीर और बुद्ध का आविर्भाव। इसी समय मगध के राजाओं ने साम्राज्य-निर्माण प्रारम्भ किया। इस युग की प्रधान विशेषताएँ बौद्ध तथा भूत-साहित्य और वेदों का निर्माण, भारतीय दर्शन और धार्मिक का जन्म है। इस समय नाटक-कला का भी आरम्भ हो चुका था। बौद्ध तथा जैन धर्मों ने अनेक प्रकार से भारतीय संस्कृति को समृद्ध किया। भगवान् बुद्ध के अनुयायियों का इस काल का श्रेय है कि उन्होंने परवर्ती युगों में भारतीय वास्तु, मूर्ति एवं चित्र-कला के विकास में बड़ा योग दिया, उनके द्वारा बनवाए गए मूर्तियाँ, भारत और अमरावती के स्तूप, अशोक के शिला-स्तम्भ, अजन्ता के चित्तिचित्र भारतीय कला के सर्वोत्तम नमूनों में से हैं। मूर्ति-पूजा का प्रसार, सभ-संरचना बौद्धिक स्वतन्त्रता, उत्पन्न नैतिक धारणा, लोक-साहित्य का विकास तथा विदेशों में—विशेषतया मध्य एशिया, चीन, जपान में—भारतीय संस्कृति का प्रसार उसी युग के लक्ष्य हैं। जैनो ने भारतीय संस्कृति में बहिष्कार की परम्परा बनायी, अपने शौर्यकर्तों की स्मृति में बनाए गए स्तूपों, मूर्तियों तथा तीरथों में भारतीय कला को समृद्ध किया। अस्मिता लोक-साधनों को विकसित एवं समृद्ध बनाने का बहुत बड़ा योग जैनो को है।

मौर्य मौर्य युग (३२६-२२१ ई० पू०) — यह सक्तिशाली साम्राज्य का युग था। इसमें मगध में पहले चन्द्रो और फिर मौर्यों का प्रतापी साम्राज्य स्थापित हुआ। ३२६ ई० पू० में सिकन्दर ने भारतवासियों पर हमला किया। पञ्जाब के गण राज्यों को हराकर उनका युवाकला किया। उसकी सेना हिमालय द्वार बँटी और विजय-विजय का व्यापक क्षेत्र के तट में आपस जोड़ना पड़ा। उसके जाने के बाद मगध में चन्द्रगुप्त मौर्य (३२५-२९० ई० पू०) ने मौर्यवंश स्थापित किया। इसके समय में विजय के सेनापति सेल्युकस ने भारत पर आक्रमण किया। चन्द्रगुप्त ने उसे पराजित कर हिन्दूकुश पर्वत तक अपनी राज्य-सीमा स्थापित की। उसने अन्तराधिकारियों में धर्म (२७५-२३० ई० पू०) उत्पन्न किया। वह भारत का सबसे बड़ा सम्राट् था, उसने मगध के इतिहास में भी उससे महत्वपूर्ण काम कीड़े नहीं हुए। वह दुनिया का सबसे बड़ा राजाओं में से है, जिन्होंने राज्य-सक्ति का उपयोग वैदिक-महत्त्व काव्याओं की पुति में नहीं किया, बड़ा बनने के लिए दूत की मदद नहीं किया, इस समय के और पर नहीं जाते; किन्तु विद्वत्-प्रेम, प्राणि-मान के प्रति तथा धर्म-समन्वय के प्रसार से निरासे उग में उसने धर्म-विजय की। उसके समय में धर्म का विदेशों में प्रचार होने लगा। मौर्य काल में भारतीय कलाओं का गूढ़त्व इतिहास मिलने लगता है। इस युग की सबसे महत्वपूर्ण साहित्यिक कृति कीर्ति का 'धर्म-शास्त्र' है।

सातवाहन युग (२१० ई० पू०—१७६ ई० पू०) — मौर्य-वंश के बाद

में कोई ऐसा अन्तिमालो राज-वंश नहीं हुआ, जो भारत के अधिकांश भाग को अपने अधिकार में रख सकता। इसके बाद क्रमशः गुर्जर (लगभग १८५ ई० पू०—३२ ई० पू०), काण्व (३२ ई० पू०—२३ ई० पू०) और सातवाहन (१०० ई० पू०—२६५ ई० पू०) राज-वंशों ने शासन किया। इनमें से अन्तिम वंश सबसे प्रतापी और दीर्घ काल तक शासन करने वाला था, सातवाहनों के नाम से इस युग को सातवाहन युग कहा जाता है। इस काल में भारत पर कुषाणियों, शकी और कुषाणों के हमले हुए। कुषाणों का सबसे प्रसिद्ध राजा-वर्तिका (३८-१०० ई०) था, हमने जोड़ वंश स्वीकार करके शकी को माना। इसके प्रसार का पता किया। सांस्कृतिक रूप से यह काल कई दृष्टियों से बड़ा महत्वपूर्ण है। इसी युग में भारतीयों ने कहीं तक बाहर जाकर विदेशों में अपने उपनिवेश स्थापित करके वृहत्तर भारत का निर्माण प्रारम्भ किया। अफ़ग़ानिस्तान और चंग (चंग) में हिन्दू राज्य स्थापित हुए। चीन के साथ भारत का सम्बन्ध हुआ, मध्य एशिया तथा चीन में भारतीय संस्कृति फैली, रोम के साथ भारत का व्यापार बूढ़ बढ़ा। अन्तिम-अन्तिम पौराणिक हिन्दू धर्म तथा महाभारत में उल्लेख हुआ, व्यापक रूप से मूर्ति एवं जित-पूजा शुरू हुई। महाभारत और पुराणों में इस युग की स्मृति है। भाग्य एवं अवधारण इस युग के बड़े नाटककार एवं कवि हैं। बरक, मुद्रा, धर्मिणी, काल, नीलम और बादरामन इसी युग में हुए। प्राकृत साहित्य का उत्थान भी इसी युग में हुआ। मूर्ति-कला में पुनर्जागरण भारतीय लोगों के समाज में साधारण जीवन का उत्थान हुआ।

नाग-वाकाटक-गुप्त साम्राज्य (१७६ ई०—५४० ई०)—दूसरी शताब्दी के अन्तिम पुरी (अन्तिम कि० मिर्जापुर) के नाम वंश ने गंगा-जमुना-प्रदेश को कुषाणों से वापस में मुक्त किया। तीसरी शताब्दी के मध्य में लोगों की शक्ति उनके सामन्तों के अधीन (२८८ ई०—२८४ ई०) के पास चली गई, उनके बड़े घराने के समय २८४—३४५ ई०) वाकाटक-नाम्राज्य उत्पत्ति के सिद्ध पर पहुँच गया। चौथी ई० के पूर्वार्ध में गुप्त वंश स्थापित हुआ। इनके प्रतापी राजा समुद्रगुप्त ३४५—३८० ई०) ने अपने स्व-कीर्ण में वाकाटक-नाम्राज्य का ध्वस्त किया, एत के बड़े भाग को विजित करके प्रथम-प्राप्त किया। न केवल भारत के किन्तु इस के कुषाण वंशों तथा सिन्धु घाटि सब भारतीय लोगों के राजाओं ने उसे अपना अधिकार स्वीकार किया। इसके बाद समुद्रगुप्त द्वितीय विजयशक्ति में साम्राज्य धार्मिक आस्थावादी बनाया। कुमारगुप्त प्रथम ने ४० वर्ष (४१५—४५५ ई०) तक शासन किया। चौथी शताब्दी के मध्य में भारत पर हूणों के आक्रमण शुरू हो गए। समुद्रगुप्त (४५५-४६७ ई०) ने हूणों की 'हमनाती राज्य-स्थिति' को निरस्त, लेकिन छठी शताब्दी के शुरू में हूणों के जो अवर्धमान आक्रमण हुए, उनमें गुप्त साम्राज्य समाप्त हो गया।

गुप्त युग भारतीय संस्कृति और कला का स्वर्ण-युग कहलाता है। उस समय में वैदिक धर्म और मूर्ति धर्म, वैदिक न तो पहले किसी युग में हुई थी और

इसी समय में तैयार हुई। हिन्दू धर्म के महान् आचार्य कुमारिल, शंकर और रामानुज इसी समय हुए। संस्कृत के प्रसिद्ध नाटककार भवभूति इसी युग की विभूति हैं। दर्शन में चर्मगोति, दान्तरहित और शंकर के ग्रन्थ भारतीय विचार की ऊँची उड़ान को सूचित करते हैं। बृहत्तर भारत के कम्बुज, जम्पा, श्रीविजय (जावा-सुमात्रा) के राज्यों में भारतीय संस्कृति की बड़ी उत्पत्ति हुई। इसी समय बोरोबुद्धर (८वीं शती), धंकोर वाट (१२वीं शती) के जगत-धर्मिष्ठ मन्दिर बने, किन्तु पूर्व मध्य युग के उत्तरार्द्ध में सभी क्षेत्रों में उत्पत्ति के प्रवाह में सन्देहास्पदता लगी। उत्तर मध्य युग में इसके परिणाम स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होने लगते हैं। भारतीय उपनिषदों का प्रत्यक्ष ज्ञान है, जात-जाति के बन्धन कटोरे होने लगते हैं। दर्शन में नया और स्वतन्त्र विचार बन्द हो जाता है। प्रकाण्ड पण्डित भी पुराने ग्रंथों की टीकाओं और भाष्यों में ही अपनी प्रतिभा का उपायोग करने लगते हैं। ज्ञान-विज्ञान के सभी क्षेत्रों में नई उत्पत्ति बन्द हो जाती है।

मुसल-मराठा युग (१५२६-१७६१ ई०)—इस युग में १५२६ ई० से १७२० ई० तक मुसल भारत की प्रधान राजनैतिक शक्ति के और इसके बाद उसका स्थान मराठों ने ले लिया। इस समय इस्लाम और हिन्दू-धर्म का पारस्परिक सम्पर्क हुआ, भक्ति पर बल देने वाले और जाति-भेद का कण्ठन करने वाले अनेक धर्म-मुधारक सन्त हुए। मुस्लिम प्रभाव में बाल्य, विधवा, संन्यास आदि कलाम् बढ़ी समृद्ध हुई। प्रान्तीय मराठाओं की उत्पत्ति तथा उत्पत्ति इसी युग में हुई। यदि मुसलमान बंगाल की विजय न करते तो बंगला इतनी शीघ्र साहित्यिक भाषा नहीं बनती, राज-दरबार में संस्कृत का ही बोल-बाला रहता। मुर और तुलसी, रहीम और रसखान ने इस कार्य में हिन्दी-साहित्य की धीवृद्धि की। मराठी में पद्य के धार्मिकृत विधाओं के काल में राज्य-कार्य के लिए गद्य का विकास हुआ। मुसलानों ने यूरोपीय रण-कला, वास्तु, कन्नूक और तोपों का प्रयोग तुर्कों से सीखा और उसका भारत में प्रचार किया, वे भारत में कागज बनाने की कला लाये। बुद्ध-विचार, सैनिक-व्यवस्था और किलेबन्दी की इस समय विशेष उत्पत्ति हुई। उत्तर भारत की बेष-भूषा, रहन-सहन, खान-पान पर पर्याप्त मुस्लिम प्रभाव पड़ा। हिन्दी, बंगला, मराठी में संकटों पारसों, परसों, मुर्खों शन्दों की वृद्धि हुई।

उस युग में भारतीय शिल्पियों ने अपनी पुरानी विषयविकास में योग्यता बनाये रखी, "मुरत के कारीगरों द्वारा तैयार जहाज यूरोपियन लौहदले के, और काश्मिर के कारखानों में बनी बन्दूकें योरोपी बन्दूकों से अधिक उत्तम थीं", किन्तु सांस्कृतिक दृष्टि से इस समय की सबसे बड़ी विशेषता विज्ञान तथा जाति का अभाव था। भारतीय शिल्पी जहाँ तक पहुँच चुके थे, उससे आगे बढ़ने की इच्छा उनमें नहीं रही। समर-कला में यूरोपियन उत्पत्ति कर रहे थे, किन्तु उस समय किसी भारतीय ने उससे इस विज्ञान की सीखने की उत्कण्ठा या अभिरूचि नहीं दिखाई। १३-१८वीं शती का मुसलमान महाराष्ट्र, पंजाब और बुन्देलखण्ड में केवल राजनैतिक क्षेत्र में हुआ।

सांस्कृतिक क्षेत्र में हम गहरी सोह-निद्रा में पड़ गए, हमारे ज्ञान-नेत्र बन्द हो गए, हम प्राचीन मूर्धकृत पुरानी जीक पर चढ़ते रहे। चारों ओर की दुनिया और उसकी उन्नति की ओर से बिलकूल गतकों नहीं रहे। भारत के संघर्षों के अधीन होने का एक बड़ा कारण हमारे सांस्कृतिक जीवन की मन्दता थी।

ब्रिटिश युग—१८वीं शती के उत्तरार्द्ध में भारत में ब्रिटिश सत्ता की स्थापना हुई और १९४७ तक भारत संघर्षों के अधीन रहा। राजनैतिक दृष्टि से परतन्त्र होते हुए भी सांस्कृतिक दृष्टि से इस काल का असाधारण महत्त्व है। ब्रिटिश सत्ता में भारत का बाहरी दुनिया विशेषतः पश्चिमी जगत् के साथ सम्बन्ध स्थापित हुआ, समूचे देश में एक शासन-व्यवस्था, तथा समान शिक्षा-व्यवस्था प्रचलित होने से राष्ट्रीयता व एकता की भावना उत्पन्न हुई, पश्चिमी विचार-धारा और ज्ञान से परिचित होने पर धर्म एवं समाज-सुधार और देशी-दार के आन्दोलन प्रबल हुए। इस समय भारत ने कई शक्तियों की कुम्भकनी सोह-निद्रा का परित्याग किया। धार्मिक, राजनैतिक, सामाजिक, साहित्यिक, बौद्धिक, वैज्ञानिक और सांख्यिक क्षेत्रों में असाधारण जागरण और उन्नति हुई। सारे भारत में एक नई भावना और नई केतना का उदय हुआ, भारत ने मध्य युग से आधुनिक युग में प्रवेश किया। १९४७ में स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद से हमारे देश में आधुनिक युग के परिवर्तन अधिक तीव्र गति के साथ होने लगे हैं।

अगले अध्यायों में काल-क्रम से विभिन्न युगों के सांस्कृतिक इतिहास की विवेचना की जाएगी।

प्रागैतिहासिक युग

(क) संस्कृतियों का संगम

प्रागैतिहासिक युग में भारतीय संस्कृति का सुवर्णकाल हुआ और उत्तर-पश्चिमों भारत में एक उन्नत सभ्यता का विकास हुआ, जिसके सबसे अधिक सम्बन्ध मोहें-जोदड़ो और हड़प्पा से मिलते हैं। भारतीय संस्कृति का खोजगोत्री प्रायःतर और प्रायः जातियों के पारस्परिक सम्मान और सम्मिश्रण से हुआ। आज जिसे भारतीय संस्कृति कहा जाता है उसके निर्माण में यद्यपि प्रायों का प्रधान भाग है, किन्तु प्रायोंतर जातियों ने उसके निर्माण में जो भाग लिया है, वह भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। इन दोनों के सुवर्ण सम्पर्क से प्रागैतिहासिक युग में भारतीय संस्कृति की वह धारा प्रादुर्भूत हुई, जिसमें ऐतिहासिक युग में अन्य चारों मिलती रही। इस सम्बन्ध में पहले विभिन्न संस्कृतियों के संगम का और बाद में किन्तु-संस्कृति का वर्णन किया जाएगा।

जिस प्रकार संगीतों से निकलने वाली गायीरची गहराई में जाह्नवी, गन्दा-किनी, घातलान्दा आदि अनेक नदियों के जल से परिपुष्ट होकर बना नदी बहताती है और मैदान में यमुना, गोमती, गंडक और सोन आदि से मिलकर भी बसा ही रहती है, उसी प्रकार प्रागैतिहासिक काल में नेग्रिटो, आग्नेय, द्रविड़ और प्रायः आदि अनेक जातियों की विशिष्ट सांस्कृतिक धाराओं से समृद्ध होने वाली और ऐतिहासिक युग में बल, शक्ति, रूप, धृति, युक्त तथा क्रिदित सम्पर्क से पोषण पाने वाली संस्कृति भी भारतीय ही रही है। इसने अपने आरम्भिक युग में विभिन्न जातियों का सम्बन्ध से अनेक तरह प्रणुन किया है, उन्हें भली-भाँति समझने के लिए भारत की प्रधान नस्लों का परिचय आवश्यक है।

भारत की नस्लें—पहले यह समझा जाता था कि शक्ति इस देश के मूल निवासी थे और आर्य लोग बाहर से आए। नई वैज्ञानिक संवेष्टा के अनुसार भारत में बसने वाली सभी जातियाँ मूलतः बाहर से आई हैं। भारत की वर्तमान जनता की मुख्य-शास्त्रियों में मुख्य निरीक्षण के बाद छः प्रधान नस्लों में बाँटा है :—(१) नेग्रिटो, (२) आग्नेय (निपाद), (३) भगील (किरत), (४) शुभ्र आग्नेय (द्रविड़), (५) पश्चिमी (गोल तिर वाले), और (६) नॉडिक (आर्य)।

(१) नेग्रिटो (Negrito)—नीग्रो-वंश की वह जाति है जिसका कद बहुत नन्दा होता है। इनकी विशेषताएँ हैं गहरा काला रंग, बहुत छोटा कद, मोटे होंठ

तथा जलो जल । यह भारत में बसने वाली प्राचीनतम जाति है और सब इसके सम्बन्ध में प्रमाण है । यह प्रधान रूप से समुद्रमाल टापू में बनी हुई है और इसके कुछ अंग भारत के दक्षिणी भाग—कोचीन और ट्रावन्कोर के पर्वतों को छोड़ और तमिल जातियों में, अरमास के अंगमी नाथों में तथा राजस्थान (विहार) की पहाड़ियों में बसने वाली जातियों में पाये जाते हैं । इन इसके बाद आने वाली जातियों में विशेषकर धाम्नेय जाति में स्पष्ट कर दिया ।

(२) धाम्नेय (Austro)—मैसिरो नस्ल के बाद यह जाति भी पश्चिम में भारत में आई । इसे भारतीय कहने का कारण यह है कि इस समय यह जाति प्रथम रूप से भारत के दक्षिण-पूर्व (धाम्नेय) कोण में आई जाती है । भारत में इस जाति से सम्बन्ध विभिन्न जातियों को देने वाली जातियों सम्बन्ध, गुजरा, शबर आदि अन्तर्गत रूप में उड़ीसा के पास आक्रमण में रहती है । इनमें कोई भी कहा जाता है । भारत में इनमें संख्या बहुत कम है, किन्तु इस देश में बाहर इस नस्ल के लोग बर्मा, हिन्द-चीन, मलाया, पूर्वी द्वीप-समूह (सुमात्रा-द्वीप) तथा प्रशान्त महासागर के टापूओं में बहुत दूर तक फैले हैं । ऐसा समझा जाता है कि प्रागैतिहासिक युग में इनकी भी जाति भारत में आई यह इस समय विद्वान धाम्नेय जाति का पूर्व रूप था, अतएव उसे प्रोतो-धाम्नेय (Proto Australoid) का नाम दिया गया है । भारत में ही इसे जातीय विशेषताएँ प्राप्त हुई हैं और यही से इसकी एक शाखा दक्षिण-पूर्व (धाम्नेय) कोण की ओर चली गई । बाद धाम्नेय जाति (Proto Australoid) की अन्तर्गत के सम्बन्ध में ठीक ज्ञान नहीं है, ऐसा प्रतीत होता है कि ये भी पाटे कद और बड़ी नाक वाले थे । आज भी भारत के अधिकांश भाग में निम्न जातियों के रूप में वे विद्यमान हैं । प्राचीन काल में आविर्भाव इनकी का नाम था ।

(३) भूमध्य-सागरीय (इविर) —पहले जिस जाति को इविर कहा जाता था, अब उसे भूमध्य-सागरीय (Mediterranean) का नाम दिया गया है । इसमें तीन उपभेद माने जाते हैं : (क) पुरा भूमध्य-सागरीय—इसका रंग और बनावट कद इनकी विशेषताएँ हैं । ये प्रधान रूप से अतलांतिक, लायबल तथा अल्फ-भासी प्रदेशों में हैं । (ख) अन्तर्गत भूमध्य-सागरीय—ये पुरा-भूमध्य-सागरीयों की अतीत अधिक ऊँच और नाक रंग के हैं । पंजाब और गंगा की उपखेती पारों में मिलते हैं । धाम्नेय से पहले उत्तर भारत में नहीं जाति बसती थी, ऐसा समझा जाता है । (ग) प्राचीन भूमध्य-सागरीय—इसमें नाक लम्बी और रंग अधिक गहरा होता है, यह पंजाब, सिंध, राजपूताना और पश्चिमी उत्तर प्रदेश में पाई जाती है । ये सभी जातियाँ लम्बे सिर वाली हैं ।

(४) पश्चिमी वृत्त कपाल जाति—जन्म ऐशियायी पर्वत-मालाओं में हुए रूप से विकसित इस नस्ल के आल्पाइनों, डोनारी और इन्डोनिश नामक तीन गैर भारत में पाए जाते हैं । पहला फेर गुजरात में, दूसरा बंगाल, उड़ीसा, आदिवासी,

कन्नड़ और ताम्रिल प्रदेशों में तथा तीसरा प्रधान रूप से बंबई के पारसियों में मिलता है ।

(४) नाडिक (घाव) — घाव प्रायाः भारतीय नाडिक (Nadik) जाति के पास चिह्न है—गोरा या गेहूँ का रंग, ऊँचा कद, उमरा हुआ माथा, लम्बी नुकीली नाक और भरपूर दाढ़ी-मुँह । इसके समूह में उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रांत, विशेषतः सिन्धु नदी की उपरती घाटी तथा म्वात, पंजाब, कुमाय, त्रिचाल नदियों की पारियों और हिन्दुकुश पर्वत के पश्चिम में मिलते हैं । पञ्जाब, राजपूताना और म्वा की उपरती घाटी में भी यह जाति अन्य जातियों के साथ सम्मिश्रित रूप में पाई जाती है । महाराष्ट्र के चितपावन ब्राह्मणों में भी इसके लक्षण मिलते हैं । प्राचीन साहित्य में यह ज्ञात होता है कि घावें मूलतः बालों तथा नीली आँखों वाले थे; किन्तु भारतीय जनजातों के प्रभाव से उनके इस रूप में परिवर्तन आ गया है । भारतीय संस्कृति के निर्माण में घावों का बहुत महत्वपूर्ण योग है । इन्होंने भारत को न केवल घावें नामापूर्व प्रधान की प्रसिद्धि विभिन्न संस्कृतियों का समन्वय करने यही भारतीय संस्कृति की आधार-शिला भी रखी ।

(५) मंगोल (किरात) — इस समूह की मुख्य पहचान है—पीतवर्ण, सफ़ा चेहरा, बालों की हड्डियों उमरी हुई, दाढ़ी-मुँह नहीं के बराबर तथा माथ की बड़े कुछ चाटी । भारत में इसके दो भेद—लम्बे सिर वाले पुरा किरात और मोटा सिर वाले तिब्बत—किरात—पाए जाते हैं । लम्बे सिर वाले सबसे पुराने किरात हैं, वे बांग्लादेश में तथा भारत और बर्मा के सीमा-प्रदेश में रहते हैं । मोटा सिर वाले इनमें विकसित समझे जाते हैं । ये बटमाय की पहाड़ियों तथा बर्मों के निवासी हैं । तिब्बत—किरात देश में इस जाति के भेदक चिह्न अधिक स्पष्ट रूप में मिलते हैं । ये तिब्बत और भूटान के निवासी हैं और तिब्बत से काफी आधुनिक समय में भारत आये हैं ।

भारतीय जनता प्रधान रूप से इन छः समूहों के सम्मिश्रण से बनी है, इन सभी ने भारतीय संस्कृति को समृद्ध बनाने में सहयोग दिया है । प्रागैतिहासिक काल में मेसिटो, कामेट, इतिह और घावें जातियों ने इस सांस्कृतिक महापथ में अपनी साहसियों दी थी और इन सभी के समन्वित पुष्प प्रभाव से एक भारतीय संस्कृति का निर्माण हुआ था । इसके विभिन्न जातियों से घावें घट-मिलकर इस प्रकार एक ही रूप हैं कि उनका पूर्ण तथा निष्कल रूप से विश्लेषण करना सर्वथा असंभव है । भाषा-शास्त्र तथा पुराणत्व आदि की सहायता से इस पर जो प्रचुर प्रकाश पड़ा है वह इस दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण और मनोहर है कि भारतीय संस्कृति के निर्माण में किन-किन जातियों ने क्या-क्या सहयोग दिया है । यही प्रागैतिहासिक युग में भारतीय संस्कृति के मूलकाल में माना जायगा द्वारा प्रदत्त बंधों का ही कारण-क्रम से वर्णन किया जायगा ।

मेसिटो समूह की सांस्कृतिक देन—मेसिटो भारत-भूमि पर पदार्पण करने वाली प्रथम जनता थी; किन्तु वह भारत की परवर्ती संस्कृति पर विशेष स्थायी प्रभाव न

जान सकती, क्योंकि यह सम्मता को धार्मिक धर्मशास्त्र-पुराणों में दखा में थी। इन बाद में घाने वाली अधिक उन्नत जातियों ने क्रिष्ट और निर्वात कर दिया। नेष्टिरो पत्थर और हड्डी के अनेक हथियारों का तथा तौर-तमान का धर्मीय करने थे। जंगलों में फल-पुल के मन्त्र और आगवरी तथा मन्त्रियों के चिकान से अपना निर्वाह करते थे। खेती, मिट्टी के बर्तन बनाने और मकान-निर्माण की कलाओं से वे अनभिज्ञ थे। अश्वेमान के धार्मिक निवासी घाने तक घराब नहीं उपका सकते। औषधियाँ और मन्त्रान घाने की कला से अपरिचित होते के कारण नेष्टिरो युवाओं में रहते थे। नेष्टिरो यज्ञीका से बन्ध होते हुए भारत में घाने और यहाँ से मन्त्रा, हिन्द-डोष-समूह होते हुए नृगिनी तथा बने गए। इस समय भारत में इनकी सबसे बड़ी बस्ती अश्वमान टागु में थी है। सम्मता की धार्मिक दशा में होने पर भी इनमें अद्भुत साहस का और उर्मी के भरोसे वे अपनी छोटी-छोटी विश्वियों द्वारा यज्ञीका से नृगिनी तक फैल गए थे। भारतीय जातियों में नेष्टिरो-वर्ग बहुत समय तक बसा रहा। कुछ विश्व-कला पर, विशेषतः अश्वन्ता के भित्ति-चित्रों में, इनका कुछ प्रभाव पाया जाता है। सम्मान-प्राप्ति के लिए तथा मृतकों की सद्गति के लिए बट-बट की पूजा हिन्दू धर्म की इस जाति की एक विशेष देन है।

धार्मिक जाति की देन—नेष्टिरो के बाद घाने वाली धार्मिक जाति की भारतीय जनता का प्रधान मूल धर्म माना जाता है। वे अपने साथ नवाग्रमकालीन संस्कृति को लाये। इन्होंने पत्थरों को घिसकर उनसे धारदार कीलार और हथियार बनाये, कुदास से जमीन को खोदकर वेती धुल को, कुम्हार का चाक भी उन्हीं के समय से भारत में चलना शुरू हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि उसी भारत के समूचे विशाल मैदान में वे बसे हुए थे, क्योंकि नवाग्रमकालीन अवशेष उत्तरी मैदान की प्रायः सभी नदियों की घाटियों में पाए गए हैं। बाद में घाने वाली जातियों द्वारा ये लोग हिमालय के दुर्गम प्रदेशों और विन्ध्य पर्वतमाला के गहन वनों में छदे दिए गए। घासीन घाटी की बुरुगारकी में, मध्य हिमालय की कनौरी में तथा सैपाल की दुर्गम घाटियों में इनकी बस्तियों के कुछ अवशेष मिलते हैं। किन्तु इस समय धार्मिक भाषा-भाषी सन्ध्याल मुन्हा, भूमिज किरहार, असुट, अमर, कोरवा आदि जातियाँ विन्ध्य पर्वत के पूर्वी भाग में राजमहल की पहाड़ियों में बसी हुई हैं तथा मध्य भारत के कुरुकु, उदोसा के चुभास, शबर तथा गदब भी धार्मिक जातियों का प्रयोग करते हैं। पहले यह कहा जा चुका है कि यह जाति भारत से निकलकर समूचे दक्षिणपूर्वी एशिया, पूर्वी डोष-समूह तथा प्रशान्त महासागर के द्वीपों में फैली थी। ऐसा प्रतीत होता है कि कई बार ये जातियाँ इन प्रदेशों से लौटकर भारत में बसी हैं और घाने साथ उन-उन प्रदेशों में गोपी नई बाँटे तथा उन प्रदेशों की अन्य विशेषताएँ इस देश में बाँटी हैं। उदाहरणार्थ भारत में तारियल के प्रवेश का भय प्रशान्त महासागर के टागुओं से घाने वाली इस जाति की एक शाखा को दिया जाता है। भौतिक और धार्मिक क्षेत्र में धार्मिक जाति ने अनेक देनों से हमारी संस्कृति को समृद्ध किया है।

भौतिक क्षेत्र में इसकी प्रधान देन स.के.वम कुदान द्वारा होती करना ही है। अविना भाषा-विज्ञान के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि प्रात की चेतनी, केला (कदली), नारियल, बैंगन, पाल (ताम्बूल), तोरी, मोड़, जामुन, कपास के उत्पादन का क्षेत्र भी इन्हीं को है। इन्हीं ने सम्भवतः सबसे पहले सूती कपड़ा बनाया था, हाथी (मूँ) की पालतू बनाया। संस्कृत भाषा को बाण, लघु (साड़ी), आत्मनि (सिम्बल) ककवाटु (मुर्गा), भातंग, गज आदि शब्द प्रदान किए। गले से खाँड़ बनाना भी इन्हीं का आविष्कार माना जाता है। पान-सुपारा का व्यवहार, विवाह आदि संस्कारों में सिन्दूर और हल्दी का प्रयोग भी इनसे ग्रहण किया बताया जाता है।

धार्मिक क्षेत्र में पुनर्जन्म का विचार ब्रह्माण्ड तथा सृष्ट्युत्पत्ति-सम्बन्धी अनेक दत्त-कथार, कच्छप अवतार की कल्पना, पाषाण-युग में देवता की जावता, नाग, मगर और बन्दर आदि विभिन्न प्राणियों की पूजा, मक्याभक्ष्य, स्पृष्ट्यास्पृश्य तथा वर्जन (Taboo) का विचार, बुरी नज़र की 'निहावर' द्वारा रक्षा आदि अनेक बातें आग्नेय प्रभाव का परिणाम हैं। चन्द्रमा की कला के अनुसार तिथियों की गणना तथा इनके अनुसार धार्मिक पर्वों का मनाया भी सम्भवतः निपादों से लिया गया है। संस्कृत में पुण्यमा और अनावस्था के लिए 'रक्षा' और 'कुल' शब्द प्रज्ञान गृह्यांगर की आग्नेय भाषा के शब्द हैं। मल्लार्थ नलकों में मल्लर (कुलिका) का मूल भी इसी प्रकार का बताया जाता है। गृह्यभाष्य और पुराणों में पाताल-लोक के अवि-पति वानुकि आदि नामों और अग्ने से सृष्टि की उत्पत्ति, मत्स्यमन्त्र और वसिष्ठ आदि के सम्बन्ध में जो अत्यन्त मनोरंजक कथार हैं, उनका-आदि अनेक भी इस जाति का पुराण है। गंगा हिन्दुओं की सबसे पवित्र नदी है। उसमें प्रवृत्ता किसी अन्य नदी में मृत व्यक्ति की अस्थियों का प्रवाह आवश्यक धार्मिक कर्तव्य समझा जाता है। किन्तु विद्वानों का मत है कि नदियों की पूजा और अवि-विषयों से दोनो विचार संघात आदि जातियों के मिश्रण हैं। दामोदर नदी में अस्थि डाले बिना अग्नीषोमी की प्रति नहीं होती। सोमों का महत्त्व और नदियों की पूजा वैदिक साहित्य में तो नहीं मिलती नहीं। स्पष्टतः ये आर्षेय जातियों से ग्रहण की गई हैं।

ब्रह्म जाति की देन—आग्नेय जाति के बाद हमारे देश में ब्रह्म जाति का आगमन हुआ। ब्रह्म अपने पूर्वजातियों की अनेका कहीं अधिक गुणसुल और माधुर सम्पत्ता से सम्पन्न थे। इस समय ब्रह्म-भाषा-भाषी केवल दक्षिण भारत में पाये

१. सिन्दूर का न कोई वैदिक नाम है और न ही सिन्दूर-दान का कोई वैदिक भाग। विवाह में सिन्दूर-दान की विधि में जो मंत्र "सो सिन्धोः कर्णानि धारयते" (श्रु. = ७, ४६, ४३) पाया जाता है उसमें सिन्दूर शब्द से केवल व्यञ्जनात्मक है। सिन्दूर के नाम नामगर्भ, नामान्तर जाति जो शब्द की भाषा की कल्पा सिद्ध करते हैं। कुछ विद्वानों का नहीं एक कहना है कि गंगा शब्द भी सम्भवतः आग्नेय भाषा का है, अर्थात् मूल अग्नेय नदी-नाम का। हिन्दोमी का क्षेत्र (सीरोग) दक्षिणी नदी का क्षेत्र (प्रायिक) आदि शब्द का कल्पना को पुष्ट करते हैं।

जाते हैं, किन्तु प्राचीन काल में उत्तरी भारत में भी इनको खला होने के इसके प्रमाण मिलते हैं। आजकल यह माना जाता है कि इबिड भूमध्य सागर के प्रदेश में भारत में आए। लघु एशिया की एक प्राक् हिन्दयूरोपीय भूमध्य सागरीय विभिन्न जाति अपने को विभिन्नो कहती थी। हिराडोटस के मतानुसार वह वहाँ कीट टापू से आई थी। कीट में यूनानियों से पहले के निवासियों को समिलाई कहा जाता था। यह शब्द लमिल, इमिल या इबिड से सम्बन्धित बताया जाता है। अतः यह समझा जाता है कि इबिड मूलतः कीट से आए और वे अपने साथ उस प्रदेश के धार्मिक विचार और विश्वास भी लाए। भारतीय संस्कृति पर इनका गहरा प्रभाव पड़ा।

धार्मिक क्षेत्र में इबिड-प्रभाव का परिमाण नए ईग की उपासना-पद्धति का श्रीगणेश तथा नए देवताओं का आगमन था। वैदिक धर्म यह-प्रधान था। उसमें इन्द्रादि देवताओं के उद्देश से संज्ञाचरण पूर्वक धी, दूध आदि की आहुति दी जाती थी। देवताओं की उपासना गहरी द्वारा होती थी। इबिड-प्रभाव से देवताओं की पूजा अर्घ्यात् पापों की भूति या किसी प्रकार के देवता के प्रतीक पर पशु-पुष्प आदि चढ़ाना, उसे सिन्दूर, चन्दन लगाया, उसके सम्मुख पुन-वीर बसाना, पटा-परिमाण बसाना, संगीत-नृत्य का आयोजन करना, भोग लगाना, प्रसाद देना प्रचलित हुआ। ये सब अनुष्ठान सर्वथा अर्धवैदिक हैं। पूजा शब्द भी सम्भवतः इबिड मूल का है। जिसका अर्थ है पुन कर्म अर्घ्यात् फल चढ़ाना (पु=पुन, च=करना)।

न केवल इस अर्धवैदिक पूजा-विधि का ही प्रचलन हुआ अपितु इसके साथ-साथ शिव, उमा, विष्णु, श्रीकृष्ण, कुन्वर, इनुमान, मरिच, शीतला आदि नवीन देवता पूजे जाने लगे। इन्होंने इन्द्र, अग्नि, वरुण, पूषा आदि वैदिक देवताओं का स्थान ले लिया। दश के राज में शिव नहीं कुलाए गए, इसलिए वह राज शिव के भक्त-प्रेत आदि पणों के द्वारा प्वस्त हो गया। इस पौराणिक आस्थान से स्पष्ट है कि शिव बहुत समय तक आर्यों द्वारा पूजे जाने वाले देवताओं की पंक्ति में सम्मिलित नहीं हुए थे। वे आर्मेनियन शिव आदिनों द्वारा पूजे जाते थे। शिव की लिंग रूप में पूजा की पद्धति के अर्धवैदिक होने का यही प्रमाण पर्याप्त है कि प्रायः सभी पुराणों में इस बात का उल्लेख है कि ऋषियों ने अपनी गलियों के हठ से विवश होकर इसे स्वीकार किया। वे ऋषि-भ्रातृपुत्र प्रायः धार्मेतर कुत्सेल्यन होने के कारण अपने पितृकुल के आचार को छोड़ने में असमर्थ थीं। मातृ-संस्कृति की पूजा भी इबिडों की देन है। उनके मूल स्थान ईबियन सागर के टापुओं में, यूनान और लघु एशिया में 'मा' नामक मातृ-देवता की पूजा बहुत अधिक प्रचलित थी। 'उमा' का इसी 'मा' से सम्बन्ध बताया जाता है। उमा के दूसरे नाम 'दुर्गा' की तुलना विभिन्न जाति की चक्र देवी से की गई है। विष्णु माथिक रूप में वैदिक है, लेकिन उसका वर्तमान स्वरूप अर्धवैदिक है। विष्ठावान् वैदिक भृगु ने विष्णु के वक्षस्थल पर चरमापात किया था। लेकिन इस प्रकार लाञ्छित होकर भी विष्णु हमारे देश में पूजित हुए। श्री भी अंततः वैदिक

है किन्तु उसके सब अस्त्री आदि रूप सर्वथा धर्मोपदेशक हैं। कृष्ण केर में इन्द्रविरोधी है। लेकिन पैंलि ताकण के इस इविङ्ग देवता (कण्णन) को विष्णु के साथ एक कर दिया गया। कुमार (स्कन्द), मणोज्ञ, हनुमान, सर्वथा धर्मोपदेशक देवता हैं। हिन्दू-धर्म का आधार निम्न धीरे-धीरे आगम माने जाते हैं। आगमों में तान्त्रिक मत और योग का प्रतिपादन है। ये दोनों बाहर से धीरे-धीरे वैदिक मत के पास आ जाते हुए, धर्म-धर्म-इन्होंने वैदिक मत का रूपान्तर कर दिया।

भारतीय संस्कृति पर मगोनों (किरातों) का अधिक प्रभाव नहीं पड़ा क्योंकि उनके आगमन तक भारतीय संस्कृति का स्वरूप बहुत कुछ निश्चित हो गया था। स्वयं ये जातिमा बहुत पिछड़ी हुई थीं और इनका विस्तार भी भारत की उत्तरी और उत्तर-पूर्वी सीमाओं पर ही रहा। फिर भी हिमालय-प्रदेश की घाटियों तथा गोरखाली, बंगला, आसामी, आंध्रों के विकास में इनका कुछ प्रभाव पड़ा है। तैरहवीं सदी में आसाम जोतने वाले महोम धीरे-धीरे हिन्दुओं में धर्म-मिल गए। केवल उनके मूकन, बक्ष्मा आदि नाम ही विदेशी प्रभाव के सूचक हैं।

धर्म व धर्मोपदेशक संस्कृतियों का संगम—प्रागैतिहासिक युग में इस प्रकार जो धर्म तथा धर्मोपदेशक संस्कृतियों का संगम हुआ वही हमारी भारतीय संस्कृति का मुख्य आधार है। संभवतः आर्येयों और द्रविड़ों के अनेकानेक और विरोध से धर्मों की संकलना मिली। उनकी भाषा देश के अधिकांश भाग में प्रचलित हुई। भाषा की दृष्टि से आज भारत में ७६.४% आर्य भाषा-भाषी, २०.६% द्रविड़ भाषा-भाषी और ३% आर्येय भाषा-भाषी हैं। किन्तु धार्मिक और सामाजिक दृष्टि से धर्मों की सहिष्णुतापूर्ण उदार वृत्ति से वैदिक और धर्मोपदेशक, धर्म और धर्मोपदेशक का जो-जो चरित्र सामान्य और संगम हुआ उसमें कुछ विद्वानों के मतानुसार यह अनुपात बिल्कुल उलट गया। वे वर्तमान भारतीय संस्कृति में २४% अंश की ही वैदिक मानते हैं और 'रथ' में बारह भाग' इसका मूल धर्मोपदेशक मानते हैं। भारतीय धर्म, ज्ञान-दान, भाषा, सामाजिक रीति-रिवाज आदि सभी बातों में धर्मोपदेशक अंश बहुत प्रबल है, धर्म के सम्बन्ध में धर्मोपदेशक रस्मों का पहले उल्लेख किया जा चुका है। महा कृष्ण कहना ही पर्याप्त है कि 'भक्तिसिद्धान्त' की उत्पत्ति पुराणों के अनुसार द्रविड़ देश में हुई।^१ मुलसी, बड़, पीपल, बेल आदि वृक्षों की पूजा और पवित्रता का विचार धर्मों ने धर्मोपदेशक जातियों से ग्रहण किया क्योंकि ये सब वृक्ष धर्मोपदेशक देवताओं से सम्बद्ध हैं।

वैदिक धर्मों का प्रधान भोजन जो और मक्खन था, आज भारतीय भोजन में चावल, गेहूँ, धान, घी और तेज आदि की प्रमुखता है। वैदिक धर्मों के ऊनी वस्त्रों

^१ उपर्युक्त द्रविड़ धर्म कथोरे धर्मोपदेशक।

जिसे किन्तुमन्त्राष्ट्रे धर्मोपदेशक माना।

(१४ पुराण' उत्तर-भाग १०-११)

का स्थान सूर्य वस्त्रों ने ले लिया है। भाषाशास्त्रियों के मतानुसार कर्नात भारतीय भाषा भाषाओं की वाक्पूरवचना पद्धति वैदिक या हिन्द यूरोपीय परिवार की अन्य भाषाओं की ध्वन्या इतिहास भाषाओं में अधिक मिलती है। इन भाषाओं में श्री के लगभग ध्वनित और कार श्री पञ्चांग के लगभग इतिहास सम्बन्ध है। विवाह में विभिन्न पीढ़ियों का विचार, सामाजिक व्यवस्थाओं पर नारियल का प्रयोग, वैवाहिक विधियों में श्रवण, स्वस्तिक, रोशन, शंकर सरसों, हल्दी और सिन्दूर का व्यवहार भी सर्वोदक है।

किन्तु धार्मिक तथा धार्मिक तत्वों के सुन्दर समन्वय और सम्मिश्रण से जो संस्कृति उत्पन्न हुई वह विशुद्ध रूप से भारतीय थी। न तो यह वैदिक और धार्मिक थी और न ही सर्वोदक और अनाथ। यह सबकी माँही संस्कृति थी। भारतीय संस्कृति के उषा-काल में हुए इस समन्वय ने उन सादरों, भावनाओं और विचारों को जन्म दिया जो लगातार सैकड़ों वर्षों से सभी भारतीयों को समान रूप से अनुप्राणित और प्रेरित करते आ रहे हैं। इनसे संहितायुग, भगवद्गītā, कर्मपाद, पुनर्जन्म, अक्षय्य सत्ता में विश्वास, दुःखमाला जगत् की विविधता के पीछे मौलिक एकत्व का दर्शन, मोक्ष, करुणा और दुःखपूर्ण जगत् से मुक्त होने की इच्छा प्रमुख हैं और वे ही भारतीय संस्कृति के मूलधार हैं। इनका जन्म और विकास शनैः-शनैः हुआ है। इनसे अध्यायों में इनका क्या स्थान प्रतिपादन किया जाएगा।

(क) हड़प्पा तथा मोहेंजोदड़ो की सभ्यता

मोहेंजोदड़ो की खोज और महत्त्व—आज से आसीस साल पहले भारत में प्रागैतिहासिक युग के अवशेष बहुत कम मिले थे। उस समय वैदिक सभ्यता की बहुत पुराना माना जाता था, किन्तु बादकाल विद्वानों द्वारा उसका काल अधिक-से-अधिक १५०० ई० पूर्व ही उल्टाया जाता था। १९२२ ई० में सिन्ध में तरकाना से २५ मील दक्षिण मोहेंजोदड़ो (मृत्कों की डेरी) में दूसरी-तीसरी शताब्दी ई० के एक बौद्धमूर्ति को खुदाई कराते हुए जो राजालदास वनजों ने इस स्थान के प्रागैतिहासिक महत्त्व की ओर पुरातत्त्वज्ञों का ध्यान आकृष्ट किया। इनसे पहले हड़प्पा (जिला मिर्जापुर, पश्चिमी पंजाब) से कुछ प्रागैतिहासिक मुहरें मिल चुकी थीं। १९२१ ई० तक भारत-सरकार की ओर से वहाँ खुदाई होती रही। इसी बीच में सिन्ध और जिन्नापुरातत्त्व में ऐसे अनेक टीलों और वस्तुओं का पता लगा जहाँ हड़प्पा और मोहेंजोदड़ो से मिलती-जुलती, इनसे पूर्ववर्ती और परवर्ती काल की वस्तुएँ पाई गई हैं। इन स्थानों की खोज भारतीय इतिहास में गुमान्तर करने वाली थी। पहले भारतीय सभ्यता का आरम्भ डेढ़ हजार वर्ष ई० पूर्व समझा जाता था। निजामा का प्राचीनतम ऐतिहासिक अवशेष २०० ई० पूर्व का माना जाता था किन्तु इन खुदाईयों से आज से २,००० वर्ष पुरानी सभ्यता उन्नत, समृद्ध एवं समस्त साधनिक सभ्यता का ज्ञान हुआ। यह न केवल मिस्र और मेसोपोटामिया की विश्व में प्राचीनतम

समझी जाने वाली संस्कृतियों के समकालीन थी, किन्तु नगरों की सफाई, निर्वाचित प्रणाली व्यवस्था, निश्चित योजना के अनुसार बाहरों को बसाने आदि कई चीजों में अपनी समकालीन सभ्यताओं से भी बहुत बढ़ी-बढ़ी थी। इसके प्रक्षेप सर्वप्रथम हड़प्पा में पाये गए थे, यतः इसे हड़प्पा-सभ्यता कहा जाता है। सिन्धु नदी की घाटी में पत्तने-फूलने से इसे सिन्धु-सभ्यता का भी नाम दिया गया है।

सिन्धु-सभ्यता का विस्तार और साम्राज्य—जिन बस्तियों से इस सभ्यता के प्रक्षेप मिले हैं, उनमें यह ज्ञात होता है कि वे पश्चिम में मकरान, दक्षिण में काश्मिराबाड़ और उत्तर में हिमालय की शिवालक पर्वत-माला तक एक विस्तृत क्षेत्र में फैली हुई हैं। इन विस्तृत भूभागों के एक विस्तृत और सुसंघटित साम्राज्य के सूचक हैं। इसके विभिन्न भागों में पाई गई मूर्तों, ईंटों, बाटों तथा अन्य सामग्रियों में इतनी गहरी एकतावादी और सार्वभौम है जो मूर्त वेस्टोम सामग्री के बिना समझ नहीं आती। मिला, बेकिलोन और अर्मीरिया-जैसे शक्तिशाली राज्यों की भांति इस प्राचीन साम्राज्य की हड़प्पा और मोहेंजोदड़ो—उत्तरी और दक्षिणी दो राजधानियाँ वर्णित होती हैं, ठीक वैसे ही जैसे परवती युग में कुशाणों के पेशावर और मथुरा में दो शासन-केन्द्र थे। उत्तरी भाग में हड़प्पा के प्रतिरिक्त १७ अन्य छोटे कस्बों में हड़प्पा-संस्कृति की वस्तुएँ प्राप्त हो चुकी हैं, पूर्व में बकसर (बिहार) और पटना से तथा गाजीपुर और बनारस जिलों में सिन्धु-सभ्यता जैसे विशिष्ट और गुरियाँ मिली हैं। हड़प्पा से २०० मील पूर्व में रोहट के पास सतलुज नदी पर फाँटला मिहग खान में भी वे अवशेष पाए गए हैं। मोहेंजोदड़ो के दक्षिणी भाग में इस शहर के प्रतिरिक्त १७ अन्य बस्तियों में इसके प्रक्षेप मिले हैं। इनमें चन्द्रदहो (मोहेंजोदड़ो से २० मील दूर) तथा घमरी महत्त्वपूर्ण हैं। इनके प्रतिरिक्त सिन्धु नदी के पश्चिमी किनारे पर मोहेंजोदड़ो, घालीमुसद और नूकर, अंशर और गाजीशाह, उत्तरी बिलोचिस्तान में दवरकोट, बाल, मुरजगल, राना गन्धई और दक्षिणी बिलोचिस्तान में कुल्ली, मेहो और बाही टम्ब भी इसी सभ्यता से सम्बद्ध हैं। इस प्रकार मोहेंजोदड़ो की सभ्यता और साम्राज्य का क्षेत्र समूचा बिलोचिस्तान, सिन्धु और पंजाब तथा गंगा की घाटी का कुछ भाग था। यह प्राचीन एशिया का एक बृहत्तम साम्राज्य था।

सिन्धु सभ्यता के नगर और भवन—मोहेंजोदड़ो तथा हड़प्पा में विनियमित होने वाली बाहरी सभ्यता की विशेषताएँ इनकी सफाई में भली-भाँति प्रकट हुई हैं। पहले शहर के सम्पूर्ण एक बड़े गोल में पाये गए हैं। यह शहर पहले से ही सोच-विचारकर एक निश्चित योजना के अनुसार बसाया गया था। सब सड़कें बिल्कुल सीधी बगई गई हैं। मोहेंजोदड़ो में हवा दक्षिण और पश्चिम से उत्तर तथा पूर्व की ओर बहती है। यतः गलबों का भी यही स्वर रखा गया है। सबसे बड़ी सड़क की चौड़ाई ३३ फीट है। वे सड़कें एक दूसरे की समकोण पर काटती हैं और शहर की वर्गीकार तथा धाराकार सड़कों में बाँट देती हैं। छोटी गलियाँ इन सड़कों की विभक्त

करती है, प्रत्येक घसी में कुँघा है, भकानों से गन्दा पानी निकालने के लिए गालियों की बड़ी सुन्दर व्यवस्था है। हड़प्पा, मोहेंजोदड़ो से भी बड़ा शहर है। दोनों शहरों में रक्षा के लिए बनाये गए परकोटे के अवशेष भी मिले हैं।

मोहेंजोदड़ो की उल्लेखनीय इमारतें विशाल स्नानागार, बड़ा हॉल, संघीय भवन और राजमहल हैं। पहली इमारत की लम्बाई-चौड़ाई १८० × १०० फीट है। इसमें नहाने का स्थान ३६ फीट लम्बा २३ फीट चौड़ा और ८ फीट गहरा है, इसमें उतरने बढने के लिए सीढ़ियाँ हैं। इसका सारा फर्श खड़ी ईंटों का है तथा राम बिछाकर उसकी सभी सीतों खाने से रोकी गई है। कहा जाता है—कि यह सुन्दर स्नानागार समुद्र-तटवर्ती किसी भी आपुनिक होटल के लिए गर्म का कारण हो सकता है। मोहेंजोदड़ो में इसका उपयोग संभवतः धार्मिक कार्य के लिए होता था। उसके दक्षिण-पश्चिम में एक अन्य इमारत में पानी को गर्म करके नहाने की व्यवस्था भी थी। स्तूप वाले टीले के दक्षिण में एक क्षेत्र में ८५ फीट लम्बा और इतना ही चौड़ा एक विशाल हॉल पाया गया है। इसकी छत ईंटों से बने २० आयताकार खम्भों पर टिकी हुई थी। इस हॉल के उपयोग के सम्बन्ध में श्री मार्शल का यह मत था कि यह बौद्धों के भिक्षुओं से मिलता है, इसका व्यवहार धार्मिक कार्य के लिए होता था। श्री मैके का यह विचार है कि यह उस समय की बड़ी गल्ली थी और यहाँ विविध वस्तुओं की खानों हुकानें थी। स्तूप वाले टीले के पश्चिम में २३० फीट × ७८ फीट की एक बड़ी इमारत है। इसकी पश्चिमी दीर पश्चिमी दीवारें पीने काज फीट मोटी हैं। यह किसी ऊँचे राजकर्मचारी का अथवा पुरोहित वर्ग का निवास-स्थान समझा जाता है। राजमहल कहा जाने वाला एक अन्य भवन २२० फीट लम्बा ११५ फीट चौड़ा है। इसकी दीवारें कई स्थानों पर पाँच फीट मोटी हैं। इसमें दो विशाल अँगन, नौकरों के घर तथा सामान रखने के कमरे हैं।

हड़प्पा की सबसे प्रतिष्ठ इमारत विशाल धानागार है। यह १६२ फीट लम्बा १३३ फीट चौड़ा है। इसके पास ही अनाज पीसने का फर्श तथा भजदूरों के रहने के बकुल-से भवन पाए गए हैं। इन दोनों शहरों में भकान बहुत सुविधापूर्ण थे। इन सबसे अँगन, कुँघा, स्नान-गृह और गालियाँ बनी होती थीं। अँगन प्रायः पक्का होता था और उसके चारों ओर गोदाम, कुँघा, रसोई तथा स्नानागार होते थे। स्नानागार प्रायः सड़क की ओर, उसके तथा शहर के फर्श का बना होता था। इसका सारा पानी एक पक्की नाली से बाहर की ओर सड़क की नाली में गिरा दिया जाता था। घरों के दरवाजे सड़क की ओर प्रायः दीवार के बीच में न होकर सिरे पर होते थे। बाहर की ओर खिड़कियाँ नहीं होती थीं। भकान प्रायः दुमजिते होते थे और उनके पास पहरेदार की व्यवस्था होती थी।

प्रणाली-व्यवस्था—मोहेंजोदड़ो में गन्दा पानी निकालने के लिए प्रणाली (Drainage) की बड़ी सुन्दर व्यवस्था थी। प्रत्येक घसी और सड़क में एक कूट

से दो फुट तक गहरी, ६ इंच से १ फुट तक चौड़ी नालियाँ होती थीं। इनमें नालियों का पानी जाता था। ऊपरकी मंजिलों के पानी के निकाल के लिए मिट्टी के बरतों नालियों की चौकारों में लगाये जाते थे। नालियाँ प्रायः ईंटों से ढकी होती थीं, जहाँ वे सड़क चौड़ी होती थीं वहाँ इन्हें पावरों से ढका जाता था। परी की नालियों का पानी सड़क की नाली में के जाने के पहले एक गड्ढे में भरता रहता था। तीन चौलाई भरने पर ही यह पानी सड़क की नाली में गिरता था। इस व्यवस्था का यह लाभ था कि पानी कभी उनमें बाहर नहीं बहता था। परी नालियों में थोड़ी दूर पर ईंटों के पक्के बरतण्डे बने रहते थे, इनमें सीवे उतरने के लिए सीड़ियाँ होती थीं, वे सामान्य रूप से सड़क के तल्लों से ढके रहते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि नियमित रूप से इनकी सफाई होती थी, क्योंकि इनके पास रेत के ढेर पाए गए हैं। जहाँ एक-साड़ी चौलाई से दूबरी नाली में मिलती थी वहाँ ईंट का छोटा गड़ा पानी को बाहर बहने से रोकने के लिए बनाया जाता था और इसके लिए पच्चराकार ईंट लगाई जाती थी। ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ इसगल्ले बनाने की धरोशा प्रणाली-निर्माण की घोर सज्जिक ध्यान दिया जाता था। इस दृष्टि में कोई प्राचीन सभ्यता इनका मुकाबला नहीं कर सकती।

इस प्रकार की प्रणाली-व्यवस्था तथा योजनापूर्वक नगर-निर्माण इस बात को सूचित करते हैं कि यहाँ का नगर-प्रणयन बहुत सुव्यवस्थित और उन्नत था। कुले शून्य बातें भी इसका पोषण करती हैं। मोहेंजोदड़ो में एक कुमरे के ऊपर धातु स्तर पाये गए हैं। इनकी निचली जहाँ से कहीं भी मकान नाली में सड़क का पार्श्वजनिक हिस्सा नहीं दबाया, रोंपों के सम्मने यह सूचित करते हैं कि यहाँ राज्य की ओर से सड़कों पर रोशनी की व्यवस्था थी। यद्यपि अन्तिम काल में नगर-प्रणयन में कुछ शिथिलता आ गई थी, किन्तु कई प्रतिष्ठों तक यह पूर्ण अमता में कार्य करता गया। पहले यह माना जाता था कि यह प्रजासत्तवीय प्रक्रम था किन्तु अब इसे सुस राजतन्त्र का परिणाम समझा जाता है।

घरें—घरों तक सिन्धु घाटी की खुदाई में कोई मन्दिर या पूजा-स्थान नहीं मिला, यद्यपि इस सभ्यता के धार्मिक जीवन का एक भाग जहाँ नहीं पाई गई मिट्टी और पत्थर की मूर्तियाँ तथा मुहरें हैं। इनसे यह ज्ञात होता है कि यहाँ मानुषी की, पशुपति शिव तथा उसके विष की पूजा और योग, योग आदि यहाँ एवं सामाजिक जीवन-जन्तुओं की उपासना प्रचलित थी।

मानुषी—मोहेंजोदड़ो तथा हड़प्पा में जहाँ हुई सर्वेक्षण नाली की बहुत मृण्मय-मूर्तियाँ मिली हैं। इनके लगेर पर छोटा-सा रहता है, जिसे कटि-प्रदेश पर मेलाता से ढोया गया है, गले में हार पड़ा हुआ है तथा मस्तक पर पत्ते के साकार की विविध शिरोभूषा है। इसके दोनों ओर प्याले जैसा पदार्थ है जिसमें जले धुएँ के निधान से यह ज्ञात होता है कि इसमें प्रकृति द्वारा देवी को प्रसन्न करने के लिए तेल

या भूप जलामा जाता था। इस प्रकार की मूर्तियों पवित्रभी एशिया में भी मिली हैं। ये उस समय की मातृदेवी की उपासना की व्यापकता सूचित करती हैं, चाहे भी भारत की साधारण जनता में देवी की उपासना बहुत प्रचलित है। इन मूर्तियों बहुत अधिक संख्या में पाये जाने में यह कल्पना की गई है कि वर्तमान कुल-देवताओं की भाँति शल्यक धर में इनकी प्रतिष्ठा और पूजा की जाती थी।

पशुपति—पुरुष देवताओं में पशुपति प्रधान प्रतीत होता है। एक मुहर में तीन मुँह वाला एक मनुष्य व्यक्ति चौकी पर पद्यासन लगाकर बैठा हुआ है। इसके आगे और हाथों, तथा बेल हैं, चौकी के नीचे हिरण है, इसके मिर पर मोम और विचित्र चित्रोभूषा है। इसमें हाथों में बुझिया और गले में हार पहन रखा है। यह मूर्ति शिव के पशुपति रूप की समझी जाती है। पद्यासन में स्थानावस्थित मुद्रा में इसकी भासाय दृष्टि शिव के मोनोस्वर या महामोनों रूप की सूचित करती है। तीन अन्य मुहरें पशुपति के इस रूप पर प्रकाश डालती हैं। अनेक चित्रों ने मोहेंजोदड़ो की प्रति प्रसिद्ध शासनाभारतीय मूर्ति का भी योग में सम्बन्ध जोड़ा है। संकु तथा बेसन के आकार के अनेक पत्थरों से यह ज्ञात होता है कि उस समय शिव की मूर्ति-पूजा के अतिरिक्त लिग-पूजा भी प्रचलित थी।

मुहरों पर उलकीएँ विभिन्न प्रकार के पेशों की तथा पशुओं की आकृति से यह ज्ञात होता है कि उस समय पीपल और लीम की पूजा जाता था। पशुओं में हाथी, बैल, बाघ, भेड़, गैंडे और घड़ियाल के चित्र अधिक मिले हैं। श्रावकल इसमें से अनेक पशु देवताओं के वाहन रूप में पुजित हैं। यह कहना कठिन है कि उस समय इनकी वाहनों के रूप में प्रतिष्ठा थी या स्वतन्त्र रूप में। साँपों को कुछ पिलाते तथा पूजा करने का विचार भी इस सम्बन्ध में था। और पुराणों की पूजा करने का विचार भी समकाल प्रचलित था। दो बाघों के साथ लड़ते हुए एक पुराण की मुहर के प्रसिद्ध वीर शिवगमेश के साथ जुलना की गई है। सूर्य पूजा तथा स्मृतिक के भी कुछ चिह्न यहाँ पाए गए हैं।

उपपूर्वक उपासना देवताओं के अतिरिक्त इनकी पूजा-विधि के सम्बन्ध में भी कुछ मनोरञ्जक कल्पनाएँ की गई हैं। मिट्टी के एक ताबीज पर एक व्यक्ति को दोम पीटड़ा हुआ तथा दूसरे व्यक्ति की नाकता हुआ दिखाया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि वर्तमान काल की भाँति उस समय संघीत और नृत्य पूजा के अंग थे। मोहें-जोदड़ो की सर्वतो की प्रसिद्ध कांस्य-मूर्ति सम्भवतः उस समय देवता के सम्मुख नाचने वाली किसी देवदासी की प्रतिमा है।

साव-पाल—मोहेंजोदड़ो से गेहूँ और जौ के कुछ समूने मिले हैं। इन्होंने में मटर और जिल भी पाए गए हैं। इनके साथ ही कबूर भी उस समय का मिल लाया था। मनु के अतिरिक्त बैल, भेड़, सूअर, मुर्गी, घड़ियाल तथा कछुए का मोम और

मछलियों भी उनके भोजन का सग प्रतीत होती है, क्योंकि इन जानवरों की हड्डियाँ चरों और गलियों में प्रचुरता से मिली हैं।

खाना खाने के लिए संभवतः नीचे घासन पर बैठ जाया था, किन्तु विशेष अवसरों पर घनी सोप कुर्सी-मेज का उपयोग करते थे। खाने-पीने के यंत्र, मिट्टी व लकड़ी के होने के कारण नष्ट हो चुके हैं। कर्कर (Shell) का बना एक चम्मच अवश्य मिला है। उन्हें नाना प्रकार के स्वादु व्यंजन और भोजन खाने का शौक था, क्योंकि मसाले पिलने के बहुत-से सिल-बट्टे वहाँ पाए गए हैं। छोटे-छोटे बेसन और रोटी बनाने के अनेक सिले नाना प्रकार के स्वादिष्ट भोजनों की सत्ता सूचित करते हैं। शनि माया में इनके खेवन से जो पाचन-विकास और दुष्परिणाम होते होंगे उनको सामान्य चिकित्सा ही अनुभव की पुष्ट और दृष्टिपूर्वक स्वयंसेवक कर लेती होगी, किन्तु विशेष रोगों में कुरङ्ग मूत्र और शिलाजीत का प्रयोग होता था। ये दोनों क्रमशः काश्मीर और हिमालय से मँगाए जाते थे। बाजकल भी प्रागुर्द में शिलाजीत अय-वन, बिगर तथा शिल्ली की बीमारियों में दिया जाता है।

आमोद-प्रमोद—गन्धु-घाटी के शालक जिल्लों के बड़े शीकीन थे। सुवाई में वे बहुत बड़ी संख्या में प्राप्त हुए हैं और मिट्टी, कर्कर (Shell) तथा हाथी-दाँत के बने हुए हैं। बच्चों का सबसे प्रिय जिल्लोना मिट्टी की बेलगाड़ी थी। मिट्टी के भुन-भुने और पथी (संभवतः धुन-धुन) भी मिले हैं। अन्य जिल्लों में बंस पर चढ़ने वाला जानवर, रस्ती से भिर हिलाने वाला बंस, रस्ती पर ऊपर नीचे चढ़ने वाली घाहलियाँ तथा पथी के आकार की मोटियाँ उल्लेखनीय हैं। पृथ्वी के प्रधान आमोद-प्रमोद पाले में खेले जाने वाले जुदा आदि खेल, संगीत, शिकार और पथी लड़ाना था। पाँच पनाकार तथा चारों दोनों प्रकार के मिले हैं। चपटे पाँच हाथी दाँत के बने हुए हैं। इनके सब पाखों पर विभिन्न संख्याएँ अंकित हैं। यह निश्चित रूप से बता रही लगी कि पाले केकना अपने घास में भी कोई खेल था। यह सम्भव है कि इनमें थोप-बैने अन्य खेल खेल जाते थे, क्योंकि एक ईंट पर बिसाल के निशान पाये गये हैं। इनमें ११ घर बने हुए हैं, ऐसा समझा जाता है कि किसी बड़े घर के नीकरी में समय काटने के लिये घर के कर्ण पर ही बिसाल के निशान बना दिये थे और यह ईंट उथी का एक घर है। एक अन्य ईंट घर कफटियों या शानों से खेले जाने वाले खेल के निशान बने हुए हैं। मृग के साथ डोल का पहले उल्लेख हो चुका है। उपर्युक्त अक्षताव भी उस समय संगीत के प्रधान वाद्य प्रतीत होते हैं। माताहारी होने से इन लोगों में भुनका का व्यसन होना स्वाभाविक था। कुछ मुहरों पर सीर-कमान में जगती बकरी और हिरण के शिकार का दृश्य दिखाया गया है। बड़ी संख्या में पाये गए मछली के हडि माहीपीरी का व्यसन सूचित करते हैं। सम्भवतः सीतर लड़ाने का भी उन्हें शौक था।

पस्त्र धीर वेत-भूषा—विश्व में कपास की बेती संभवतः सबसे पहले भारत में हुई। मृती बस्तुओं का व्यापक प्रयोग मोहेंजोदड़ो की विशेषता है, जिस धीर मेसोपोटामिया में इनका व्यवहार नहीं था। आज से पाँच हजार वर्ष पहले हड़प्पा के माथ-पाथ पंजाब में आरक्षण बोंद जाने वाली कपास की बेती होती थी। यद्यपि इसकी पुनर्प्राप्ति के उपकरण लकड़ों के बने होने से नहीं मिले, किन्तु कताई के लिए व्यवहार में आने वाली चकतियाँ (Spindle whorls) अमर माया में मिली हैं। इनके छिदों में लकड़ी या धातु की गोल डालकर इन पर सूत काता धीर लपेटा जाता है। ये चकतियाँ कताई भिट्टी, शल और फ्यान्स की बनी हुई हैं, ऐसा जान पड़ता है कि पहली तकतियाँ निर्धनों की होंगी धीर बाकी वर्गियों की। धमीर-नरीक सभी घरों में स्त्रियों सूत की कताई में व्यस्त रहती होंगी। मोहेंजोदड़ो की प्राधिकृत मूर्तियाँ कीचीन या छोटा लहंगा धारण किए हैं। पुरुषों की वेत-भूषा पर व्याम-मल योंधी की शाल-धारिणी मूर्ति से सुन्दर प्रकाश पड़ता है। उस समय कताई किये हुए शाल को छोड़ने का रिवाज था धीर इसे धाई मुका के मोने से बाँधे कन्धे के ऊपर तक डाला जाता था। एक अन्य मूर्ति में यह शाल घुटने तक दिखाया गया है। हड़प्पा के एक टीकरे पर विरक्ति पहने अथवा ध्वज कमकर भीती पहने एक व्यक्ति चित्रित है। स्त्रियों की प्राधिकृत मूर्तियों में कमर तक कोई वस्त्र नहीं धिखाया गया। कटि-प्रदेश में नारयनी से केवा घुटनों तक एक छोटा लहंगा होता था। कुछ मूर्तियों में पूरी आस्तीन का संवरला है, परन्तु इनमें तथा-स्वत आनायुत है। कुछ वस्त्र मिले होते थे, परन्तु धिना मिले वस्त्रों का रिवाज अधिक था।

वेत-विन्यास—पुरुष लम्बे शाल रखते थे, मांग बीच में निकाली जाती थी। बालों को एक भीते में बाँधकर रखा जाता था अथवा बालों का जुड़ा बनाया जाता था। पुरुष छोटी या छोटवाई हुई दाढ़ी रखते थे। स्त्रियों प्रातः वेती बाँधती थीं धीर भूँके का भी रिवाज था जैसा कि नर्तकी की मूर्ति से स्पष्ट होता है।

घरों के काम होने पर भी मोहेंजोदड़ो में धनी-निर्धन, स्त्री-पुरुष सभी को आभूषणों का बड़ा शौक था धीर भूंगार में बड़ी अतिवृत्ति थी। स्त्रियों की शिरोभूषा पंथों के छातार की थी धीर ये सिर पर बाँधे, चांदी, ताम्र, पीले के धनु-पाकार के जेवर पहनती थीं। माथे पर एक चौटीबन्ध या पीता होता था। कानों की धालियाँ धीर नथों का काफी रिवाज था। लुहारों में कण्ठहारों के कई सुन्दर नमूने मिले हैं। ये लाजवर्द, झकीक, मोमेय, संगुसुधमानी, फिरोडा, यमन, धादि विविध प्रकार की नथियों की नुरियों की लड़ियों के बने होते थे। मोहेंजोदड़ो में नुदियाँ धीर संगम बहुत अधिक पसन्द किये जाने वाले आनुयन्त्र थे। न केवल नर्तकियों की किन्तु देवताओं की दाहें भी नुदियों से ढकी होती थी। नथियों की दो मणि-वर्तित करचनियाँ भी मिली हैं। पुरुष हार, धमर धीर धनुदियाँ पहनते थे धीर बाल बाँधने के लिए सोने-चाँदी के पल्ले तारों का व्यवहार करते थे।

स्त्रियों की श्रृङ्गार-प्रियता खुदाई में पाये गए सिंगारदानों से सूचित होती है। ये हाथी-दाँत, पालु और मिट्टी के बने हुए हैं। चमकीली मिट्टी के स्रक्त छोटे-छोटे सिंगारदानों, इन तथा विविध प्रकार की छोटी शिञ्जियों में बने सिन्दूर, गंगावर, कानन आदि के रंगों से यह ज्ञात होता है कि पीस हुआ कपूर पूर्व उत्तर-पश्चिमी भारत की छत्रिणी अपनी रूप-सजाया धार्मिक स्त्रियों की भालि किया करती थी, यद्यपि इन समय-वर्तमानकाल के शीशे के दर्पण नहीं थे और उन्हें बूझ बिना कर चमकाये हुए रंगों के आइनों से सन्तोष करना पड़ता था। स्त्री-पुरुष दोनों बालों को सफाई के लिए कसि के छोटे उत्सवों का प्रयोग करते थे, क्योंकि ये खुदाई में बहुत अधिक संख्या में पाये गए हैं।

कला-कौशल—सिन्धु-सभ्यता की प्रधान कलाएँ मिट्टी के बर्तन, प्रस्तर-भूतियाँ मुहरें तथा केपर बनाता है। मिट्टी के बर्तन चाक पर बनाये जाते थे और उन्हें धागे के बजान धरती पर कानों के ऊपर ईथन जालकर पकाया जाता था। पकाने से पहले हारमुख (ईरान की खाड़ी) से आने वाले गेह के इन पर एक जाल धज्जों देकर उस पर कानि पेश्ट से ताना प्रकार की आकृतियाँ बनाई जाती थी। परस्पर काटने वाले नुत्तों के विजाइन (तरह या मोकल) इस सभ्यता की विशेषता है, जो सम्भव नहीं गहो मिलते। इसके अतिरिक्त विपुल आदि अनेक ज्यामितिक रूप भी मिलते हैं। पेशों तथा पशु-पक्षियों के रूप को भी चित्रित किया जाता था। मोहेंजोदड़ो के अधिकांश बर्तन बिनकृत सावे हैं। जो चित्रित हैं, वे प्रायः एक ही रंग के हैं। अनेक रंगों से चित्रण के बहुत कम उदाहरण मिलते हैं। बहुवर्णीय मृत्पात्र मोहेंजोदड़ो से ८० मील दक्षिण समरी तथा ११० मील उत्तर-पश्चिम ताल में पाये गए हैं और ये हड़प्पा-सभ्यता के गुराने चिह्न समझे जाते हैं। मिट्टी के बर्तनों पर चमकीला लेन (Glaze) लहाने का भी रियाज था, बिलकीर की पीस कर तथा उसमें श्लेषक द्रव्य मिलाकर मिट्टी के बहुत सुन्दर चिकने बर्तन भी बनाये जाते थे।

कला की दृष्टि से हड़प्पा की दो प्रस्तर-भूतियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन्होंने प्रारम्भिक भारतीय कला-सम्बन्धी विचारी में आन्ति उत्पन्न की है। भाषों की इनके विचारों पर कुछ समय तक यह संदेह बना रहा कि ये प्रागैतिहासिक नहीं हो सकतीं। इनमें एक तो ताल परपर का धज है और दूसरी साई टांग ठठाने एक नर्तक की मूर्ति है, जो सनवतः नटपट्ट मिव है। दोनों मूर्तियों की सरलता, शबीलता और दयापेता कृतानी-कला के आतिबनीय से पहले अन्धन कहीं नहीं मिलती।

मुहरों पर सिन्धु-कला समने सर्वोत्कृष्ट रूप में प्रकट हुई है। ये प्रायः गोलखंडों के पाकर की बनी हैं। इन पर अंकित बैल, बाघ, बैल आदि जानवरों के चित्र बड़े सजीव और प्यारसे हैं। इन पर कुछ लिपि-चिह्न भी बने हुए हैं, किन्तु ये अभी तक पढ़े नहीं जा सके। जीट तथा दान में पाया जाने वाला स्वास्तिक चिह्न भी इन पर बना हुआ है। इससे यह अनुमान होता है कि ये मुहरें धार्मिक महत्त्व रखती हैं। यह

कल्पना भी की गई है कि इन्हें मोहेंजोदड़ो-निकाबी घाने शरीर पर ताबीजों की भाँति धारण करते थे। नाना प्रकार की मणियों तथा सोने-चाँदी से बनाये जाने वाले आभूषणों की वर्षा पहले की जा चुकी है। कर्पूर और हाथी-दाँत की कारीगरों भी उस समय काफी उत्कृष्ट थी।

उद्योग-धन्य तथा व्यापार—सिन्धु-सभ्यता का सबसे बड़ा उद्योग कृषि था। हड़प्पा के विशाल सन्नापार से स्पष्ट है कि पाँच हजार वर्ष पूर्व भी पंचाब में ही के उत्पादन का बहुत बड़ा केन्द्र था। इस सन्नापार के साथ ही खाटा पोमने वाले मजदूरों की उत्कृष्टतुल्य चकियाँ और निवास-गृह मिले हैं। दुनिया में संघटित उद्योग का यह प्राचीनतम उदाहरण है। कटाई-नुवाई भी वहाँ का एक लोकप्रिय उद्योग था, किन्तु यहाँ का सबसे बड़ा धन्य व्यापार था। यहाँ इसकी समृद्धि का प्रधान कारण था। मोहेंजोदड़ो में पाई गई वस्तुओं से यह ज्ञात होता है कि वहाँ के व्यापारी भारत के विभिन्न प्रांतीय तथा विदेशों में घनेक प्रकार की वस्तुएँ मँगाने में। मकानों की छतों में हिमालय के ऊँचे ढालों पर उगने वाले देवदारों के पेड़ों की कड़ियाँ पड़ती थीं। इन्हीं के लिये काश्मीर से कुरंग शृङ्ग तथा हिमालय के प्रदेशों से शिलाशीत मँगवाया जाता था, वहाँ का ताँबा, गेक तथा ज्वालनी स्फटिक बिहार से आता था, जेदाइट का स्रोत बर्मा और चीन कहे जाते हैं। बलवर और जयपुर का ताँबा, प्रजमेर का सीसा, राजपूताने की सेलजडो और हरसोठ मोहेंजोदड़ो में काफी बरता जाता था। सोना और फल्साइट मैसूर तथा दक्षिण भारत के साथ व्यापारिक सम्बन्ध का सूचक है। मोहेंजोदड़ो में खजूर, आम, पाक तथा बनार की खादियों से लाये जाते थे। अतः मोहेंजोदड़ो के व्यापारी उत्तर में हिमालय और दक्षिण में रामेश्वरम् तक स्वयं पहुँचते थे अथवा अन्य मध्यवर्ती व्यापारियों से इन प्रदेशों का सामान मँगाने में।

वेतगाड़ियाँ और लम्बे उस समस्त व्यापारिक माल को हुलाई के प्रधान साधन थे, इनके भी कुछ चिह्न मिले हैं। लौकाची का प्रयोग होता था। मोहेंजोदड़ो का विदेशी व्यापार प्रधान रूप से अफगानिस्तान, ईरान और मध्य एशिया के साथ होता था। व्यापार की उत्कृष्टि बहुत अधिक संख्या में पाये गए बाटों तथा बटखरी से विदित होती है। इतनी अधिक संख्या में बाट अब तक किसी दूसरे स्थान से नहीं मिले। इन बाटों में एक निश्चित अनुपात है। ये चट्टे (Chert) नामक मृत्त पत्थर से बड़ी सावधानी से बनाये गए हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि ये राज्याधिकारियों के कड़े निरीक्षण में बनते थे।

सिन्धु-सभ्यता का काल—मोहेंजोदड़ो से पाई गई वस्तुओं का मेसोपोटामिया (ईराक) के प्राचीन उर चारि शहरों के उत्खनन से निकले सुमेरी-सभ्यता के पदार्थों के साथ गहरा सादृश्य पाया गया है। कुछ भारतीय सुहरों भी वहाँ पाई गई हैं। अतः मोहेंजोदड़ो की सभ्यता का काल-निर्धारण सुमेरी-सभ्यता के आधार पर किया गया गया है। पहले इस सभ्यता की सबसे उपरनी वस्ती का काल २७५० ई० पू० समझा

जाता था। मोहेंजोदड़ो में वस्तियों के सात स्तर मिले हैं। बाघ आदि में ऐसे प्रत्येक स्तर को १०० वर्ष का समय दिया जाता है। मोहेंजोदड़ो में बाढ़ आदि के कारण नई वस्तियाँ वस्ती बसती रहीं हैं। अतः वहाँ के सात स्तरों के विकसित होने का समय ५०० वर्ष ही माना गया है, अतः पहले इनके सात स्तरों का काल २२५०—२०५० ई० पू० माना जाता था, किन्तु बाद में मेसोपोटामिया के लिपि-कम में परिवर्तन होने तथा सुमेर, एलम व मिस्र के लिखित मृत्पात्रों की समानता के आधार पर इस सम्मता का आधिकारिक लगभग २५०० ई० पू० समझा गया। इस सम्बन्ध में मोहेंजोदड़ो की कुछ विशेषताएँ स्मरणीय हैं। यहाँ की सबसे निचली तह के बाढ़ पानी निकल जाने से इस सम्मता की आरम्भिक दशा का कुछ परिचय नहीं मिलता। चातो तहों के सहरी में इतना अधिक साम्य है कि ऐसा प्रतीत होता है कि निरन्तर तक दक्षिणी प्रमरीका की सम्मता की भाँति वह भी एक ही व्यवस्था में सर्वथा अपरिवर्तित बनी रहो। यह सम्मता इतने उन्नत रूप में है कि इसके विकसित होने में काफी समय लगा होगा। सीमावर्षा कुछ अन्य स्थानों से मोहेंजोदड़ो से पहले और पिछले सम्मताओं का पता लगा है। धमरी (सिन्धु) की पुरानी सम्मता ३००० हजार ई० पू० की है। इसके बाद मोहेंजोदड़ो तथा हड़प्पा की सम्मताओं का विकास हुआ और इनके बाद भुकर और जंगर सम्मताएँ फली-फूली।

सिन्धु-सम्मता के निर्माता—मोहेंजोदड़ो तथा हड़प्पा में भूत धानेयाम, भूमध्यसागरीय, भालाहनी और मंगोल नामक चार नस्लों के अन्तिम-मज्जर पाये गए हैं, किन्तु इनमें प्रधानता भूमध्यसागरीय नस्ल की है। यह स्पष्ट है कि इस सम्मता में काफी अन्त-मिश्रण था। सहानु व्यापारिक केन्द्र होने से इन सहरी में विभिन्न देशों और जातियों के व्यापारी आते थे। इन सम्मता के निर्माताओं के द्राविड़, बाहुई, सुमेरियन, पणि, धनुर्, डाल्व, पाय, नाग संस्था आदि होने की अनेक कल्पनाएँ की गई हैं। इस समय इन्हे इतिवृत्त मानने वालों का बहुमत है, किन्तु इसमें कद दोष है। दोनों की अन्तर्गोष्ठ-व्यति में बहुत बड़ा अन्तर है। यह भी बड़े आश्चर्य की बात है कि द्रविड़ों की सम्मता होते हुए भी वर्तमान द्रविड़-व्यापन दक्षिणी भारत में इसके कोई अवशेष नहीं मिले, अतः इस सम्मता के द्राविड़ों द्वारा निर्माण होने में पर्याप्त संशय है। इस विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

सिन्धु-सम्मता एक उल्का तारे की तरह प्रतीत होता है जो संहसा सञ्ज्ञा प्रदेश से प्रकट होकर कुछ समय के लिए खूब चमकता है। इसका उद्गम अनिश्चित है और अन्त के सम्बन्ध में भी यही कल्पना है कि बाढ़ और आकस्मिक इसके आकस्मिक सञ्ज्ञान के प्रधान कारण थे। यह निश्चित नहीं कि ये आकस्मिककारी आर्थ के या अन्य कोई जाति। वैदिक आर्यों से इनका क्या सम्बन्ध था यह भी बड़ा अज्ञात प्रश्न है। मोहेंजोदड़ो की लिपि पढ़े जाने के बाद ही इन समस्याओं का समाधान होगा।

अभी तक मोहेंजोदड़ो की सभ्यता की समाप्ति के काल १५०० ई० पू० से छठी सदी ई० पू० तक के काल को भारतीय पुरातत्त्व का अन्ध युग कहा जाता था। क्योंकि इस काल पर अन्धकार का पर्दा पड़ा हुआ था। पिछले १२ वर्षों में भारत के पुरातत्त्व विभाग ने ऐसे स्थानों की खुदाई विशेष रूप से करानी है, जो इस अन्ध-युग पर प्रभाव डाल सकें। ऐसी खुदाई हस्तिनापुर (जि० मेरठ), सरिपमेड़ (पाकिपरी के निकट), शिशुगानगई (उड़ीसा), कुम्हारहाट (प्राचीन पाटलिपुत्र), कौशाम्बी (जि० इलाहाबाद के निकट कोशम), तामलुक (जि० मिदनापुर), राजगिर (बिहार), रौरह (जि० छम्बाला), नैनाता (अहमदनगर), गोधर, उज्जैन, शालिहूँडन् (बी काकुलम्-आन्ध्रप्रदेश), रमपुर (जि० भालाबाद) तथा सोपल (जि० अहमदाबाद) में हुई है। इनमें अन्तिम स्थान की खुदाई मोहेंजोदड़ो सभ्यता की दृष्टि से असाधारण महत्व रखती है। यहाँ उसका साक्षित परिचय दिया जाना आवश्यक प्रतीत होता है।

सोपल की खुदाई—यह स्थान गुजरात राज्य के अहमदाबाद जिले में अम्भात की खाड़ी के निकट है, दो मील के अंदरे में फैला हुआ है तथा समीपवर्ती मैदान से १८ फुट ऊँचा उठा हुआ टीला है। पिछले कई वर्षों से यहाँ पुरातत्वीय खुदाई हो रही है। भारत-विभाजन के पश्चात् सिन्धु-सभ्यता के प्रधान स्थान मोहेंजोदड़ो तथा हड़प्पा पाकिस्तान में चले गये। इस पर भारतीय पुरातत्त्वज्ञों ने इस सभ्यता के अन्त ऐसे स्थानों की खोज आरम्भ की, जो सिन्धु-सभ्यता के उद्गम-निकाश और ह्रास की समस्याओं पर प्रकाश डाल सकें। १९५४ से १९५९ तक पुरातत्वीय सर्वेक्षण द्वारा कच्छ तथा गुजरात में ऐसे साठ स्थानों का पता लगा। इनमें सबसे महत्वपूर्ण स्थान सोपल है। यहाँ से अब तक १७००० पुरातत्वीय वस्तुएँ तथा अवशेष मिल चुके हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में मोहेंजोदड़ो के सांख्यिक व्यापारियों को सोपल में कई कार्यों से आकृष्ट किया। यह एक नदी के मुहाने पर बड़ा सुरक्षित बन्दरगाह है; यहाँ से नदी के मार्ग द्वारा प्रचुर मात्रा में कपास तथा गेहूँ उत्पन्न करने वाले गुजरात के वास्वामयमल मैदान में सुसमता से पहुँचा जा सकता है। उल्लेख से यह प्रतीत होता है कि इन बन्दरगाह को बसाने वालों में तथा इसे नष्ट करने वालों में भी बाढ़ में निरन्तर संघर्ष चलता रहा। कम से कम चार बार भीषण बाढ़ ने इस नगर को विध्वस्त किया था। तीसरी बार की बाढ़ से नगरवासी गहरी जलता की भारी धाति उठाकर यहाँ से हटना पड़ा। बाढ़ से नगर की रक्षा के लिये बनाये गये कई बड़े बचतरे (Platform) खुदाई में मिले हैं। यहाँ २८ फुट की गहराई तक पाँच बार इनके बसने के प्रमाण मिले हैं। किन्तु संस्कृति की दृष्टि से इन ताँबे की वस्तुओं को दो भागों में बाँटा जाता है—पहली अवस्था सोपल ए (Lothal A) कहलाती है, यह २५६० ई० पू० से १५०० ई० पू० तक रहने वाली वास्तविक एवं परिपक्व हड़प्पा संस्कृति वाली दशा है। दूसरी सोपल बी (Lothal B) १५०० ई० पू०

से १००० ई० पू० तक रही है, यह हड़प्पा संस्कृति की स्यासकालीन दशा है। यद्यपि लोथल हड़प्पा से १००० मील की दूरी पर बना हुआ है, किन्तु यहाँ की पहली व्यवस्था हड़प्पा की संस्कृति में गहरी समानता रखती है।

अपने समुद्रिकाल में लोथल मोहेंजोदड़ो तथा हड़प्पा की भाँति सुनिर्धारित (Well Planned) नगर था, पूर्व योजना के अनुरार छः आयताकार बागों में बसाया गया था। दक्षिणी भाग के तीन स्रष्ट अधिक ऊँचाई पर बने हुए थे। बस्ती के उत्तरपूर्व में कब्रिस्तान तथा पूर्व में किश्तियों और जहाजों के ठहरने का स्थान—पत्तन या बन्दरगाह (Dockyard) था। चार सड़कों और छोटे पथ सुवाई द्वारा प्रकाश में आ चुके हैं। एक सड़क के उत्तर में लोथी पक्कि में बने हुए १२ मकान मिले हैं, इन सब में स्नानागार हैं और इनका सम्बन्ध एक सार्वजनिक नाली (Public Drain) के साथ है। यहाँ की प्रणाली व्यवस्था (Drainage System) हड़प्पा मोहेंजोदड़ो के गहरों जैसी है। नालियाँ खुली और ढकी हुई दोनों प्रकार की हैं। नालियों को साफ करने तथा कूड़ा-कचरा बालने के लिए हौदियाँ तथा तोक्या गड़े (Soak pits) बने हुए हैं। घरों की फर्शबन्दी ईंटों से की गई है। दक्षिणी भाग में बाड़ से रक्षा के लिए विशेष व्यवस्था की गई है, इससे यह प्रतीत होता है कि इस हिस्से में सामाजिक दृष्टि से महत्वपूर्ण समझे जाने वाले व्यक्ति रहते थे। 'निचली बस्ती' के केन्द्र में बाजार है। बाजार में दोनों ओर दुकानें हैं। इनमें मिले अवशेषों के कारण एक ठोरे तथा चुड़ी बाले की दुकानें पहचानी गई हैं। एक व्यापारी के घर से सेलसरी (Stentite) की मुहरें, ताँबे की चुड़ी, लौ स्वर्णामुषण (Gold pendants) तथा हड़प्पा संस्कृति के समान विभिन्न प्रकार के मृत्पात्र मिले हैं। निचली बस्ती के पश्चिमी स्रष्ट में घुटियाँ (Beads) बनाने का कारखाना मिला है।

नगर के पूर्व में जहाजों तथा किश्तियों के ठहरने के लिए एक विशाल लोथलन (Dockyard) बना हुआ है। हड़प्पा संस्कृति वालों द्वारा ईंटों द्वारा बनाई हुई यह सबसे बड़ी रचना (७२० फीट × १२० फीट) है। लोथल के निकट सोमा का बन्दरगाह है, यहाँ प्रायः तक ज्वार के समय किश्तियों की ठहराने के लिए कच्ची मिट्टी के बाँध से बना हुआ लोथलन है। किन्तु लोथल का लोथलन अधिक अच्छा था, इनमें बाँध बनाने के लिए भट्टों में पकाई हुई ईंटों का प्रयोग किया गया था। समुद्र के पास स्थल के भीतर जाने वाला ३२ फीट चौड़ा जलमार्ग खोदा गया था। पूर्व की ओर बनाए गये बाँध में इतना ही चौड़ा रास्ता रखा गया और ज्वार के समय समुद्र में पानी बढ़ने पर इस मार्ग से लोकाये इस पत्तन में आ जाती थी। आटे के समय में भी पत्तन में पानी बनाये रखने के लिए एक छोटी दीवार बनाई गई थी। दक्षिणी दिशा में बने बाँध में आवश्यकता से अधिक पानी को निकालने के लिए एक प्रणाली (Spill channel) बनी हुई थी। इस पर बने हुए लकड़ी के दरवाजों से पानी के स्तर को भी नियन्त्रित किया जाता था। पश्चिमी बाँध के पास ८०० कुट

जन्मा प्लेटफार्म विभिन्नों और जहाजों का मात्र उत्तारने तथा चढ़ाने के लिये बना हुआ था। वहाँ पत्थर के कुछ लहर तथा मस्तूल जाली नौका को एक मूर्त्ति भी मिली है। इनके प्रतिरिक्त बन्दरगाह के सामने कच्ची ईंटों से बने १२ फीट ऊँचे, १३५ फीट चौड़े तथा १४५ फीट लम्बे प्लेटफार्म पर कच्ची ईंटों से बने १२ ठोस तलाकार खंड (Solid calical Blocks) मिले हैं। यहाँ से सिन्धु सभ्यता के लेखवालों ७४ मुहरें और पशु मूर्तियाँ मिली हैं। इन से यह कल्पना की गयी है कि यहाँ मिट्टी की बनी हुई छोटी मूर्तियों तथा वस्तुओं को पकामा जाता था।

इस स्थान की खुदाई ने हड़प्पा संस्कृति के धार्मिक विद्वानों पर भी सुन्दर प्रकाश पड़ा है। यहाँ कई घरों में कच्ची ईंटों के आस्ताकार या गोलाकार घेरे मिले हैं, इनमें राख, डंगलियों के निशानों से अंकित गोलियाँ, पकई मिट्टी के तिकोने टुकड़े पाये गये हैं। सम्भवतः ये हवन कुण्ड थे और यहाँ के निवासी बलिपूजा, अग्निहोत्र आदि करते थे। दो घरों में कर्मकाण्ड में प्रयुक्त होने वाले चित्रित घड़े भी मिले हैं। एक घरे में जल की पुरानी बनी हुई हड्डी, राख, मिट्टी के डीकरे, स्वर्णमकरण पाये गये हैं। इन वस्तुओं से यह परिणाम निकाला गया है कि साम्य यहाँ पशुमेध की परिपक्वी प्रवृत्ति थी। भीम कब्रों में दो शरीरों के अवशेष पाए गये हैं। यदि प्राचीन वैज्ञानिक अनुसन्धान से यह सिद्ध हो जाता है कि ये तर-नारी के अवशेष हैं, तो यह मानना पड़ेगा कि हड़प्पा संस्कृति में पति की मृत्यु पर पत्नी के सती होने की प्रवृत्ति प्रचलित थी।

पश्चिमी भारत के तट पर एक ब्रह्मण बन्दरगाह होने के कारण लोवल का विदेशों के साथ सम्बन्ध था। यहाँ से मिले हुए कुछ मृत्पात्र मेसोपोटामिया में तर-नामक स्थान के शवजर्दीद और उसके स्तरों (Levels) में से मिले मृत्पात्रों से कुछ आदृश्य रखते हैं, एक मूर्त्ति की सीसी नाक सुमेरियन मूर्तियों का स्मरण कराती है। १५०० ई० पू० के लगभग नदी की भीषण बाढ़ से साबरमती नदी की घाटी की इस संस्कृति का अन्त हो गया। लोवल में प्राप्त वस्तुओं के सूक्ष्म अध्ययन से सिन्धु-सभ्यता की अष्टम सभ्यताओं पर अविषय में नया प्रकाश पड़ने की आशा है।

वैदिक साहित्य और संस्कृति

वेदों का महत्त्व—भारतीय संस्कृति का मूल वेद है। ये हमारे सबसे पुराने धर्म-ग्रन्थ हैं और हिन्दु धर्म का मुख्य आधार हैं। इसीलिए हमारे यहाँ जो-कुछ वेद-विहित है, वह धर्म समझा जाता है और उसके प्रतिकूल स्मृतियों और पुराणों में प्रतिपादन होने पर भी अयमं है। न केवल धार्मिक किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से भी वेदों का असाधारण महत्त्व है। वैदिक युग के धर्मों की संस्कृति और सम्यक्ता जानने का एक-मात्र साधन वेदों है। विश्व के प्राकृम्य में इनसे प्राचीनतम कोई पुस्तक नहीं है। मानव जाति और विशेषतः धर्म जाति ने अपने धर्म में धर्म और समाज का किस प्रकार विकास किया, इसका ज्ञान वेदों से ही मिलता है। धर्म भाषाओं का मूल स्वरूप निर्धारित करने में वैदिक भाषा बहुत धार्मिक सहायक सिद्ध हुई है।

वैदिक साहित्य—हमारी संस्कृति के प्राचीनतम स्वरूप पर प्रकाश डालने वाला वैदिक साहित्य निम्न भागों में बँटा है— (१) संहिता, (२) ब्राह्मण और आरण्यक, (३) उपनिषद्, (४) वेदान्त, (५) मूल-साहित्य।

संहिता—संहिता का अर्थ है संग्रह। संहिताओं में देवताओं के स्तुतिपरक गानों का संग्रहण है। संहिताएँ चार हैं (१) ऋक्, (२) यजु, (३) साम, (४) अथर्व। इन संहिताओं के उद्देश्य का अर्थ महाभारत के रचयिता महर्षि कृष्णद्वैपायन वेदव्यास को दिया जाता है। वेदव्यास का वाक्य है—वेद का वर्गीकरण करने वाला। वेद का अर्थ है ज्ञान। वेदव्यास ने अपने समय के सम्पूर्ण ज्ञान का साधुनिक विश्व-कोश-निर्माताओं की भाँति वर्गीकरण किया। यह स्मरण रखना चाहिए, वह इस ज्ञान का संपादक है, निर्माता नहीं। प्राचीन परम्परा के अनुसार वेद नित्य और अपौरुषेय हैं। उनकी कभी मनुष्य द्वारा रचना नहीं हुई। सृष्टि के आरम्भ में परमात्मा के इनका प्रकाश धर्म, वायु, आदित्य और अग्निर नामक ऋषियों को दिया। प्रत्येक वैदिक मन्त्र का देवता और ऋषि होता है। मन्त्र में जिसकी स्तुति की जाय वह उस मन्त्र का देवता है और जिसने मन्त्र के अर्थ का सर्वप्रथम दर्शन किया हो वह उसका ऋषि है। पान्चरात्र विद्वान् ऋषियों को ही वेदमन्त्रों का रचयिता मानते हैं। वैदिक साहित्य की श्रुति भी कहा जाता है, क्योंकि पुराने ऋषियों ने इस साहित्य को ध्वन्य-परम्परा से ग्रहण किया था। बाद में इस ज्ञान की स्मरण करके भी गए अन्य सिद्धे गए, वे स्मृति कहलाएँ। श्रुति के शीर्ष-स्थान पर उपर्युक्त चार संहिताएँ हैं।

ऋग्वेद—ऋग्वेद में १०,६०० मन्त्र और १,०२८ सूक्त हैं, वे इस मन्त्रों में विभक्त हैं। मन्त्रों में देवताओं की स्तुतियाँ हैं, वे बड़ी भव्य उदात्त और काव्यमयी हैं। इनमें कल्पना की नवीनता, यशों की ओझा और प्रतिभा की ऊँची उड़ान मिलती है। 'उषा' चाँदे कई देवताओं के वर्णन बड़े हृदयग्राही हैं। पाश्चात्य विद्वान् ऋग्वेद की संहिता की सबसे प्राचीन मानते हैं, उनका विचार है कि इनकी धार्मिकता मन्त्रों की रचना पंजाब में हुई। उस समय धर्म अफ़ग़ानिस्तान में यंग-यमुना नदी के प्रदेश में फैले हुए थे। उनके मत में ऋग्वेद में कुमा (काकुत), युमातु (यमात), यमु (कुराँम), भीमती (गोमल), सिन्धु, यमा, यमुना, सरस्वती तथा यज्ञाज की तीस नदियों अतद् (अतलुज), विराज (यमात), परानी (रावी), अगिनी (चनाक), और वितस्ता (भैरव) का उल्लेख है। इन नदियों के तिब्बत प्रदेश भारत में धर्म-सम्पत्ता का जन्म-स्थान माना जाता है।

यजुर्वेद—इसमें यज्ञ के मन्त्रों का संग्रह है, यज्ञ का प्रयोग यज्ञ के समस्त सम्पूर्ण नामक पुरोहित किया करता था। यजुर्वेद में ४० अध्याय हैं। पाश्चात्य विद्वान् इसे ऋग्वेद से काफी समय बाद का मानते हैं। ऋग्वेद में मन्त्रों का धर्म-यज्ञ पञ्चाङ्ग है, इसमें कुरु-पाञ्चाल। कुरु सतलुज यमुना का सञ्चलनों भू-भाग (वर्तमान अम्बाला दिवो-जन) है और पाञ्चाल यंग-यमुना का योगाव। इसी समय से यंग-यमुना का प्रदेश धर्म सम्पत्ता का केन्द्र हो गया। ऋग्वेद का धर्म उपासना-प्रधान था, किन्तु यजुर्वेद का यज्ञ-प्रधान। यज्ञों का प्राधान्य होने से ब्राह्मणों का महत्त्व बढ़ने लगा। यजुर्वेद के दो भेद हैं—कृष्ण यजुः और शुक्ल यजुः। दोनों के स्वरूप में बड़ा अन्तर है, पहले में केवल मन्त्रों का संग्रह है और दूसरे में खन्दीकृत मन्त्रों के साथ पञ्चाङ्ग भाग भी है।

सामवेद—इसमें यज्ञ मन्त्रों का संग्रह है। यज्ञ के अन्तर्गत घर जिस देवता के लिए होम किया जाता था उसे बुलाने के लिए उद्गाता उचित स्वर में उग देवता का स्तुति-मन्त्र गाता था। इस गायन को 'गान' कहते थे। प्रायः ऋचाएँ ही गायी जाती थीं। अतः समस्त सामवेद में ऋचाएँ ही हैं। इनकी संख्या १,५४६ है। इनमें से केवल ७५ ही नई हैं, बाकी सब ऋग्वेद में भी गई हैं। भारतीय संगीत का मूल सामवेद में उपलब्ध होता है।

अथर्ववेद—इसका यज्ञों से बहुत कम सम्बन्ध है। इसमें जादुई-सामन्ती सामग्री अधिक है। इसका प्रतिपाद्य विषय विभिन्न प्रकार की छीदधियाँ, ज्वर, पीसिया, सर्पदंज, विष के प्रभाव को दूर करने के मन्त्र, मूर्खों की स्वास्थ्यप्राप्ति, रोगोत्पादक कीटाणुओं तथा विभिन्न बीमारियों को नष्ट करने के उपाय हैं। पाश्चात्य विद्वान् इसे जादु टोने और अन्ध-विश्वास का जञ्जार मानते हैं। वे इसमें धार्मिक और धनार्थ धार्मिक विचारों का सम्मिश्रण देखते हैं, किन्तु वस्तुतः इसमें राजनीति तथा समाज-शास्त्र के घनेक ऊँचे सिद्धान्त हैं। इसमें २० काण्ड, ३४ प्रपाठक, १११ अनुशाक,

५३१, युक्त तथा ५,८३२ मन्त्र है। इनमें १,२०० के लगभग मन्त्र ऋग्वेद से लिए गए हैं।

छात्रार्थ—प्राचीन भारत में वेदों को रखा मुद्र-सिन्धु-नरम्वरा-द्वारा होता था। इनका लिखित रूप निश्चित स्वरूप न होने से वेदों के स्वरूप में कुछ भेद माने गए और इनकी शाखाओं का विकास हुआ। ऋग्वेद की तीन शाखाएँ थीं—शाक्ल, शाक्ल, शाक्लवाक, शाक्लान्न न साण्डकेय। इनमें अब पहली शाखा ही उपलब्ध होती है। युक्त यजुर्वेद की दो प्रधान शाखाएँ हैं—नाग्यदिन और काण्व। पहली उत्तरी भारत में मिलती है और दूसरी महाभारत में। इनमें अधिक भेद नहीं है। ह्यग्न यजुर्वेद की शाखाएँ चार शाखाएँ मिलती हैं—तैत्तिरीय, मन्वाषी, काठक, कठ तथा काण्डिकान्त इत्यादि। इनमें दूसरी-तीसरी पहली से मिलती हैं, कम में ही भिन्नता है, चौथी महिषा शाखा ही मिली है। सामवेद की शाखाएँ थीं—कौमुद और वागपतीय। इनमें कौमुद का केवल सातवीं प्रपाठक मिलता है। अथर्ववेद की दो शाखाएँ उपलब्ध हैं—ऐंगलाव और शौनक।

ब्राह्मण ग्रन्थ—इतिहासों के बाद ब्राह्मण-ग्रन्थों का निर्माण हुआ। इनमें यज्ञों के कर्म-कान्ड का विस्तृत वर्णन है, साथ ही शब्दों की व्युत्पत्तियाँ तथा प्राचीन राजाओं और अधियों की कथाएँ तथा सृष्टि-सम्बन्धी विचार हैं। श्रष्टेय वेद के अपने ब्राह्मण हैं। ऋग्वेद के दो ब्राह्मण हैं—(१) ऐतरेय और (२) श्वेताश्वी। ऐतरेय में ४० अध्याय और छठ पंचिकाएँ हैं, इसमें अग्निष्टोम, सवामयन, द्वादशाह आदि सोमयागों, अग्निहोम तथा राज्याभिषेक का विस्तृत वर्णन है। श्वेताश्वी (शाखायत) में ३० अध्याय हैं परन्तु विषय ऐतरेय ब्राह्मण जैसा ही है। इनसे उपरालीन इतिहास पर काफी प्रभाव पड़ा है। ऐतरेय में बुध-शेष की प्रसिद्ध कथा है। श्वेताश्वी से प्रतीत होता है कि उत्तर भारत में भाषा के सम्बन्ध सम्बन्धन पर बहुत कम धिया जाता था। शुक्ल यजुर्वेद का ब्राह्मण-उत्पत्ति के नाम से प्रसिद्ध है, क्योंकि इनमें १०० अध्याय हैं। ऋग्वेद के बाद प्राचीन इतिहास की सबसे अधिक जानकारी इसी से मिलती है। इसमें यज्ञों के विस्तृत वर्णन के साथ अनेक प्राचीन सामाजिक, व्युत्पत्तियों तथा सामाजिक बातों का वर्णन है। इसके समय में कुरु-पांचाल नामें संस्कृति का केन्द्र था, इसमें पुरुरवा और उर्वशी की प्रणय-गाथा, अनेक अधि तथा महाप्रलय का आकाश, जलमंजय, संकुलता और चरत का उल्लेख है। सामवेद के अनेक ब्राह्मणों में से पंचविज या ताम्ब्य ही महत्त्वपूर्ण है। अथर्ववेद का ब्राह्मण 'गौतम' के नाम से प्रसिद्ध है।

धारण्यक—ब्राह्मणों के अलावा कुछ ऐसे अध्याय भी मिलते हैं जो गाँवों या बस्तियों में नहीं पढ़े जाते थे। उनका सम्बन्धन-अध्यापन गाँवों से दूर घरघरों (बनों) में होता था। अतः इन्हें धारण्यक कहते हैं। पृष्ठपात्रम में वज्र-विधि का निर्देश करने के लिए ब्राह्मण-ग्रन्थ उपयोगी हैं और उनके बाद बालवस्त्र आधन में वनवासी धर्म

यज्ञ के रहस्यों और दार्शनिक तत्त्वों का निवेदन करने वाले धारण्यों का अध्ययन करते थे। उपनिषदों का इन्हीं धारण्यों से विकास हुआ।

उपनिषद्—उपनिषदों में मानव-जीवन और विश्व के सूक्ष्मतम प्रश्नों को सुलझाने का प्रयास किया गया है। ये भारतीय अध्यात्म शास्त्र के देदीधमस्त रत्न हैं। इनका मुख्य विषय ब्रह्मविद्या का प्रतिपादन है। वैदिक साहित्य में इनका स्थान सबसे अंत में होने से वे 'वेदान्त' भी कहलाते हैं। इनमें जीव और ब्रह्म की एकता के प्रतिपादन द्वारा ऊँची-मे-ऊँची दार्शनिक उड़ान ली गई है। भारतीय ऋषिओं ने भौतिक-तम चिन्तन से जिन आध्यात्मिक तत्त्वों का नाकातकार किया, उपनिषद् उनका समुच्च कोष हैं। इनमें अनेक मतों की तरल-चिन्ता का परिणाम है। मुक्तिकोपनिषद् में चारों वेदों से सम्बद्ध १०२ उपनिषद् गिनाये गए हैं, किन्तु ११ उपनिषद् ही अधिक प्रसिद्ध हैं—ईश, कैल, कठ, प्रस, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक और श्वेताश्वतर। इनमें छान्दोग्य और बृहदारण्यक अधिक प्राचीन और महत्वपूर्ण माने जाते हैं।

सूच-साहित्य—वैदिक साहित्य के विद्याल एवं उद्दिष्ट होने पर कर्मकाण्ड से सम्बद्ध विद्यालयों को एक नवीन रूप दिया गया। कम-से-कम प्रश्नों में अधिक-से-अधिक अर्थ-प्रतिपादन करने वाले छोटे-छोटे वाक्यों में सब महत्वपूर्ण विधि-विधान प्रकट किये जाते लगे। इन शार समित वाक्यों को सूच कहा जाता था। कर्मकाण्ड-सम्बन्धी सूच-साहित्य को चार भागों में बाँटा गया—(१) श्रौत सूच, (२) गृह्य सूच, (३) धर्मसूच, और (४) शुक्ल सूच। पहले में वैदिक यज्ञ-सम्बन्धी कर्मकाण्ड का वर्णन है, दूसरे में गृहस्थ के वैदिक ऋत्यों का, तीसरे में सामाजिक नियमों का और चौथे में यज्ञ-वेदियों के निर्माण का। श्रौत का अर्थ है भुक्ति (विद) से सम्बद्ध यज्ञ-याग। यज्ञः श्रौत सूचों में तीन प्रकार की धर्मियों के आधान, अग्निहोत्र, दश-दीर्घांशान, चातुर्मास्यादि साधारण यज्ञों तथा अग्निष्टोम आदि सोमयागों का वर्णन है। वे भारत की प्राचीन यज्ञ-व्यवस्था पर बहुत प्रकाश डालते हैं। ऋग्वेद के दो श्रौत सूच हैं—शांखायन और धारवाण्यन। शुक्ल यजुर्वेद का गुरु—कात्यायन, कृष्ण यजुर्वेद के छः सूच हैं—शांखायन, हिरण्यकेशी, शौभायन, भारद्वाज, मानव, वेत्तायन। सामवेद के वात्स्यायन, ब्राह्मण्य और भार्गव नामक तीन सूच हैं। अथर्ववेद का एक ही वैद्यक सूच है।

गृह्य सूच—इसमें उन आचारों तथा क्रम से भोजन गर्वन्त किये जाने वाले संस्कारों का वर्णन है जिनका अनुष्ठान श्रौत हिन्दु-गृहस्थ के लिए आवश्यक समझा जाता था। उपनयन और विवाह-संस्कार का विस्तार से वर्णन है। इन कर्त्यों के अध्ययन से प्राचीन भारतीय समाज के घरेलू आचार-विवाद का तथा विभिन्न ग्रन्थों के रीति-रिवाज का परिचय पूर्ण रूप से हो जाता है। ऋग्वेद के गृह्य सूच शांखायन और धारवाण्यन हैं। शुक्ल यजुर्वेद का गारुडकर, कृष्ण यजुर्वेद के शांखायन, हिरण्य-

वेदी, बौधायन, मानव, शाठक, वैश्वानर, ब्राम्हदेव के गोमित्र तथा आदिर धीर अथर्ववेद का कौषिक । इनमें गोमित्र प्राचीनतम है ।

धर्म सूत्र—धर्म सूत्रों में सामाजिक जीवन के नियमों का विस्तार से प्रतिपादन है । वर्णाश्रम-धर्म की विवेचना करते हुए ब्रह्मचारी, गृहस्थ व राजा के कर्तव्यों, विवाह के भेदों, दान की व्यवस्था, निषिद्ध भोजन, मुद्रि, प्रायश्चित्त आदि का विशेष वर्णन है । इनही धर्म सूत्रों में आगे चलकर स्मृतिपत्रों की उत्पत्ति हुई, जिनकी व्यवस्थाएँ हिन्दू-समाज में आज तक माननीय समझी जाती हैं । वेद से सम्बद्ध केवल तीन धर्म सूत्र ही अब तक उपलब्ध हो सके हैं—आपस्तम्ब, त्रिष्यकेशी व बौधायन । ये यजुर्वेद की वैत्तिरीय शाखा के सम्बद्ध हैं । अन्य धर्म सूत्रों में गौतम और बलिष्ठ जलैकनीय हैं ।

शुल्क सूत्र—इनका सम्बन्ध धौत सूत्रों से है । शुल्क का अर्थ है मापने का डोरा । मापने नाम के अनुसार शुल्क सूत्रों में वज्र-वेदियों की मापता, उनके लिए स्वाम का चुनना तथा उनके निर्माण आदि विषयों का विस्तृत वर्णन है । ये भारतीय व्यापारिक के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं ।

वेदांग—काशी समय बीतने के बाद वैदिक साहित्य अटिल एवं कठिन प्रतीत होने लगा । उस समय वेद के धर्म तथा विषयों का स्पष्टीकरण करने के लिए अनेक ग्रन्थ-ग्रन्थ लिखे जाने लगे । इसलिए इन्हें वेदांग कहा गया । वेदांग का है—विज्ञा, छन्द, व्याकरण, मिश्रक, कल्प तथा ज्योतिष । पहले चार वेद ग्रन्थों के कुछ उच्चारण और धर्म सम्बन्ध के लिए तथा अन्तिम दो धार्मिक कर्मकाण्ड और यज्ञों का समय जानने के लिए आवश्यक हैं । व्याकरण को वेद का मुख कहा जाता है; ज्योतिष को मेष, मिश्रक को श्राद्ध, कल्प को वाक्, मिश्रक को नासिका तथा छन्द को दोनों पैर ।

विज्ञा—उन ग्रन्थों को विज्ञा कहते हैं, जिनकी सहायता से वेदों के उच्चारण का शुद्ध ज्ञान प्राप्त होता था । वेद-पाठ में स्वरों का विशेष महत्त्व था । इनकी शिक्षा के लिए दृष्टक वेदांग बताया गया । इसमें वर्णों के उच्चारण के अनेक नियम दिये गए हैं । संसार में उच्चारण-शास्त्र की वैज्ञानिक विवेचना करने वाले पहले ग्रन्थ यही है । वे वेदों की विभिन्न शाखाओं से सम्बन्ध रखते हैं और प्रातिशाक्य कहलाते हैं । सायन, अथर्ववेद, नाजसनेयी व वैत्तिरीय संज्ञिता के प्रातिशाक्य मिलते हैं । बाद में इनके आधार पर शिक्षा-ग्रन्थ लिखे गए । इनमें मुख्य यजुर्वेद की याज्ञवल्क्य-विज्ञा, सामवेद की नारद-विज्ञा और यामिनी की यामिनीय-विज्ञा मुख्य हैं ।

छन्द—वैदिक मन्त्र छन्दोबद्ध हैं । छन्दों का ठीक ज्ञान प्राप्त किये बिना, वेद-ग्रन्थों का शुद्ध उच्चारण नहीं हो सकता । अतः छन्दों की विस्तृत विवेचना आवश्यक समझी गई । शौनक मुनि के आश्वलायन में, आश्वलायन शौनक में तथा ब्राम्हदेव के अम्बड विद्वान सूत्र में इन शास्त्र का व्यवस्थित वर्णन है । किन्तु इस वेदांग का

एक-मात्र स्वतन्त्र ग्रन्थ विमलाचामे-प्रणीत छन्दोग्य है। इसमें वैदिक और लौकिक दोनों प्रकार के छन्दों का वर्णन है।

व्याकरण—इस वेदांग का उद्देश्य मन्त्रि, शब्द-रूप, धातु-रूप तथा इनकी निर्माण-प्रकृति का ज्ञान कराना था। इस समय व्याकरण का सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ पाणिनि की अष्टाध्यायी है। किन्तु व्याकरण का विचार ब्राह्मण-ग्रन्थों के समय से शुरू हो गया था। पाणिनि से पहले गार्ग्य, स्फोटायन, शाकटायन, भारद्वाज आदि व्याकरण के अनेक महान् धारणाएँ हो चुके थे। इन सबके अग्र-सर्व सुप्त हो चुके हैं।

निरुक्त—इसमें वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति बताई जाती थी, प्राचीन काल में वेद के अतिरिक्त शब्दों की सम्भवतः तालिका और कोश निर्भर कहलाते थे और इनकी व्यवस्था निरुक्त में होती थी। आजकल केवल धातुकाचार्य का निरुक्त ही उपलब्ध होता है। इसका समय ७०० ई० पू० के लगभग है।

ज्योतिष—वैदिक युग में यह धारणा थी कि वेदों का उद्देश्य यज्ञों का प्रति-पादन करना है। यज्ञ उचित काल और मुहूर्त में किये जाने से ही फलदायक होते हैं। अतः काल-ज्ञान के लिए ज्योतिष का विकास हुआ, यह वेद का अंग समझा जाने लगा। इनका प्राचीनतम ग्रन्थ लगभग मुनिरीति वेदांगज्योतिष है।

श्रौत, गृह्य एवं धर्म सुत्रों को ही कल्प सूत्र कहते हैं इनका वर्णन ऊपर किया जा चुका है।

वैदिक साहित्य का काल—इस विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है कि वेदों की रचना कब हुई और उसमें किस काल की सम्प्रदाय का वर्णन मिलता है। भारतीय वेदों को अतीत्य (किसी पुरुष द्वारा न बनाया हुआ) मानते हैं अतः निश्चय होने से उनके काल-निर्धारण का प्रश्न ही नहीं पड़ता। किन्तु पश्चिमी विद्वान् उन्हें आदिमों की रचना मानते हैं और इसके काल के सम्बन्ध में उन्होंने अनेक कल्पनाएँ की हैं। इनमें पहली कल्पना मैक्समूलर^१ की है उन्होंने वैदिक साहित्य को बार भागी में बाँटा है—छन्द, मन्त्र, ब्राह्मण और गृह्य साहित्य। गृह्य साहित्य का काल ६०० ई० पू०-२०० ई० पू० है, ब्राह्मणों का २००-६०० ई० पू०, मन्त्र समीप आखिरी के पिछले हिस्सों का १०००-२०० ई० पू० और छन्द समीप आखिरी की प्राचीनतम आवाजों का १२००-१००० ई० पू०। डीगोबोर्डे^२ (२वीं) ने से उपलब्ध १४०० ई० पू० के कुछ प्राचीन लेखों में वैदिक देवताओं का स्पष्ट उल्लेख मिलने से पश्चिमी विद्वानों की मैक्समूलर का मत अस्वीकार प्रतीत हुआ। ये वेदों की आदिम पुराता समझने लगे। जर्मन विद्वान् विष्टर निट्ज^३ ने वैदिक साहित्य के आरम्भ होने का काल २५००-२००० ई० तक माना। मिलर और गार्फी^४ ने वैदिक साहित्य में अन्तिम

१. मैक्समूलर का मत १२०० ई० पू० २०० ई० पू०।

२. विष्टर निट्ज का कल्पना २५०० ई० पू०।

३. मिलर और गार्फी २५०० ई० पू०।

मन्त्रों की स्थिति के आधार पर इस साहित्य का आरम्भ काल ४२०० ई. पू. माना । श्री अजितानन्द काम तथा पादसी ने ऋग्वेद में दक्षिण भूमि-विभाजक लाशों द्वारा ऋग्वेद की कई लाख वर्ष पूर्व का उद्धारण । यही तर्क इस पद्य का प्रासाविक रूप में परिचित निरूपण नहीं हो सका । वैदिक साहित्य का अन्वयन करने में उसमें दो काल-विभाग स्पष्ट दृष्टिभोचर होते हैं—(१) प्राचीन वैदिक युग : इस ऋग्वेद का युग भी कहते हैं । इस काल की संस्कृति के ज्ञान का मुख्य आधार ऋग्वेद है । (२) उत्तरवैदिक युग । यहाँ इन कालों की वैदिक संस्कृति का साक्ष्य प्रतिपादन किया जायगा ।

वैदिक संस्कृति

धर्म—वैदिकयुगीन धार्मिक विकास के तीन स्पष्ट रूप प्रतीत होते हैं । प्राचीनतम वैदिक धर्म उपासना-प्रधान एवं सरल था, वाङ्मय-धर्मों के समान यह कर्मकाण्ड-प्रधान एवं तटित हो गया और धर्म में उपनिषदों के समान ज्ञान पर बल दिया जाने लगा । प्राचीनतम वैदिक धर्म अत्यन्त सुविश्रुत, परिष्कृत और सरल है । पिछली शताब्दी में कुछ यूरोपियन विद्वानों ने यह मत प्रकट किया था कि यह अत्यन्त प्रारम्भिक और जंगली धर्म है । धार्मिक जंगलों में रहते थे । वर्षा, विद्युत्, धूप, सूर्य प्रादि प्राणी शक्तिओं से भयभीत होकर उनकी स्तुति के लिए मन्त्र पढ़ते थे, किन्तु वेद के सम्पूर्ण अध्ययन से शीघ्र ही उन्हें ज्ञान हो गया कि यह बड़ा सृजनशक्ति, कलात्मक, परिष्कृत और बड़े धर्म है ।

वैदिक देवता—ऋग्वेद में विभिन्न देवों की स्तुति है । देव का धर्म है सौम्यमीन या दीर्घितमनः । एक ही ईश्वर का रूप प्रकृति की विभिन्न शक्तियों में विलीन रहा है । धार्मिक इन रूपों की समुच्चय पूजा करते थे । उनके प्रधान देवता निम्नलिखित थे—

वसुध—अत्यन्त प्राचीन काल में यह उच्चतम एवं उदात्ततम देवता था । बाद में इसका स्थान इन्द्र ने ले लिया । यह धर्म का अधिपति है, सत्य (ऋत) पुण्य और भलाई का देवता है । इसका प्रधान कार्य धर्म की रक्षा करना है । ऋग्वेद के अनेक सूक्तों में बड़े भव्य शब्दों में इसकी स्तुति है । वसुध सर्वज्ञ और सर्वसाक्षी है, मनुष्यों का सत्य, धर्म तथा देवता रहते हैं, रात्रि से सर्वत्र घन्टकार था जाने पर भी वे जागते रहते हैं, तबले उनके दूत फिरते रहते हैं, मनुष्यों की सुख-से-पुल्ल मनवाया और पाप उन्हें बाल होता रहता है, जो आदमी एकान्त में बैठकर जो मनवाया करते हैं उसे वह जान लेते हैं, वे प्रकृति के घटन नियमों की रक्षा करने वाले हैं, पापियों की पाप में बाधकर दण्ड देते हैं । अनेक सूक्तों में भक्तों ने इससे उसी प्रकार भक्ता की सम्मर्पणा की है जैसे बाद में विष्णु आदि देवताओं से की जाती थी । भक्ति-सम्प्रदाय का वैदिक मूल यही है । वसुध की उपासना सप्त एषिया (यूरोप) के निवासी राजा भी करते थे ।

इन्द्र—यह वैदिक युग का सबसे महत्त्वपूर्ण देवता है। इसकी प्रधानता इस बात से स्पष्ट है कि सम्पूर्ण ऋग्वेद के बीस हिस्से में अधिक २५० सूक्तों में इसकी स्तुति है। यह देवों का अधिपति तथा अपरिमित शक्तियोंवाला है। इसके बल से धुनोक और भुनोक कांपते हैं। उनके हाथ में शक्तिशाली बल्ल है। उसने गौधों का दुहाना, वृष का वध, पर्वतों का ह्वेन, दामों का दमन आदि अनेक बौरतापूर्ण काम किये हैं। किन्तु उनका प्रधान कार्य वृष का संहार है। इन्द्र को सामान्य रूप से युधिष्ठिर देवता का प्रतीक माना जाता है। वह अपने निजली रूपी बल्ल से घनायुधिष्ठिर के दैत्य—वृष का संहार करता है। इन्द्र युद्ध का देवता है। बल्ल से मनुष्यों का दमन करता है। मनुष्य युद्ध में विजय प्राप्त के लिए इन्द्र का आह्वान करते हैं।

अग्नि—ऋग्वेद में इन्द्र के बाद अग्नि की ही सबसे अधिक स्तुति है। जो जो ये अधिक सूक्त इसका प्रतिपादन करते हैं। ऋग्वेद के पहले सूक्त का यही देवता है। इसकी लघु है "मनुष्य की तरंगों की तरह ऊँची उठती है, इसके उन्नत में चढ़-चढ़ की ऊँची आवाज होती है। आकाश में इसके स्तुल्लिख उड़ते हैं और पक्षी उसने भयभीत होकर भागते हैं"। अग्नि के असाधारण महत्त्व का यह कारण था कि वह मनुष्यों की हवि देवताओं तक पहुँच करता था, प्रतिदिन वह अग्निहोत्र के लिए प्रज्वलित किया जाता था।

सूर्य—सूर्य से सम्बन्ध रखने वाले पाँच देवताओं की स्तुति की जाती थी—सविता, सूर्य, मित्र, पूषा, विष्णु। सविता सूर्य के ज़ेरक और प्रेतकालीन रूप का नाम था। सूर्य इन पाँचों में प्रधान, सूर्योक्त और अद्वितीय का पुत्र माना जाता था, उसकी पत्नी ऊषा थी। वह सात घोड़ों के रथ पर प्रतिदिन आकाश की यात्रा करता था। मित्र को वध का साथी और सूर्य के उपकारक रूप का प्रतिनिधि समझा जाता था। 'पूषा' पशु-पालकों का देवता था। विष्णु उन समय सबसे कम महत्त्व रखता था, किन्तु बाद में बहुत अधिक पूजा जाने लगा। वेद में विष्णु के तीन पदों का बार-बार उल्लेख है। एक प्राचीन आचार्य सोमेश्वर ने इन तीन पदों को उद्भूत होने वाले, मध्याह्न में उन्नततम क्षितिज पर पहुँचने वाले तथा अस्त होने वाले सूर्य के तीन रूपों का सूचक माना है। इन्हीं पदों से बाद में वामन और ब्रह्मा की कथा का विकास हुआ।

उषा—प्रजात वेला की मनोरम छटा की देवी का रूप देवा सरस्वती, धार्य की सुन्दरतम कल्पना है। विश्व के समुचे धार्मिक साहित्य में इस देवी कोई नवोद्धारणी रचना नहीं है। ऋग्वेद में उषा का अत्यन्त सरस वर्णन है। इनके अतिरिक्त, इसमें अश्विनो, वायु, वात सोम, सरस्वती, पर्जन्य (बादल), धात (बल) आदि अनेक देवताओं की स्तुतियाँ पाई जाती हैं। इन देवताओं की पूजा एवं संस्कृति देकर की जाती थी।

ईश्वर-सम्बन्धी विचार—ऋग्वेद में देवताओं की स्तुतियों का विशेष डंग है। इसे सर्वोत्कर्षवाद (Henotheism) कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि भक्त जिस देवता से प्रार्थना करता है, उसे सबसे बड़ा बताता है। इन्द्र की धारापना करते हुए उसकी सर्वोच्च कहता है और यमिन् की स्तुति में यमिन् की। ऋग्वेद में माना देवताओं की स्तुति है, इससे शायद यह कल्पना की जाती है कि उस समय बहुदेववाद प्रचलित था। किन्तु जैसा ऊपर बताया जा चुका है कि धर्म प्रकृति की सब शक्तियों की एक ही मता के विभिन्न स्वरूप मानते थे। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में एकेश्वरवाद की घोषणा करते हुए कहा था :—'एक ही सत्ता को विद्वान् अनेक नामों से कहते हैं।' इस मता को वे अग्नि, हिरण्यगर्भ, पूषण आदि नामों से सूचित करते थे। बहु शब्दण हमें से अग्नि था, यह मारा विश्व उन तेजस्वी (हिरण्य) ईश्वर के गर्भ से निकला है। यतः वह हिरण्य-गर्भ कहलाता था। वही एक सत्ता इस समूची ब्रह्माण्डपुरी में फैली हुई है, यतः वह पुरुष कहलाता था। हिरण्यगर्भ भूत एकेश्वरवाद का सुन्दर प्रतिपादन है।

वैदिक और वर्तमान हिन्दू धर्म में भेद—वैदिक धर्म वर्तमान पौराणिक धर्म से निम्न बातों में मौलिक रूप से भिन्न था। (१) वैदिक धर्म में मूर्ति-पूजा का प्रचलन नहीं था। ऋग्वेद में केवल एक ही स्थान पर इन्द्र की मूर्ति का उल्लेख है। देवताओं की धारापना भाव द्वारा आहुति देकर की जाती थी, वह यज्ञ-प्रधान धर्म था। मातृकत्व की अचित-प्रधान उपासना उस समय बहुत अधिक प्रचलित नहीं थी।

(२) वैदिक देवताओं तथा वर्तमान हिन्दू देवताओं में कई प्रकार का भेद है। वैदिक काल का प्रधान देवता इन्द्र है। बाद में ब्रह्मा, विष्णु, महेश को प्रमुख। प्राप्त हुई। वैदिक वक्ता का मातृत्व सुप्त हो गया। वर्तमानकाल में प्राधान्य पाने वाली त्रिमूर्ति में से वेद में केवल विष्णु और रुद्र का उल्लेख है। किन्तु ये उस समय मौल्य देवता थे। अनेक वैदिक देवताओं उषस, धर्म, अग्नि, भय, अर्यमा का बाद में सोन हो गया। अनेक पौराणिक देवी-देवताओं—पार्वती, कुबेर, दत्तात्रेय आदि का वेदों में कोई उल्लेख नहीं है।

(३) वर्तमान हिन्दू धर्म में ब्रह्मा, विष्णु, महेश के साथ सरस्वती, लक्ष्मी, गार्गी का पूजन होता है। सभी देवताओं की शक्तियों स्त्री रूप में पूर्ण होती हैं। वैदिक युग के अधिकांश देवता पुरुष थे। नारी लक्ष्य को वर्तमान प्रधानता नहीं मिली थी।

(४) वैदिक धर्म आधावादी और मोक्षवादी है। उसमें पारलौकिक जीवन के प्रति बड़ा विश्वास नहीं जो वर्तमान हिन्दू धर्म में है। वैदिक धर्म संसार से भागना नहीं चाहता, उसका पूरा भोग करना चाहता है। धर्म उपासक अपने देवताओं से प्रपन्न रूप से इस लोक की वस्तुएँ पशु, पक्ष, पत्त, तैल और ब्रह्मचर्य मानता था। उसको अर्थसे बड़ी प्रार्थना नहीं होती थी :—मेरे शत्रुओं का वध करो। उसका

जीवन यह और लोहे का, सोन और विचार का, विषय और स्वतन्त्रता का, कविता और कल्पना का, मौन और मस्ती का था, उसका धर्म भी उसके अनुरूप था ।

उत्तर वैदिक युग का धर्म

(क) नये देवता—उत्तर वैदिक युग तक पहुँचते हुए वैदिक धर्म में भारी मतलब आ गया था । यजुर्वेद में वरुण के कई मन्दार सुक्त हैं । किन्तु उसकी महिमा घटने लगी थी । ऐश्वर्यवादी प्रवृत्ति पुष्ट हो रही थी । ब्राह्मण युग में प्रजापति की महिमा बढ़ने लगी । धीरे-धीरे उसने इन्द्र का स्थान ले लिया । प्रजापति द्वारा ब्रह्म रूप में पुरुषोत्तराण की तथा कर्म बनने की कथाएँ इसी युग में चलीं, जो बाद में सप्तर्षी का मूल बनीं । इस युग में एक अन्य देवता—इन्द्र—की भी महिमा बढ़ चली । पहले यह धिक् था, अब महादेव और पशुपति हो गया । पारम्परिक विद्वानों की यह कल्पना है कि यह अनाम देवता था । विष्णु के तीन पणों की कल्पना का विकास भी इसी काल में हुआ ।

(ख) कर्मकाण्ड की बढ़िलता—ब्राह्मण युग के धर्म की दूसरी विशेषता याज्ञिक कर्मकाण्ड की बढ़िलता का बढ़ना था । ब्राह्मण-ग्रन्थों में इन यज्ञों की विस्तृत विधियाँ दी गई हैं । इससे सात होता है कि यज्ञों का आगन्तव्य बहुत बढ़ चला था । बड़े-बड़े यज्ञ राजाओं तथा धनियों द्वारा होते थे । राजाओं के यज्ञों में राजगृह, बाजोघ और अश्वमेध प्रधान । यज्ञों में पशु-बलि की प्रथा बढ़ रही थी ।

(ग) पशु-बलि के विकट आशोक्त—उत्तर वैदिक युग में पशु-बलि देने के विकट एक सहर चली । ऐसी पशुबलि है कि राजा पशु बैद्यों परिचर के समक्ष इस विषय पर बड़ा विवाद उठा । ऋषि जिने घन्ने की बाहुति देना चाहते थे, देवता बकरी की माँगते थे । पशु में फैलता माना गया, उसने देवताओं के धन में फैलता दिया, क्योंकि वही पड़ति पुरानी थी । किन्तु वह गुप्ता का पक्षपाती था, उसने अपने एक अश्वमेध में मृत्तियों के कण्ठानुसार अन्न की आहुतियाँ दीं । पशु द्वारा प्रयोजित यह सहर कर्मकाण्ड और तप के बजाय भक्ति पर चल देती थी । यह आशोक्त हमारे बाइबल में 'एकान्तिक' कहलाता है, क्योंकि इसमें एकमात्र हरि की एकाग्रता से भक्ति करने का भाव मुख्य था । भावी भक्ति-आन्दोलन का एक बीज यह भी था ।

यज्ञ-विरोधी आशोक्त—यह उपनिषदों के समय शुरू हुआ । इसने आचार पर चल देते हुए ज्ञान मार्ग की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करके यज्ञों का विरोध किया । कान्दोप उपनिषद (३।१७।४।५) में देवकी-पुत्र इन्द्र को और आदित्य ने सव की एक तरल रोति बताई । इस यज्ञ को खिन्ना थी—अश्वमेध, दान, सार्वभ, धौलता और सध । मूण्डकोपनिषद (१।२।७) ने योयमा की कि यज्ञ कृती तप की तरह है । कर्मकाण्ड-विरोधियों ने तप द्वारा पुनर्-विधि के त्याग पर नये मार्ग का निर्देश किया । दुर्यवर्त से विराम, इन्द्रियों का यज्ञीकरण, सत के संकल्प की इज्जा, सुविता, बागी और मन का संयम, तप, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा, धारिता, सत्य, सम्मह ज्ञान और

विज्ञान—इन सब उपायों से समाहित होने, आत्मा या ब्रह्म में स्थान लगाने से धीरे-
 उसकी भक्तिपूर्वक उपासना करने से मनुष्य परम पद को प्राप्त होता है। उपनिषदों
 के समय में धर्मतत्त्व-प्राप्ति, मुक्ति, कर्मवाद और पुनर्जन्म के विचार, जो इस समय
 हिन्दू धर्म की प्रधान विशेषता है, स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होते हैं। प्राचीन वैदिक
 युग के आर्यों ने अपने आत्मन्दमय जीवन में मुक्ति की चिन्ता नहीं की। आर्य-ग्रन्थों
 ने यज्ञों द्वारा स्वर्ग का विश्वास दिलाया, किन्तु उपनिषदों के समय का आर्य ऐसी
 किसी वस्तु से सन्तुष्ट नहीं हो सकता जो धर्मतत्त्व में प्राप्त करायें। मीमेयों के समय
 शब्द 'किमहं तेन कुर्याम् देनाहं सामुतां स्वाम्' इस युग की भावना पर सुन्दर प्रकाश
 डालते हैं। भारतीय दर्शन में संसार का दुःखमय होना, आत्मा की अमरता, मुक्ति
 की अलखती आकांक्षा का प्रागम्य इसी युग से हुआ।

सामाजिक जीवन

पूर्व वैदिक युग

विवाह-पद्धति—वैदिक समाज का आधार कुटुम्ब था। उस समय विवाह-
 संस्कार तो लगभग वैसा ही होता था जैसा आजकल होता है, किन्तु सामियों के
 चुनाव, विवाह-सम्बन्धी आदतों और स्त्रियों की स्थिति में बड़ा अन्तर था। वैदिक
 काल में युवक-युवतियों के विवाह गरिपन्थ आशु में होते थे। आत्म-विवाह की दृष्टि
 पद्धति का उत्तमोत्तम साहित्य में कोई निरुद्ध दृष्टिगोचर नहीं होता। युवक-युवतियों
 की अपना जीवन-सगी जुगल की काफी स्वतन्त्रता थी। विवाह पवित्र और स्थायी
 सम्बन्ध मिला जाता था। एक-दूसरे के उस समय का साधारण नियम था, किन्तु
 राज-कुलों में बहुतराईय भी प्रचलित था। फिर भी उसे सच्चा नहीं समझा जाता
 था। परपत्नी युगों की भाँति उस समय विधवा के लिए सती हो जाने का विधान
 नहीं था, उसे पुनर्विवाह का अधिकार था और पुनर्विवाह प्रायः देवर से किया जाता
 था। देह्य की प्रथा भी थी और देह्य लेकर लड़की देने की भी। इस युग में त्रयंवद
 की परिपाटी भी प्रचलित थी।

स्त्रियों की स्थिति—वैदिक समाज में स्त्रियों की स्थिति जितनी ऊँची थी
 उतनी बाद में नहीं रही। अन्त-जातियों के इतिहास में हम जितना पीछे की
 ओर बढ़ते हैं, स्त्रियों की स्थिति उतनी ही गिरी हुई दिखाई देती है। यह बड़ी
 बिलक्षण बात है कि भारत में वस्तु-स्थिति सर्वथा विपरीत है। वैदिक युग में स्त्रियाँ
 भी पुरुषों की तरह ही ऊँची शिखा प्राप्त करती थीं। कुछ महिलाओं ने साहित्य और
 ज्ञान के क्षेत्र में अत्यन्त प्रतिष्ठा प्राप्त की थी। योषा, मिथिलारा और सोमामुद्रा की
 ज्ञानदे के कुछ सूक्तों का जन्म होने का गौरव प्राप्त है। परिवार में स्त्रियों की बड़ी
 प्रतिष्ठा थी। विवाह के समय वधू को आशीर्वाद दिया जाता था कि तुम नये घर की
 सज्जादी बनो। अतः तथा सामिक कालों में पति और पत्नी का दर्जा बराबर का
 था। कोई पति पत्नी के बिना दुर्गम नहीं हो सकता था। सामिक कालों में पति-पत्नी

मिलकर हो पुरा करते थे। स्त्रियाँ सामाजिक जीवन में भूरा भाग लेती थीं। उस समय धर्म की और स्त्रियों की सामाजिक समानताओं से दूर रहने की गति नहीं थी। किन्तु स्त्रियों की इसमें ऊँची स्थिति होने हुए भी उस समय के मूल में पुरुषों की अपेक्षा पुरुषों की अधिक कामना की जाती थी।

जाति-भेद—उस समय वर्तमान काल का सा जाति-भेद प्रचलित नहीं था। जाति-भेद की कड़ी विशेषताएँ—प्रपत्नी जाति में ही विवाह करना तथा भोजन करना, ऊँच-नीच और धर्मस्थिता की भावनाएँ हैं। वैदिक युग के ग्रामों में न तो विवाह और भोजन-सम्बन्धी वस्त्र थे और न ही ऊँच-नीच के भाग। बंधा भेद धर्म और रास का था। दास ग्रामों से बाहर के समाज के तथा दूसरे रस (वर्ग) और नस्ल के मतार्थ थे। वर्ग वास्तव में ग्राम और मतार्थ दो ही थे। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य की कृता व्यवस्था थी, किन्तु यह विभिन्न पेशे वालों की श्रेणियों-भाग थी। सामान्य जनता विद्रोह कहलाती थी। मोटा और रबी अन्न कहलाते थे और पुरोहित ब्राह्मण। पीछे गन्ध का किया-कलाप बहुत बढ़ जाने से ब्राह्मण श्रेणी का बड़ा विकास हुआ। किन्तु इन सब श्रेणियों में परस्पर मान-मान और वैवाहिक सम्बन्ध होता था। अनेक धार्मिक समाज-कार्यों यह मानते हैं कि जाति-भेद के मूल तत्त्व ग्रामों से बनने लगे थे।

लान-पान, वेश-भूषा तथा मनोविनोद—ग्रामों का लान-पान बहुत सादा था। उनका प्रधान भोजन धान, दूध, पाचल (घीर) और जौ थे। वैदिक साहित्य में मूत्र, दण्ड आदि अनेक दालों का उल्लेख है। किन्तु समक का वर्णन नहीं मिलता। पत्तों में मोमरस के पान की परिपाटी थी। ग्रामों का वेश भी बहुत सादा था। शरीर के ऊपरी भाग के लिये एक छतरीय और निचले भाग के लिये एक अधोवस्त्र पहनने का रिवाज था। उष्णीष या पगड़ी भी बहुत पहनी जाती थी। कपड़े ऊँची या घससो के रेशे (सूत) के बने हुए होते थे। ब्रह्मचारी कुण्ड मृग की छान पहनते थे। पुरुष और स्त्री दोनों दोनों के हार, माला, कुण्डल, केयूर, काष्ठ, मुमुर आदि धाम्भ्य धारण करते थे। जरी का काम किये हुए और रंग-बिरंगे वस्त्र भी धारण किए जाते थे। बालों का कंकी और सुगन्धित तेलों से शृङ्गार किया जाता था। स्त्रियाँ प्रायः पैसों (मुत) धारण करती थीं। कुछ पुरुष बूँडा बाँधते थे। प्रायः बाड़ी रबी जाती थी, लेकिन हजामत का भी थोड़ा-बहुत प्रचलन था।

ग्रामों का सबसे अधिक प्रिय मनोरञ्जन, एकदोड़ और रबों की दोड़ था। कुएँ की बुराई भी प्रचलित थी। बूझा बहेड़े के गानों से खेला जाता था। श्रुवेद के एक सूक्त (१०।३४) में कुयारी की दुर्गा का बहुत सुन्दर वर्णन है। तीसरा मनो-विनोद नृत्य था। स्त्री-पुरुष दोनों इसमें भाग लेते थे। संगीत की भी काफी उत्पत्ति हो चुकी थी। धावात, फूँक और तार से बजने वाले दुन्दुभी, शृङ्ग, पणक, तबल और बीणा आदि वाद्य होते थे। दुन्दुभी का प्रयोग दुरमनों का दिव्य कहलाने के लिए होता था। वह ग्रामों का मारु बाजा था।

उत्तर वैदिक युग

उत्तर वैदिक युग का महत्त्व—इस युग में वर्णाश्रम-व्यवस्था का विचार परिपक्व हुआ। 'वास्तव में भारतीय संस्कृति और सभ्यता की मूल स्थापना इसी काल में होती है।' भारतीय जाति में, उसकी संस्कृति में, विचार और व्यवहार-व्यवृत्ति में और दृष्टिकोण में जो विशिष्ट भारतीयता है, वह इसी काल में प्रकट होती है। यों तो भारतीय संस्कृति का मूल प्राग्वैदिक और वैदिक कालों में है। लेकिन उन युगों में वह अभी तरल द्रव के रूप में बहती है। इस युग में ही उसकी ठोस बुनियाद पड़ती है। उसका व्यवस्थित मूर्त रूप धारण करता है। भगवान् मोक्षम बुद्ध के समय तक हम भारतीय जाति के जीवन में अनेक प्रथाओं, सम्प्रदायों, व्यवस्थाओं, पद्धतियों और परिपाटियों को स्थापित और बढमूल हुआ पाते हैं। इन सबसे वर्णाश्रम-व्यवृत्ति प्रधान है।

वर्ण-व्यवस्था—वैदिक युग में दो ही वर्णों के—धार्य और दास। दासों से बूना होना स्वाभाविक था। उनसे वैवाहिक सम्बन्ध बुरे समझे जाते थे। यह पहले उल्लेख ही चुका है कि धार्यों में भी काम और पैसे की दृष्टि से कई श्रेणियाँ बन रही थीं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इसी प्रकार के वर्णों थे। प्रत्येक वर्ण में कुछ ऊँच-नीच भी थी। वास्तव क्षत्रिय (राज्य) योद्धाओं और रथियों से ऊँचे थे और रथी मदाति सैनिकों से। वे तीनों वैश्यों से ऊपर थे। वर्णों का विकास होने से जो पुरोहित श्रेणी बनती, वह अपने ज्ञान, तपस्या और त्याग के कारण अन्य श्रेणियों में ऊँची समझी गई। दास क्षुद्र वर्ण में डाल दिये गए। उत्तर वैदिक युग के शासकगणों ने पहली बार चारों वर्णों के कर्त्तव्यों का स्पष्ट रूप में उल्लेख किया और उनके लिए दृढ़-पक्क नियम बनाए। यह बाद रखना चाहिए कि उस समय ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों में मान-पान और शारीर-व्याह के सम्बन्ध कठोर नहीं हुए थे। धर्म-सम्पत्ती श्रेणी तथा वर्ण में रीढ़ी-बैठी का सम्बन्ध हो ऐसी प्रवृत्ति तो स्वाभाविक होती ही है, वह उस समय भी रही होगी। लेकिन उस समय के वर्णों आश्रमों की तरह ज्ञान-प्राप्ति के तंग बाँधों में न बँधे थे। धीरे-धीरे इन बन्धनों में कटोरता आई। कुछ विद्वानों का यह कथन है कि धार्मिक जातियों (विशेषकर ब्राह्मणिक और क्षत्रिय) ने इस तरह के मान-पान और शारीर-व्याह के अनेक प्रतिबन्ध किये। उनके मन्त्रों में धर्म पर धार्यों से उनके प्रतिबन्ध पहले से ही विकसित विभिन्न श्रेणियों पर लागू कर दिए।

ऊँच-नीच तथा असम्बन्धता का विकास—इसी युग में विभिन्न वर्णों के ऊँच-नीचे होने तथा श्रेणियों को वर्णों के समकक्ष मानने की कुप्रथा का बीज रोना हुआ। ब्राह्मणों ने अपने ऊँचे होने का दावा किया। पहले यह बताया जा चुका है कि अपने ज्ञान, त्याग और तपस्या के कारण वे कुछ वर्णों में उनके अधिकारी भी थे। धिस्त-कारों को नीचे समझने की प्रवृत्ति का प्रारम्भ यही से होता है, इसका प्रमाण कारण वर्णों में बढ़ता हुआ पवित्रता का आच तथा सम्भवतः अनाथों द्वारा धिस्तों का पहना किया जाना था। एक ब्राह्मण-ग्रन्थ में स्वर्ग (बढ़ई) का स्वर्ग राज की अपवित्र करने

बाला कहा गया है। दूनों को भी यज्ञों के अधोगम समझकर उन्हें अस्पृश्य माना जाने लगा। पत्नि देवता को ही जाने वाली दूध को हवि दूध के नाम से अपवित्र समझी जाने लगी। किन्तु फिर भी अभी तक परवर्ती युगों की नीति दूध की अप्रतिष्ठा नहीं हुई थी। उसकी समृद्धि के लिए आर्धनार्ध की जाती थी।

आश्रम-व्यवस्था—इस काल में सामारण मनुष्य के जीवन को ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास के चार आश्रमों में बाँटा गया था। भारतीय विचारकों का यह मत था कि प्रत्येक व्यक्ति चार प्रकार के ऋण लेकर पैदा होता है—मनुष्यों, देवताओं, ऋषियों और पितरों का। मनुष्यों का ऋण अपने पड़ोसियों की सेवा और आतिथ्य से चुक जाता है, देवताओं का ऋण यज्ञों द्वारा उतारा जा सकता है। पितरों का ऋण यज्ञानुष्ठान और ऋषियों के ज्ञान का ऋण अध्ययन और व्यापन से चुकता है। प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि वह अपने ऋण उतारे। इसीलिए आश्रमों की व्यवस्था की गई है। पहले आश्रम में मनुष्य ब्रह्मचारी रहते हुए अपनी शारीरिक तथा बौद्धिक शक्तियों का पूर्ण विकास करता था। दूसरे में गृहस्थ होकर पितरों और मनुष्यों का ऋण उतारता था। वानप्रस्थ और संन्यास में वह ऋषियों के ऋणों से मुक्त होता था। वानप्रस्थों के आश्रम परिणाम मनुष्य, गृहस्थ, निर्भीक और निष्पक्ष विचारों के क्षेत्र होते थे। इन वानप्रस्थों और संन्यासियों ने राष्ट्र को अपरिमित लाभ पहुँचाया था। किसी अन्य देश में इस प्रकार के आश्रमों तथा उपयोगी सामाजिक संगठन का विकास नहीं हुआ।

स्त्रियों की स्थिति—पूर्व वैदिक युग से इस काल की स्त्रियों की स्थिति में अन्तर आने लगा था। इस युग के अन्त तक उनकी व्यवस्था काफी गिर चुकी थी। इसका बड़ा कारण स्त्रियों का दूधों के तुल्य समझा जाता था। इस युग में गर्भ-काण्ड की जटिलता बढ़ने के कारण घर स्त्रियों पतिपुत्रों के साथ बैठकर लूची पकानेकी नहीं कर सकती थीं। उनकी कुछ कियार्हें पुरोहिता करने लगे। पवित्रता के विचार से भी कुछ कट्टरपन्थी अनुधर्म के कारण उन्हें अपवित्र मानने लगे थे। इस समय में धार्य अर्थात् स्त्रियों से काशी विवाह करते लगे थे, अर्थात् स्त्रियों यज्ञ-कार्य को ठीक तरह सम्पादित नहीं कर सकती थीं। शास्त्रकारों ने उनसे यज्ञ अधिकार छीनने के लिए उन्हें दूध के समान वेदों का धर्माधिकारी बताया। इससे स्त्रियों का वैदिक अध्ययन बन्द हो गया और अध्ययन के अभाव में उनका बाल-विवाह भी होने लगा। इस युग में हम सर्वप्रथम गौतम धर्म-सूत्र में यह विचार पाते हैं कि स्त्री का विवाह उसके वचन में ही (अर्थात् अनुधर्म होने से पहले ही) कर देना चाहिए (प्रदानं प्रायुतोः)। मुषियों का जन्म इस समय से एक मुसीबत समझा जाने लगा। स्त्रियों से दास का अधिकार भी छीन लिया गया। फिर भी वे व्यवस्थाएँ अभी सर्वमान्य नहीं हुई थीं। वेदोंकी, धर्मोंकी कुछ स्त्रियाँ इस युग में भी ऊँची शिक्षा प्राप्त करती थीं और बड़े-से-बड़े विद्वानों के साथ विवाह करने की योग्यता रखती थीं।

मनोविनोद—इस युग में कई नये मनोविनोदों का विकास हुआ। खेलों (गुटों) ने अभिनय प्रारम्भ किये। औषधानाची अनेक बाँटों के साथ भाषाएँ ना गीत गाये गे। इस समय के जाकों में मो तार बाजे (धत-तन्तु) एक वाद्य का भी उल्लेख है। इस समय की भाषाओं ने बाद में महाकाव्यों का रूप धारण किया है।

राजनीतिक जीवन

पूर्व वैदिक युग

निर्गन्धित राजसत्ता धरण—वैदिक धर्म जाति कई जन-समूहों में बँटी हुई थी। इन 'जन'ों का मुखिया तथा शासक 'राजा' होता था। राजा प्रायः बशकमानस होता था। किन्तु उसे स्वेच्छाचार करने का निरंकुश अधिकार नहीं था। वह कुछ शक्तों से नियन्त्रित होता था, प्रजा राजा का वरण करती थी। वरण का अर्थ यह है कि उत्तराधिकारी के अभाव में वह तथा अधिकारी चुनती थी और उत्तराधिकारी को राजा होने की स्वीकृति देती थी। उस स्वीकृति से ही राजा का अभिषेक होता था और वह राज-वद का अधिकारी समझा जाता था। धरण द्वारा प्रजा के साथ राजा का एक प्रकार की प्रतिज्ञा या ठहाराव हो जाता था। अभिषेक के समय राजा से यह आशा रखी जाती थी कि वह इस प्रतिज्ञा को पूरा करेगा। यदि वह इस प्रतिज्ञा को तोड़ता था तो प्रजा उसे पदच्युत और निर्वासित कर देती थी।

समिति—प्रजा (विशः) अपने अधिकारों का प्रयोग समिति द्वारा करती थी। समिति समूची प्रजा को सम्मिलित होती थी और राज्य की बागडोर उसके हाथ में थी। इसका एक प्रति या ईशान होता था। राजा भी समिति में जाता था। राजा का पलायन, पदच्युति, पुनर्वापस आदि राजकीय प्रश्नों का विचार और निर्णय उसके प्रधान कार्य होते थे। उसके सदस्यों के सम्बन्ध में पूर्ण एवं निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। किन्तु इसमें शक नहीं कि इसमें धर्मशी, मूल, रथकार और कर्मर (लोहे तथा लोहे के हथियार बनाने वाले) अवश्य सम्मिलित होते थे। इस प्रकार यह एक प्रतिनिधि संस्था प्रतीत होती है।

ग्राम—समिति के अलावा एक अन्य संस्था समा होती थी। यह समिति से छोटी थी तथा राष्ट्र के प्रधान ग्वावामय का काम देती थी। अनेक ग्राम भी अपनी समा होती थी। इनमें आवश्यक कार्यों के बाद विनोद की बातें भी होती थी और तब वह मोठ्ठी का काम देती थी।

अधिकारी तथा रथी—राज्य के प्रमुख अधिकारी पुरोहित, सेनापति और ग्रामणी (ग्राम का नेता) थे। राज्याभिषेक के समय ये तथा मूल, रथकार, कर्मर राजा को राज्य का सांकेतिक चिह्न पलाय-वृक्ष की बाल—दर्श (मणि) या रत्न देते थे। अतएव इन्हें 'रत्नी' कहते थे। राजा अभिषेक से पूर्व इनकी पूजा करता था। प्रजा की रक्षा शत्रुओं से बड़ना, शान्ति के समय गज आदि करना राजा के

मुख्य कर्तव्य थे। राजा अपने कर्तव्यों का पालन करते हुए जन्म से बलि या चाग (कर) देने का अधिकारी था।

गण-सम्बन्ध—कुछ राज्यों में राजा नहीं होता था, समिति ही देश का शासन करती थी। इस प्रकार के राज्य धराजक जन कहलाते थे। जादवी या वैतहव्य या वीतिहोय इसी प्रकार का राज्य था।

उत्तर वैदिक युग

राजाओं की शक्ति में वृद्धि—इस युग में पुराने राजा नये-नये प्रदेशों की विजय से अपना राज्य-विस्तार कर रहे थे तथा अपनी शक्ति बढ़ा रहे थे। इस समय राजाओं में सामंभौम होने अथवा समुद्र-पर्यंत पृथ्वी के एक राष्ट्र होने की होश सज रही थी। सभी 'पारमेष्ठ्य, माहाराज्य आधिपत्य' के लिए आत्मावित थे। धान में मगध, विदेह, कौलिन के राजा साम्राट की पदवी धारण करते थे। इसी युग में राजा राजसूय, अश्वमेध और वाजपेय आदि यज्ञ करने लगे थे।

राजा का नियन्त्रण—फिल्लु शक्ति बड़ जाने पर भी राजा पूर्ण रूप से निरंकुश नहीं हो पाये थे। राज्याभिषेक के समय उन्हें मही में उतरकर बाहणों की प्रणाम करना पड़ता था तथा उनके रक्षण की प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी। उसके अधीनस्थ अधिकारी सूत और ग्रामणी इतने अधिक महत्त्वपूर्ण थे कि उन्हें 'राजा की बनाने वाला (राजकुलः)' कहा जाता था। राजा के निधन के लिए सभा और समिति नामक संस्थाएँ इस युग में भी थीं। राजा की समृद्धि के लिए राजा और समिति का वारसंस्म (एकता) आवश्यक संयोजक जाता था। अत्याचारी राजाओं को जनता के कोप का शिकार होना पड़ता था।

शासन-प्रणाली—इस युग में शासन-प्रणाली भी सामाजिक संस्थाओं की नीति स्थिर आधार धारण कर रही थी। इस समय राजा समेत १२ रत्नों वा राज्याधिकारी होते थे—१. सेनानी, २. पुनोहित, ३. राजा, ४. महिषी-(पटरानी), ५. सूत (राज्य का वृत्तान्त रखने वाला), ६. ग्रामणी (गांव का, राजधानी का या राज्य के गांवों का नेता), ७. धरा (राजकीय कुटुम्ब का निरीक्षक), ८. संपरीता (कोषाध्यक्ष), ९. भागदुष (कर एकत्र करने वाला मुख्य अधिकारी), १०. धधवत्स (हिराव रखने वाला मुख्य अधिकारी), ११. गोविकर्ता (जंमलाठ का निरीक्षक), और १२. पात्तायल (सर्वेक्षक)। इसी समय से नियमित शासन-तन्त्र शुरू हुआ। तीनों गांवों का प्रकटर पति और सीमान्त का शासक स्थापित कहा जाता था।

पुलिस के अधिकारियों की इस समय उग्र या बीषवध कहते थे। राजा का कार्य पूर्ववत् विदेशी शत्रुओं से रक्षा करना, शासन और न्याय का प्रबन्ध करना था। न्याय कार्य 'अभ्यक्ष' तथा पूर्व वैदिक काल की सभाएँ करती थीं। गांवों के छोटे मामलों का फैसला गांव की सभा और 'ग्राम्यवादी' (गांव का जज) करता था।

गण-राज्य—इस युग में पश्चिम के गौराष्ट्र, काठियावाड़ (कच्छ) और सोनीर (वायुनिक सिन्ध) तथा हिमालय के उत्तर कुच्यों में गण-राज्य व्यवस्था प्रचलित थी। पश्चिमी राज्यों की व्यवस्था का नाम स्वराज्य था। उत्तरी प्रदेश में वैराज्य (राजा-विहीन राज्य) शासन-प्रणाली थी।

आर्थिक जीवन

पूर्व वैदिक युग

घासों की प्रधान आजीविका पशु-पालन थी। पशुओं में गो-पालन पर सबसे अधिक बल था। वैदिक प्रार्थनाओं में मोषण की सबसे अधिक माँगा गया है। गौशौ को दिन में तीन बार दुहा जाता था। बेल सेती और गायी बीचन में प्रयुक्त होते थे। घोड़े लड़ाई तथा रथों की दौड़ के लिए पाले जाते थे। घग्ग पालतू पशु भेड़, बकरी और कुत्ते थे। कुत्ते पशुओं की रखवाली और शिकार के लिए रखे जाते थे। बिल्लों को उस समय तक नहीं पाला गया था।

दूसरी प्रधान आजीविका कृषि थी। कृषि केवल वर्षा पर निर्भर नहीं थी, नहरी (कुल्पाओं) द्वारा भी सिंचाई होती थी। प्रधान रूप से मवेशी पालने की जाती थी। मृगया तामरी आजीविका थी। तीर-कमान, पाश से और सूँडे की शिकार किया जाता था। डेर और हिरन का शाल्वेड प्राप्त होता था।

शिल्प—इस युग में शिल्प की पर्याप्त उन्नति हुई। प्रधान शिल्प रथकार या बड़ई का था। यह युद्ध के लिए रथ और कपि के लिए हथ और गाड़ियाँ बनाता था। दूसरा काम धातु का काम करने वाले कर्मार (सुहार) का था। वह धातु के वस्तुएँ बनाता था। धातु को कुछ विद्वान् ताँबा समझते हैं और कुछ सोना या काँसा। इसके अतिरिक्त चमड़ा कमाने का शिल्प भी प्रचलित था। शिप्याँ चलाई की कुत्ताई का तथा कताई का काम करती थीं। यह बात ध्यान देने योग्य है कि पिछले काल में शिल्प करने वालों की ज़ेना नीच समझी गया, वैसी स्थिति वैदिक युग में नहीं थी। सब ऐसे सम्मान्य समझे जाते थे और यह पहले बतलाया जा चुका है कि रथकार और कर्मार राजा के अधिकारियों में गिने जाते थे।

सम्पत्ति तथा वित्तिय—घासों की अच्छी सम्पत्ति भूमि और चर सम्पत्ति प्रधान रूप से पशु थे। जमीन खरीदने-बेचने की प्रथा नहीं थी, उसकी धारणकर्ता भी नहीं थी, क्योंकि जंगल साफ करके उसे खोज बनाई या नकली थी, लेकिन, धन सम्पत्ति का जेन-देन काफी था। मुद्रा का प्रचलन नहीं के बराबर था, वस्तु-विनिमय ही चलता था, भाव-लाभ में काफ़ी हज़मत होती थी, विनिमय में माय सिके का काम होती थी। मित्र नाम का सोने का सिक्का चलता था, पहले यह आभूषण-साधन था। उस समय भी स्वयं जेन-बेचने का रिवाज था। तुर में हारना प्रायः शून्य का कारण होता था। शून्य न चुकने से दास बनना पड़ता था।

साधार—वैदिक धर्म ग्रंथों में रहते थे। उसमें व्यापार का विशेष विकास नहीं हुआ था। धर्म नामक व्यापारी जाति का उल्लेख अवश्य मिलता है, लेकिन वे धर्मार्थ या धनुर होते थे। सदियों पार करने के लिए नौकाएँ तब चलती थीं, लेकिन समुद्र में जाने-जाने वाली नौकाएँ थी या नहीं इस बारे में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। वेद में सिन्धु और समुद्र शब्द का प्रयोग है, लेकिन वेदों में पतवार, पाय, तमर, और मस्तूल का वर्णन न होने से कुछ विद्वान सिन्धु का घर्ष बड़ी नदी करते हैं। दूसरी ओर अन्य विचारकों की यह धारणा है कि भारतीय व्यापारियों की नौकाएँ तट के साथ साथ ईरान की सीमा तक जाती थीं। हमारे मत में वैदिक सभ्यता प्राच्य पड़ती है।

उत्तर वैदिक युग

इस समय ऊँची प्रमाण प्राचीनता बन चुकी थी। एक हस्त में २४ बैल तक बोते जाने लगे थे। खाद का बूब प्रयोग होते लगा था। किन्तु प्राकृतिक विपत्तियों से दुर्भिक्ष भी पड़ते थे। टिड्डी-बल द्वारा जर्मिण एक ऐसे ही प्रकाश का उल्लेख उपनिषदों में है। व्यापार बन्द रहा था। शतपथ ब्राह्मण की दल-प्रलय की कथा के आधार पर कुछ विद्वानों ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि उन दिनों भारत और मेशोपोटामिया का सम्बन्ध था। निष्कर्ष के प्रतिरिक्त अतमान और कृष्णल के निष्कर्ष भी चलने-जाने से व्यापारियों ने गर्णों के रूप में धर्म संमटन बनाने शुरू कर दिये थे। उद्योग-धन्यों में धर्म-विभाजन बढ रहा था। अनेक नये धर्म निकल रहे थे। धर्मवेद में धर्मिष्ठ गर्णों की विलंब गणना है। इसी समय से नई और ज्योतिषी के धर्म शुरू होते हैं। सिन्धु बस्ती की रंगई और कड़ाई के द्वारा धार्मिक जीवन में भाग ले रही थीं।

वैदिक संस्कृति की विशेषताएँ—भारतीय संस्कृति के निर्माण में वैदिक धर्मों ने सबसे अधिक भाग लिया, अतः यहाँ हमें स्पष्ट रूप से यह जान लेना चाहिए कि इसमें कतरी विशेष देने क्या थी। इनकी निम्न विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं— (१) सहिष्णुता और सामंजस्य का भाव, (२) धर्मनिरपेक्षता, (३) ज्ञान-विज्ञान का विकास, (४) तपोवन-महति, (५) वर्णाश्रम-व्यवस्था, और (६) मानवों की मान्यता। मान्यता दो पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है। अतः यहाँ पहली बार का ही प्रतिपादन किया जा रहा है।

सहिष्णुता का भाव—धर्म इस देश के विशेषता है। उन्होंने साहचर्यता, उत्तरे तथा मध्य धर्मों का धर्मोपनिषद धार्मिकों की तथा पुरानी जातियों का गहरा नहीं किया किन्तु इज्जत पर हमला करने वाले एन्नों नैकमन लोगों की भाँति के पक्षों की मूल जातियों से धूलमिल गए। दोनों के धर्म में एक सुन्दर सम्मिश्रण हुआ। धर्मों ने पश्चिमी धर्मों के देवता और पूजा-महति की स्वीकार की, किन्तु उनका परिवर्तन कर दिया। ब्राह्मण-धर्मों में जो बटल धर्मकाण्ड है, कोय प्रभृति धर्मोपनिषद विद्वान् उसका मूल लोक-व्यवस्था-विधि-विधान समझते हैं। उदाहरणार्थ—धर्मों के

तपोवन-पद्धति—उत्तर वैदिक युग में इस पद्धति का विशेष रूप से विचारत हुआ; रामायण, महाभारत में इसका काफी वर्णन पाया जाता है। भारतीय संस्कृति के प्रकार तथा ज्ञान-विज्ञान के विकास में इसने बड़ा भाग लिया। पुराणों में ऋषि-मुनियों के जंगलों में जाकर तपस्या करने तथा भौतिक फल पाने की अनेक वधाएँ हैं। राजकल तपस्या का सर्व आत्ममीकृत या आर्योक्त पातक सम्पन्न जाता है। किन्तु प्राचीन काल में निर्धनकारी कबीलों और गुलों को तिलाकलि देकर किसी ऊँचे धारसी या उद्देश्य के लिए अनन्य मिष्टा और एकलता के साथ उग्र परिश्रम करना ही तपस्या कहलाती थी। अर्योक्त ने भग्न की धार नियमित करने के लिए जो अनन्य और उग्र परिश्रम किया, वह आज तक अविद्य है। प्राचीन ऋषियों के जंगलों में जाकर तपस्या करने का धर्म यही प्रतीत होता है कि वे उन जंगलों में ज्ञान के केन्द्र स्थापित करके ध्यानान्धकार का नाश करें, जंगली जातियों को सम्पन्न बना पाठ पढ़ाएँ, उन्हें उच्चतर नैतिकता और धर्म की दीक्षा दें। प्रायों के प्रागमन से पहले भारत दक्षिण भारत राजस आदि प्रान्त जातियों से प्रभावित था। बहुविध भगस्य सबसे पहले उस प्रदेश में लगे और उन्होंने वही तपोवन स्थापित करके ज्ञान का आलोक फैलाना शुरू किया। उनके धर्तिरक्त बड़ा सुयोग्य, धरजन धादि के आश्रम भी अपने पड़ोस की जंगली जातियों को सम्पन्न बना रहे थे।

साधकों का दूसरा कार्य ज्ञान का विकास, प्रचार और उन्नति थी। ऋषि कबीलों के मुख्य एकान्त में पारलौकिक और धार्मिक सम्स्याओं पर विचार किया करते थे। श्रद्धामु जिज्ञामु दूर-दूर से उनके घरों में बैठकर ज्ञान प्राप्त करने आते थे। उस समय के सबसे बड़े विश्वविद्यालय यही थे। इन्हीं में धारण्यक छात्रों का तथा उपनिषदों का निर्माण हुआ। दार्शनिक विचार की ऊँची-से-ऊँची उड़ानें ली गई। इन्हीं में आचार-शास्त्र और धर्म की गहन ध्वनियों सुनवाई गई। तपोवन प्राचीन हिन्दु संस्कृति का एक प्रधान मूल स्रोत थे। हमारे ब्राह्मण के एक बड़े भाग का निर्माण इन्हीं में हुआ; रामायण, महाभारत, धर्मसूत्र, स्मृतियाँ इन्हीं के शान्त आवासरण में लिखी गई।

रामायण और महाभारत तथा तत्कालीन भारत

रामायण और महाभारत हमारे जातीय महाकाव्य हैं। इनमें वर्णित धर्म, आचार-व्यवहार के नियम, संस्कार, व्यवस्थाएँ और प्रथाएँ, हमारी कपे बीत जाने पर आज भी हमें प्रेरणा दे रही हैं और हमारी जाति के जीवन के निर्माण में वे प्रमुख भाग ले रही हैं। भारतीय जीवन की वास्तविक आधार-शिला यही हैं। रामायण की रचना महर्षि वाल्मीकि ने लोगों को मानव-जीवन के सर्वोत्कृष्ट पाठशे बताने के लिए की थी। रामायण और महाभारत का राजमहल के लेकर कुटिया तक संबंध प्रसार है। हमारी कपे से भारतवर्ष के गाँव-गाँव और घर-घर में प्रतिदिन इनकी कथा होती चली आ रही है। इनमें भारत की आत्मात-बुद्ध-व्यक्ति जनता ने केवल धामन ही नहीं पाया, बल्कि शिक्षा भी बहुत की है। वह इन्हें हृदय में ही नहीं रखती बल्कि शिरोधार्य भी करती है। वे उनके लिए काव्य ही नहीं, धर्म शास्त्र भी हैं। वे हमारे धर्म का प्रधान मूल स्रोत, सामाजिक आचार का मंदिर और संस्कृति के पाण हैं। यहाँ पहले दोनों के काल तथा महत्त्व का उल्लेख करके अन्त में इनमें सूचित होने वाली तत्कालीन संस्कृति पर विचार किया जायेगा।

रामायण का रचना-काल—रामायण का रचना-काल ५०० ई० पू० से पहले का है। रामायण की कथा निःसन्देह बहुत पुरानी है। किन्तु उसके वर्तमान रूप का अधिकतम भाग छठी शती ई० पू० में लिखा गया प्रतीत होता है, क्योंकि इन शती में मगधान् बुद्ध के प्रादुर्भाव के समय हम पहली बार आवश्यक, गार्हपत्य और उत्तरी बिहार में वैशाली राज्य का उल्लेख पाते हैं। बुद्ध के समय रामायण की समोष्मा का स्थान आनन्दी से मुकी भी और जनकपुरी निषादा के महत्त्व का भी अन्त हो चुका था। इसी प्रकार रामायण पर बौद्ध धर्म का भी कोई प्रभाव नहीं है। किन्तु, बौद्ध धर्मकों में रामायण की कथा है। अतः इसमें कोई सन्देह नहीं रहता कि उसकी रचना बौद्ध-साहित्य से पहले हुई है। किन्तु इसमें कोई एक काफ़ी प्रमाण होने रहे और ऐसा प्रतीत होता है कि ईसा की पहली शती तक इसका वर्तमान रूप पूर्ण हो चुका था।

महाभारत का रचना-काल—महाभारत के विकास में रामायण से भी अधिक समय लगा। उसकी मूल कथा तो त्राष्ट्र-ग्रन्थों के समूह (१००० ई० पू०) में अवलम्ब प्रचलित थी, क्योंकि इनमें कुर्वाण, परीक्षित, भरत और धृतराष्ट्र का उल्लेख है।

उसके बाद अनेक घटितियों तक महाभारत की कथा 'सूरी' (जायन्ती) की रचना पर फलती-फूलती रही। उसमें अनेक परिवर्धन होते रहे। ५०० ई० तक (कुल विद्वानों की सम्मति में ४०० ई० तक) इसका वर्तमान बहुलवचन पुरा हो चुका था। इसका अन्तिम संस्करण २०० ई० यु० में नागबाह्वन युग में हुआ। स्वयं महाभारत में इसके अधिक विकास का स्पष्ट उल्लेख है। "व्यास ने तीन वर्ष तक लगातार अरिषड करके इसकी रचना की, उन्होंने इसे अपने शिष्य वैशम्पायन की स्मृता। वैशम्पायन ने धर्म्युत के प्रभौष जनमेजय की तथा भीमसेन चार भीमहर्षण के पुत्र भीति ने यह कथा धौनिक आदि ऋषियों को सुनाई। व्यास के पुत्र का नाम 'व्य' था। इसके श्लोकों की संख्या ८,८०० थी, वैशम्पायन ने इसे बढ़ाकर २४,००० श्लोकों का 'भारत' बनाया और भीति ने भारत में और भी शाक्यान, उपासमान जोड़कर, 'हरिवंश' नामक परिशिष्ट के साथ इसे एक लाख श्लोकों का 'महाभारत' बनावा।

रामायण का महत्त्व—भारतीय संस्कृति में रामायण का विशेष महत्त्व इस बात में है कि उसने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र के, विशेषतः गृहस्थ धर्म के, जितने उच्चतम और विविध प्रकार के आदर्श लोकप्रिय और मनोरंजक रूप से प्रस्तुत किये हैं, उतने अन्य किसी ग्रन्थ ने नहीं किये। यह इसका विशाल भंडार है। आदर्श पिता, आदर्श माता, आदर्श पति, आदर्श भती, आदर्श राजा, आदर्श प्रजा, आदर्श धर्मोत्सा—सारांश यह कि सब प्रकार के आदर्श इसमें हैं। सदियों से ये आदर्श हमारे वैयक्तिक और राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण करते रहे हैं। हमारे देश की सांस्कृतिक एकता का एक बड़ा कारण यही आदर्श हैं। बाल्मीकि का उद्देश्य ही मर्यादा-धुर्योत्तम राम का चित्रण करना है। रामायण के अन्य चरित्र को प्रधान रूप से एक आदर्श का चित्रण करते हैं, किन्तु राम अनेक आदर्शों का गुच्छ है। वे पिता की आज्ञा शिराधार करके वन जाने वाले आदर्श पुत्र, भाई के लिए गद्दी छोड़ने वाले आदर्श भाई, सीता का राजपूत से उधार करने वाले आदर्श पति और अपनी प्राणादिका विपत्तिका को कानूनरक्षक के लिए परित्याग कर देने वाले आदर्श राजा हैं। राम-राज्य धर्म एक आदर्श राज्य माना जाता है। सीता भारतीय नारीत्व की साक्षात् प्रतिनिधि है। भाई लक्ष्मण हज़ारों वर्षों से उनके उदात्त उदाहरण का अनुसरण करती आ रही हैं। कौशल्या-जैसी माता और भरत और लक्ष्मण-जैसे भाई सर्वदैव हिन्दू समाज में अनुकरणीय माने जाते रहे हैं।

महाभारत की महिमा—महाभारत केवल कौरव-पाण्डवों के संघर्ष की कथा ही नहीं, किन्तु भारतीय संस्कृति और हिन्दू धर्म के सर्वांगीण विकास का प्रदर्शक एक विशाल विश्व-कोष है। इसमें उस समय के सामिक, नैतिक, धार्मिक और ऐतिहासिक आदर्शों का समूल्य और सक्षम संग्रह है। महाभारत की इस उक्ति में तेष-नाथ महादेव नहीं कि वह सर्वप्रधान काव्य, सब वर्णों का चार, स्मृति, इतिहास और चरित्र-चित्रण की गान तथा पञ्चम वेद है। मानव-जीवन का कोई ऐसा पहलू या समस्या नहीं जिस पर इसमें विस्तार से विचार न किया गया हो। ज्ञानि पर्व और अनुशासन पर्व

तो इसी दृष्टि से लिखे गए हैं। इसीलिए महाभारत का यह दावा सर्वथा सत्य है कि 'धर्म, धर्म, काम और मोक्ष के विषय में जो हमने कहा गया है वही सत्य है, जो हमने नहीं है वह कही नहीं है' (महिहास्ति सत्यमथ मग्नेहास्ति न सत्यमथैव)। ऋग्वेद के बार यह संस्कृत साहित्य का सबसे देवीप्यमाल रत्न है। विस्तार में कोई काम इसकी समता नहीं कर सकता। गुनागियों का इतिवृत्त और ओवेनों मिलाकर इसका घाठवी हिस्सा है। इसका सांस्कृतिक महत्त्व इसी समय स्पष्ट है कि हिन्दू धर्म का सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ 'भगवद्गीता' इसी का अंग है। भारत या भारत से बाहर कहाँ कहीं भी हिन्दू संस्कृति का प्रसार हुआ, वहाँ रामायण के नाम-नाम महाभारत का भी प्रचार हुआ। दूसरी घटी ई० पू० में सूतानी राजकुल इसके उपदेशों को उद्धृत करते हैं और घटी सती ई० में सुदूर कर्चोदिया के मन्दिरों में इसका पाठ होते लगता है। गालनी घटी में मंगोलिया के तुर्क प्रसनी भाषा में हिहिम्बा-व्य भादि उपाख्यानों का ध्यान से ले लगे हैं, इसी घटी में जहाँ की लोक-भाषा में इसका अनुवाद हो गया है।

दोनों महाकाव्यों का काल एकल होने पर भी वे प्रथम रूप में प्राच्य-काव्योत्त संस्कृति के उस काल पर प्रभाव डालते हैं जब हिन्दू धर्म और समाज का रूप काफी सुस्थिर हो चुका था। इनमें भारतीय संस्कृति के सब प्रथम विचार वर्तमान-अवस्था, जन्मान्तरवाद, आत्मा की घमरता, कर्मवाद, उदारता और सहिष्णुता मिलते हैं। यद्यपि रामायण अग्नेयाहुत पहले काल की दशा का दिग्दर्शन कराती है तथापि दोनों मोटे तौर से उत्तर वैदिक युग के अन्तिम भाग की भारतीय संस्कृति के परिचायक हैं।

धार्मिक दशा

नये देवता—वैदिक युग के महाकाव्य-युग के धर्म में बड़ा अन्तर था गया था। पहले युग की प्राकृतिक शक्तियों के मुख्य इन्द्र, अग्नि, उषा आदि देवताओं का स्थान अब स्कन्द, विष्णु और वैद्यक्य-जैसे देवता लेने लगे। ब्रह्मा, विष्णु, महेश की त्रिमूर्ति का उत्कर्ष हुआ। वैदिक काल में प्राकृतिक शक्तियों देवता बनती थीं; धर्म और धर्म इस पर को पाने लगे। औराम रामायण के मूल धर्म में अनुप्राण है, किन्तु बाए के धर्मों में विष्णु का अग्रदूत बन जाते हैं। इस समय शाक्यारों ने नये देवी-देवता प्रवृत्त करने का एक सुन्दर उपाय खोज निकाला था। जिस तरह वैदिक युग में सब देवता एक अद्वयत्व की विभिन्न शक्तियों के मुख्य-से, उसी प्रकार ने सब शक्तियों की तीन मुख्य उत्पादक, धारक और सहायक शक्तियों के प्रतीक ब्रह्मा, विष्णु, महेश के विविध रूप बने। विभिन्न सम्प्रदायों की धार्मिक कटुता का इन इसी उपाय से किया गया। इस युग में विष्णु के भक्त भक्तियों का परिचराली तथा शिव के उपासक पाशुपतों का प्राधान्य था। धर्म का उत्पादक और सम्प्रदाय भी प्रवृत्त हो रहा था। इनके धार्मिक विचारों के बावें आदि की एकता के विच्छेदन की सम्भावना थी। इस संकट के निवारण के लिए यह कल्पना की गई कि धामधर्मों के उपास्य देवता

विष्णु ही पादुपदों के धाराध्य देव शिव है (म० भा० ३:३६:७६-७७) । महाभारत के एक ही पर्व में शिव और विष्णु की सहस्र नामों से स्तुति है ।

भक्ति की प्रधानता—इस युग की दूसरी विशेषता भक्ति की प्रधानता है । वैदिक युग में कर्मकाण्ड पर अधिक बल था, उपनिषदों ने ज्ञान को प्रधान बतलाया, किन्तु धर्म भक्ति की महिमा बहुतें संगी । भक्ति द्वारा भगवान् की धाराधना करके उसे प्रसन्न किया जा सकता था । इस आन्दोलन के नेता श्रीकृष्ण थे । पहले यह बतलाया जा चुका है कि श्री गंगिरस ने श्रीकृष्ण को नये प्रकार के यज्ञ का उपदेश दिया था । महाभारत के समय महापुरुषों की देवता बनाने की जो प्रवृत्ति थी उसीने कृष्ण को भी भगवान् बना दिया । बाद में उसी की भक्ति पर बल दिया जाने लगा ।

धाम-यज्ञ—यज्ञ-यज्ञ के स्थान पर महाभारत में भक्ति पाने के लिए धाम-यज्ञ, धाम-संयम और चरित्र-बुद्धि पर बल दिया गया है । रामायण के समय तक यज्ञों की काफी महत्ता थी । महाभारत के समय भी वे सर्वथा लुप्त नहीं हुए थे । किन्तु विचारकों ने स्पष्ट रूप से यह कहना शुरू किया कि उन कृतायुषी यज्ञों की करने का क्या लाभ, जिनसे स्वर्ग आदि धार्मिक फल प्राप्त होते हैं । सच्चा यज्ञ तो संयम, प्रहिमा, तुष्ट्या, क्रोध का परित्याग, संयम, वैराग्य और स्थान है । इनकी साधना करने वाला वह फल प्राप्त करता है जो हजारों यज्ञों से भी नहीं प्राप्त हो सकता । ध्यान-बुद्धि सबसे बड़ा धर्म है ।

गीता का मध्य-मार्ग—इस युग में भारतीय धर्म का सर्वोत्कृष्ट रूप हमें भगवद्गीता में मिलता है । यह इतना महान् है कि इसके सब धर्मस्थापना, सब धर्मों, सब धर्मों और जातिधर्मों को अपने-अपने विश्वासों के अनुसार मोक्ष पाने की स्वतन्त्रता है । गीता ने पूर्व कर्मकाण्डी यज्ञों पर बल दे रहे थे, तपसों तप की महत्त्वपूर्ण समझते थे । पिछले धर्म के मत में दुनिया से मुक्ति तब तक नहीं हो सकती थी जब तक कि दुनिया से भागकर योगाभ्यास न किया जाय । किन्तु श्रीकृष्ण ने सत्य मार्ग का उपदेश दिया । योग की निम्न न तो कुछ तप से और न ही भोग-विभोग से होती है—जिसका आहार-विहार, जेप्टाएँ, निद्रा और जगरण अनुचित है उसी का योग दुःख दूर करने वाला है (३:११) । श्रीकृष्ण भक्त मोक्षियों की तरह इन्द्रियों के व्यापार और काम कृति के समन पर धर्मविकल नहीं होते थे । उनका तो कहना ही नहीं था कि मैं 'धर्मविशिष्टी काम हूँ' वे योग के लिए निमित्त संन्यासियों का-ना जोवन नहीं पसन्द करते थे । उनका मन्त्र तो यह था कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने कर्तव्य का पूरा पालन करना चाहिए । इससे उसे मुक्ति और ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति होगी । महाभारत में कई उदाहरणों द्वारा इस सिद्धान्त की पुष्टि भी की गई है । कनक में सात-बैठने वाले व्यास ने ब्राह्मण को उत्तम-ज्ञान दिया है (विष्णु १-१-२२४) । इसी प्रकार शान्ति-धर्म में जातिधर्म नामक बन्धने ने सत्यवी ब्राह्मण की यह बतलाया कि उसने कभी कभी नहीं मारी, इसीलिए उसे ब्रह्म-ज्ञान मिला है

(ख० २६०-२६३) । गीता की प्रधान मिशा कर्म को धामा छोड़कर, निष्काम बुद्धि से धरना कर्त्तव्य-पालन करने की है ।

सर्वभोज धर्म—गीता ने न केवल स्वधर्म-पालन पर बल दिया, यणितु उसका साथ ही उसने मोक्ष का द्वार खोलकर समाज के लिए खोल दिया । गीता ने पहले धुक्ति के दो ही माधन थे—याद और ज्ञान । दोनों का केवले में प्रविष्टादन होने से उनका अधिकार केवल-बाह्य, अस्थिर, वैश्व को ही था । (वे० सू० १।१।३।४।५) । गीता ने पहली बार जिनको तथा नीच जातियों को भी उसमें गति पाने का अधिकार दिया (१।३२) । भगवद्गीता द्वारा स्त्री, वैश्य, शूद्र और अल्पज जाति निम्नजनों, शीघ्र जनों में उल्लेख सभी मोक्ष के अधिकारी समझे गए । श्रीकृष्ण ने इस क्षेत्र में स्त्री-पुरुष, धर्म-धनार्थ सभी प्रकार का भेद मिटा दिया । गीता में इसे सर्वभोज धर्म में स्पष्ट ज्ञान कहा गया है । इसके साथ ही श्रीकृष्ण ने पूजाविधियों की विविधता को भी स्वीकार किया । वह धारण्यक नहीं कि किसी एक विहित रूप में ही भगवान् की उपासना की जाए । जो लोग श्रीकृष्ण की उपासना करते हैं वे तो मोक्ष के अधिकारी होते ही हैं किन्तु श्रीकृष्ण के यत्नानुसार जो किसी भी धर्म-देवता का यज्ञार्थक स्मरण करते हैं, वे भी भगवान् की ही भक्ति करते हैं (गी० १२।३) । वे पशु-पुत्र जो कुछ भी जाते हैं भगवान् उसे स्वीकार करते हैं । इस प्रकार गीता के सर्वभोज धर्म में किसी प्रकार के देवता या पूजा-पद्धति का विषय नहीं । वह जाति, देव और सम्प्रदाय के सभी प्रकार के कर्मों से ऊपर उठा हुआ है । श्रीकृष्ण ही सर्वभोजः संसार में सर्वभोज धर्म के पहले प्रचारक थे ।

धर्म का पालन—गीता तथा महाभारत ने इस बात पर बल दिया कि मनुष्य का मुख्य कर्त्तव्य धर्म का पालन है । धर्म का तात्पर्य किसी विशेष देवता की पूजा ही नहीं, बल्कि ईमानदारी से और नैतिकता पूर्वक जीवन-यापन करना था । भारतीय बुद्धि से साधारण-बुद्धि और धर्म पर्वत है । वह भी स्मरण रखना चाहिए कि धर्म का पालन किसी विशेष लाभ के उद्देश्य से नहीं होना चाहिए । उसका पालन धर्म के लिए ही होना चाहिए । बुध्तिधर ने बलिते की भावना से धर्म-पालन करने वालों की और बिना की है । धर्म के मार्ग पर चलते हुए बड़े कष्ट उठाने पड़ते हैं । रामायण और महाभारत में सबसे अधिक कष्ट यमोदाराओं—श्रीराम और बुध्तिधर—को उठाने पड़े । फिर भी वे अपने मार्ग से विचलित नहीं हुए । दोनों महाकाव्यों की एक प्रधान मिशा यह है कि कठोर-से-कठोर सकट और विपत्ति में भी हमें अपने धर्म और कर्त्तव्य का त्याग नहीं करना चाहिए ।

ज्ञान—इस समय तक एहो भारतीय धर्मों के मूल विचारों का विकास हो चुका था, किन्तु धर्मो उसमें कमबद्धता और बुध्तिधरता नहीं आई थी । इस समय तक वे निमोषावस्था में थे, उन्होंने पृथक् सम्प्रदायों का रूप धारण नहीं किया था । इस बात में सभी भीमोसक थे कि वे वैदिक विधियों का पालन करते थे । सांख्य योग का

अश्वत्थामा में स्पष्ट विद्वेष है। उन दोनों को पुनः बदमाने वालों को 'बाल' यर्षातु नामसम कहा गया है। न्याय सब प्रकार के अध्वज्य और विचार के लिए आवश्यक समझा जाता था। विद्वान् का महाभारत में स्पष्ट निदिष्ट है।

सामाजिक जीवन

सामाजिक संरक्षण—इस जमाने में सभी व्यवस्था तो थी, किन्तु जान-बूझ नहीं थी। बर्तों का विनाश युग-कर्मोन्मुखार माना जाता था। अश्वत्थामा में श्रीकृष्ण ने भी स्पष्ट रायों में कहा है कि 'मैंने यज्ञवेद्य को व्यवस्था पुनः, कर्म के आधार पर की है।' उस समय तक यह कर्म के आधार पर नहीं थी। उन वर्ष में यह कहा गया है कि नहीं व्यक्ति बाह्य है बिना के काम-बोध भी बड़ में किया है, इन्द्रियों पर विचार पाई है। जो अध्वजन-प्रस्थापन और यज्ञ-कर्म करने वाला अहिंसक तथा शुद्ध आचार वाला है। उस समय तक सामाजिक विनाश दरबारी युगों को उत्तर सुनिश्चर नहीं हुए थे। बाह्यम-आविर्भाव का काम करने में और अविद्व बाह्यों का। प्रोत्साहार्थ विधि होती हुए भी यज्ञवेद्य के सबसे बड़े आधारों में और भीष्म-पितामह सबसे बड़े अध्वज्य होते हुए भी उत्तर-ज्ञान के उपदेशों में। महाभारत में एक स्थान पर तो यह भी कहा गया है कि सभी का कोई भेद है ही नहीं (गान्धि पृ० १८५।१०७)।

स्त्रियों की स्थिति और विवाह-पद्धति—तत्कालीन समाज में स्त्रियों को प्रतिष्ठित पद प्राप्त था और उन्हें समाज में समस्त स्मृत्यवता थी। किन्तु उत्तर वैदिक युग से स्त्रियों की स्थिति में जो ह्रास होता प्रारम्भ हुआ था, वह इस युग में भी बसा रहा है। नारी-विरोधी-रूप युवियों के जन्म को बुरा मानता था (१।१२।१२)। उन्हें नारी बुराईयों का भूत समझता था (१।१३।५१)। किन्तु दुष्टरी और ऐसे विचारकों को भी कभी नहीं थी जिसकी यह मान्यता थी कि स्त्रियों की प्रतिष्ठा से देवता प्रयत्न रहते हैं। स्त्रियों को ऊँची शिक्षा मिलती थी। उन्हें अपना पति पुत्रम की भी स्मृत्यवता थी। महाभारत के समय में ब्राह्मण-प्रकार के विवाह—ब्राह्म, वैश, क्षत्र, आश्वत्थ, गान्धर्व, आसुर, राजस और पैशाच—प्रचलित थे। इनमें पहले चार ही अच्छे समझे जाते थे। गान्धर्व, राजस और आसुर विवाहों का भी कामों विवाह था। दुष्कृत्य और अकृत्यता में गान्धर्व, अर्थात् प्रथा-विवाह हुआ था। राजस का अर्थ था कन्या के वलपूर्वक हरण द्वारा विवाह जाने वाला विवाह। अर्जुन का सुमद्रा-हरण, श्रीकृष्ण का कंसिनी-हरण और दुर्जोषण का कंसिराज-कन्या-हरण इसके उदाहरण हैं। आसुर-विवाह में कन्या का पिता वरपक्ष से पत लेता था। माद्री का विवाह ऐसा ही था। मित्रों की प्रथा भी इस समय प्रारम्भ सम्यत थी। कुन्ती ने सुविष्टिर आदि पाँच पाण्डव मित्रों से उत्पन्न किये थे। बहु-विवाह-प्रथा धर्मियों और राज-वर्ष में काफी प्रचलित थी। भारतीय साहित्य में बर्तों के उदाहरण इसी समय से मिलने प्रारम्भ होते हैं। माद्री पाण्डु के साथ सती हो गई थी। बाल विवाह की प्रथा भी शुरू हो गई थी।

सामाजिक समझ जाता है कि गर्दा-प्रथा मुसलमानों के आगमन से प्रारम्भ हुई, किन्तु यह ठीक नहीं है। रामायण और महाभारत दोनों में इस बात का स्पष्ट संकेत है कि त्रिविध साम्राज्य रूप से चलन रहती थी और सर्व साम्राज्य के सामने नहीं जाती थी। श्रीराम ने जब लक्ष्मण की धर्म-परीक्षा के लिए सीता को सबसे सामने लाने को कहा तो वह धार्मिक-व्यक्ति हो गए। तब राम की यह कहना पड़ा कि संकेत, वन और विवाह के समय में स्त्री का दर्शन आपत्तिजनक नहीं है। दुर्योधन को त्रिविध भी महाभारतकार ने अमूर्त्यप्रथा (अन्त्य पर्व २६।७४) कहा है। फिर भी महाभारत में इस बात की प्रशंसा नहीं है कि त्रिविध में मध्य-काल की भी परम्परा और पर्व-प्रथा नहीं थी। स्वयंवर आदि में वे सबसे सामने आती थी। कुछ किताबों ने पर्व का कारण ईश्वरी या यूनानी प्रभाव को बताया है। भावकल हिन्दू-समाज में त्रिविध पति का नाम नहीं लेती, किन्तु रामायण और महाभारत के समय में शीशु, सीता, दमयन्ती और सावित्री आदि पति को नाम लेकर पुकारने में संकोच नहीं करती थी।

पुरुष-जीवन में पत्नी का स्थान वैदिक काल की अतिपति के बराबर समझा जाता था। वे पुरुष की धर्मोत्तरी और सुखों का स्रोत समझी जाती थी। वे पतिव्रता के उच्च धर्म का वास्तव करती थी। सीता, सावित्री और दमयन्ती भाव तक भारतीय त्रिविधों के लिए अनुकरणीय उदाहरण हैं।

जीवन के अति दुःखिकोण—वैदिक युग की अति इस समय भी जीवन का दुःखिकोण सामान्य था। ज्ञान भी मोक्ष पौष्टिक पर भविक जन दिया जाता था। महाभारत में बार-बार इस प्रश्न पर विचार है कि भाग्य प्रसन्न है या दुःखार्थ; और बाध, हर बार ही पुनरावर्त की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है। महत्वाकांक्षा, अज्ञान परिरक्षा और असीम प्रयत्न सम्पत्ति के मुख माने गए हैं। 'महत्त्वकांक्षी ही महान् प्रमत्ता है और अमल नष्ट का भोग करता है। देवता भी अपने कर्म के कारण महान् होते हैं। जो व्यक्ति भाग्य पर भरोसा रखकर काम नहीं करता वह नपुंसक पति वाली स्त्री की तरह मरता हुआ रहता है।' इस युग के अन्त में ही भारतीय मनोवृत्ति में कुछ अन्तर घटने लगा था। अतः पूर्व में वन के अन्तों के उत्तर में एक स्त्री के निर्दयता और भाग्य की शपथ बताया गया है।

इस समय भारतीयों ने वैदिक और आचार को बहुत महत्ता दी। महाभारत के एक व्याख्याता ने बताया है कि जब प्रजापति ने इन्द्र का अपना धर्म दिया तो सम्पत्ति भी उसके पास से जाने लगी। जब प्रजापति ने उसके धर्म का कारण पूछा तो उत्तर मिला—“तपसा यही रहती है जहाँ जीवन, धर्म और सत्य रहते हैं”। राम का स्वतन्त्र-आत्म और सुविचार का सत्य-प्रेम प्रसिद्ध हो है। मेगस्थनीस प्रभृति विदेशियों ने भी भारतीयों की आर्थिक उन्नति और सत्यप्रियता की स्तुति की है।

आर्थिक दशा

कृषि—इस युग में प्राचीनकाली (वृत्तियों) के शास्त्र का सामान्य नाम 'वार्ता' था। इसके तीन अंग थे—कृषि, पशु-पालन और शिल्प। राजाओं का यह कर्त्तव्य समझा जाता था कि वे दोनों वृत्तियों को उन्नति के लिए योग्य पुरुष नियुक्त करें। कृषि काफी उन्नत थी, सिंचाई का राज्य की ओर से प्रबन्ध किया जाता था। उद्यान-कला (शामनारी) का विकास इसी युग से आरम्भ होता है। धनी लोगों को पाँच वर्ष में फल देने वाले आम के बगीचे लगाने का बहुत शौक था।

पशु इस युग में भी सम्पत्ति का प्रधान अंग थे। कृषि के लिए बैल और पशुओं के लिए मोड़े तथा हाथी अनिवार्य थे। इनकी चिकित्सा और शिक्षा के लिए योग्य व्यक्ति नियत किये जाते थे। अजात शत्रु के समय सहदेव ने विराट के यहाँ गो-विशेषज्ञ और नकुल ने अश्व-विशेषज्ञ के रूप में नीकरों की थी। उन दिनों पशुओं के शिक्षण और चिकित्सा पर हस्ति-सूत्र और अश्व-सूत्र आदि कई ग्रन्थ रचि गयीं। यात्राकाल इनमें से नकुल का अश्व-विद्या-विषयक 'शालि-हीन' तथा 'हस्तनामुचद' हो उपलब्ध होते हैं।

शिल्प—शिल्पों में वस्त्र-व्यवसाय विशेष उन्नति पर था। उत्तर वैदिक युग से भारतीय साहित्य में कपास का उल्लेख मिलता है। मोहेंजोदड़ो में भी सूती कपड़े के अवशेष मिले हैं। दुनिया को कपास का परिचय कराने वाला भारत ही था। यूनानी इस बात पर आश्चर्य करते थे कि भारत में ऊन पेड़ों पर खगती है। १८वीं शती तक भारत का वस्त्र-व्यवसाय बहुत उन्नत था और वह दुनिया को बाँके की मलमल-जैसा महान कपड़ा देता रहा। महाभारत के समय में भरत और जीत देशों में बड़िया सूती कपड़ा बनता था, ऊनी कपड़ों के लिए यात्राकाल को तरह ही कापभीर और कम्बोज (गामीर और बदख्शा) प्रसिद्ध थे। देशी वस्त्रों का भी प्रचलन था। सोना, चाँदी, लोहा, शीता और राँघ से अनेक पदार्थ तैयार किये जाते थे। समुद्र से मोती और दक्षिण की ज़ानों से अनेक मणियाँ निकाली जाती थीं। इनमें बड़े-से बड़े मूल्यवान थी। विभिन्न शिल्पों के प्रोत्साहन के लिए राज्य को ओर से सहायता दी जाती थी। आन्तरिक और वैदेशिक व्यापार प्रधान रूप से बैद्यों के हाथ में था। धनी लोग अपने सामान के पाताघात के लिए गोमियों (बजारों) को रखाते थे। बाल को दुलाई पशुओं तथा बैल गाड़ियों से होती थी। विदेशों के साथ सभी व्यापार बहुत उन्नत नहीं था।

राजनीतिक जीवन

इस समय अधिकांश भारत में राजतन्त्रात्मक शासन-प्रणाली प्रचलित थी। राजा कुल-कमागत थे। उनका मुख्य कार्य प्रकृति-रजन समझा जाता था। उनकी शक्ति तथा अधिकार सर्वथा निरंकुश हों यह बात नहीं है। राजा राजकीय कार्य 'मन्त्री' की सहायता से करता था, इसे हम वैदिक युग में भी देख चुके हैं। इसमें का

सो राज्य के सब क्षत्रिय राजा होते थे (१।२२०), या यह एक प्रकार की मुक्त परिषद् होती थी। इसमें राज्य-प्रकार के ध्यायित सेनापति तथा धर्म नैतिक अधिकारी (२।४०।१०) सम्मिलित होते थे। कई बार परामर्श-दाताओं में पुरोहित और जनता के निम्न वर्गों के प्रतिनिधि भी सम्मिलित किये जाते थे (शा० प० २।२।५।५६)। राजा के प्रसाद या पक्षी करने पर उसके पक्षमर्जदाता उसकी भासना करने में सकोच नहीं करते थे। राजा को ब्राह्मणों और जनता की इच्छा का ध्यान करना पड़ता था। यह माना जाता था कि राजा और राजा में एक प्रकार का समझौता है। राजा राजा का अनुद्वेग तथा स्थाप करता है और उसके करने में वह प्रजा से कर लेता है। प्राचीन काल में राजा पुत्र ने राजपति पर बैठते समय क्षत्रियों के सम्मुख शपथ भी की कि 'मैं जब तक जीवित रहूँगा, जो कार्य धर्मोत्तम होगा वही करूँगा।' यह प्रतिज्ञा सभी राजाओं पर लागू समझी जाती थी। क्षत्र्याचारी राजा के विरुद्ध क्रोध करने उसे पद-च्युत कर दिया जाता था। 'जब राज-द्वेष-वश, राजा नेन ने राजा पर धर्मान्तर किये तब क्षत्रियों ने उसे गद्दी से उतार दिया।'

राजा के कर्तव्य—महाभारत में राजा के लिए अनेक उत्तम धार्मिक और कर्तव्य बताये गये हैं। उसे निर्बलों पर अत्याचार नहीं करना चाहिए। मन, पचन और शरीर से स्वाताचरण करने हुए 'अपने पुत्र का भी अपराध क्षमा नहीं करना चाहिए।' राजा का धर्म है कि जहाँ एक और वह साधारण प्रजा की सुखी करे, वही उसे दूसरी ओर 'असामे, अनात और कुतों के भी धर्म पालना' उचित है। विद्वानों के उपदेश सुनकर उसे उनका पालन करना चाहिए, जो ऐसा करते हुए स्वच्छाचारों नहीं बनाते 'प्रजा उसी के वश में रहती है।' उसका कर्तव्य अपनी सेवा, कोष और ध्यातार की बढ़ावा तथा प्रजा के कष्ट-निवारण करना है। बेकार, निर्धन और असाहिजों का पालन-पोषण भी उस राजा का कार्य है। धातक्य इसके लिए दरिद्र-पोषण के नियम (Poor law) बनाये जाते हैं। उस समय भी अनाथ, मुक्त, निम्नहाय तथा विधवाओं की रक्षा तथा उनकी आर्थोन्नति का प्रयत्न राजा का कर्तव्य माना जाता था।

कर-प्रणति—राज्य की धार के प्रधान सोय भूमि की उपज, व्यापार, शान्ति, समुद्रों तथा नदियों की उत्पत्ति पर लगाने गए कर थे। कर-प्रणति के लिए काफी उचित व्यवस्था थी : एक, दश, बीस, सौ और हजार धानों के एकतरफे धाने सोय का कर जमा करके ऊपर पहुँचाते थे। कर का उद्देश्य प्रजा की सुख-समृद्धि और रक्षा ही समझा जाता था। कर लगते हुए इस बात पर पूरा ध्यान रखा जाता था कि निर्बल से नती-तक सभी पर कर का भार उचित अनुपात में रहे, कोई भी उससे वंचित न रहे जाए। लोग नें पकड़ कर राजा को बहुत कर बढ़ाकर अपने और राष्ट्र के व्यवसाय पर कुदारावर्त नहीं करना चाहिए। 'कर बहुत बढ़ा देने वाले राजा से प्रजा द्वेष करती है।' इस प्रकार राजा की सेवा राज्य आने का भय बना रहता है। राष्ट्र की

बड़ा सम्भार ही प्रजा पर कर लगाना चाहिये। गौ को अधिक बुरा देने से बचना भी काम का नहीं रहता। इसी प्रकार प्रजा पर अत्यधिक कर लगा देने से राष्ट्र की आय बहुत कम हो जाती है। राजा को चाहिए कि वह प्रत्येक नागरिक, राष्ट्रवासी, उपनिवेश तथा बाधित देशवासियों से अनुकम्पापूर्वक सहायकित सब उचित करों को प्राप्त कर ले (शां० पृ० १७३५)। उस समय भी राजकर्मचारी रिक्खतगौर और सूटने वाले होते थे। राजा का यह कर्तव्य बताया गया है कि इस प्रकार के व्यक्तियों से वह प्रजा को रक्ष करे।

सैन्य-प्रबन्ध—विदेशी आक्रमणों से रक्षा तथा युद्धों के लिए राजा विशाल सेनाएँ रखते थे। यह सेना भी स्वयंसेवक दोनों प्रकार की होती थी। सेना के चार धङ्ग होते थे—पदाति, घोड़ा, हाथी और रथ। उत्तर वैदिक युग तक हाथियों का लड़ाई में प्रयोग नहीं था, वह सम्भवतः इनी युग में शुरू हुआ। भारतीयों ने इसका प्रयोग पुराणियों, ऐरावतों और तुर्कों से सीखा। सेना के चार धङ्गों के अतिरिक्त कई आश्चर्य और आश्चर्य विभाग भी थे—इनमें गालाघात, नौसेना और गुप्तचर विभाग थे। पदाधिकारियों के मुख्य हथियार तलवार और डाल होते थे। गदा का प्रयोग इन्द्र-युद्ध तथा हाथियों की लड़ाई में होता था। घोड़ेगोही तलवार और भाला रखते थे। रथ पर बैठकर लड़ने वालों के प्रधान दण्ड धनुष-बाण होते थे। कर्म का प्रयोग सब करते थे। महाभारत में परिषद सोमर, भिन्दिपाल गिष्टि, वसन्धी, भुवुन्धी आदि अनेक प्रकार के अस्त्रों का वर्णन आता है, जिनका समर्थ स्वरूप अब तक प्राप्त नहीं हो सका। उस समय मनु-शक्ति से चालेस, बाणस्य, बाण आदि अनेक प्रकार के विभिन्न बाण छोड़े जाते थे, सेना के सूची, मकर, वक्रादि अनेक व्यूह बनाये जाते थे।

इस काल की एक विशेषता वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध-नियमों की नीति कुछ उल्लेखनीय स्पष्टताएँ थी। कौरव-पाण्डवों ने युद्ध में पहले ये नियम बना लिए थे कि निःशस्त्र, निष्कवच और युद्ध से थोड़ा थकाने वाले पर चढ़ाई नहीं किया जावेगा, प्रहार करने से पहले उसकी सूचना दे दी जावेगी, विद्रोह विचारक तथा घबराहट में डालकर प्रहार करना तथा एक दूसरे को छेड़ना ठीक नहीं। उस समय के धर्मों के जीवन का प्रधान अंग धर्म का पालन करना था, अतः युद्ध में भी ते उल्लंघन को अनुचित समझते थे। उस समय 'युद्ध और प्रणय में सब कुछ ठीक होता है' का सिद्धान्त आदर्श नहीं बना था।

वैज्ञानिक उन्नति—इस युग में ज्योतिष, चिकित्सा-शास्त्र, पशु-विद्या, रथ-कला, धनुर्वेद और स्थापत्य की बान्दी उन्नति हुई थी। ज्योतिष में ग्रहों की गति तथा स्थिति के बारे में उन्हें पर्याप्त ज्ञान था। चिकित्सा धीमे-धीमे तथा सर्पों द्वारा की जाती थी। गहरे-गहरे घाव भरने का आश्चर्यजनक प्रभाव रखने वाली 'विमलकरणी' औषधि का कुछ प्रयोग होता था। गौरी, घोड़ी, हाथियों को मृत्यु उत्पन्न करने तथा बीमारियों को दूर करने के लिए अनेक शास्त्र बने हुए थे। वैदिक कला तथा धनुर्वेद की उन्नति

ऊपर निर्दिष्ट शास्त्रों में मिलती है। स्थापत्य का सर्वोत्तम उदाहरण मय दानव द्वारा निर्मित वाष्क्यों का राज-प्रासाद या जिसमें जल में स्थल का और स्थल में जल का घोसा होता था। उस समय तक भारतीय युद्धों में जीव की सत्ता की बात कर चुके थे। (शान्ति १० अ० १८४)।

उपसंहार—यह युग भारतीय इतिहास के स्वर्ण युगों में से है। रामायण तथा महाभारत हिन्दू आचार-विचार की आज तक आधार शिला बने हुए हैं। ये दोनों उज्ज्वलतम रूप में हमारे सामने उन धार्मिक, दार्शनिक और नैतिक धारणाओं को रखाते हैं जिनके अनुसार हमें अपना जीवन बिताना चाहिये। इनमें किसी सम्प्रदाय और जाति का बंधन नहीं है। आत्मा की अमरता, कर्मवाद, पुनर्जन्म और अहिंसा इसके मूल तत्त्व हैं। धार्मिक और दार्शनिक विचार के क्षेत्र में भगवद्गीता में जो ऊँची उड़ान ली गई है वह विश्व-इतिहास में अनुपम है। भौतिक क्षेत्र में मुद्र-नीति, सन्वास्थ, प्राकृतिक विज्ञान, शिल्प, वाणिज्य और व्यवसाय की दृष्टि से भारत ने बहुत उन्नति की थी, किन्तु सामाजिक आचार इस समय काफी अधनत था। मुचिष्ठिर-जैसे धर्मराज द्यूत-जैसे दुर्व्यक्तियों का शिकार होते थे। नारी सभा में द्रोपदी का अपमान यह सूचित करता है कि नारी की स्थिति भी समाज में गिरने लगी थी।

जैन और बौद्ध धर्म

धार्मिक चान्ति—छठी श० ई० पू० में भारत में एक प्रबल धार्मिक चान्ति हुई। इनके प्रधान नेता वर्धमान महावीर और गौतम बुद्ध थे। इस चान्ति के मूल तत्व थे—राजिक कर्मकाण्ड की निरर्थकता, वेदों की प्राप्ताधिकता का तथा ब्राह्मणों की प्रभुता का विरोध, नैतिकता और तपस्या का महत्त्व। वेद, आत्मा और ईश्वर में विश्वास न रखने से इन्हें नास्तिक धर्मोन्मूलन कहा जाता है। इन्होंने न केवल भारत के किन्तु संसार के इतिहास पर कई शतियों तक गहरा प्रभाव डाला। वास्तव में यह कई शतों पहले प्रारम्भ हुई प्रवृत्तियों के मूल रूप थे। इनकी जड़ उपनिषदों के समय में जम चुकी थी, अनेक बौद्धिन्त और तीर्थङ्कर इसे अपने जीवनो से सींच चुके थे। बौद्ध-ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि छठी श० ई० पू० में स्वतन्त्र धार्मिक और दार्शनिक विचार काफी विकसित हो चुके थे। ब्रह्मवास गुप्त के अनुसार उस समय ६३ धर्मण पन्थ थे। इनके विकास का प्रधान कारण यह प्रतीत होता है कि उस समय की दो प्रधान विचारधाराएँ—ब्राह्मण-धर्म का राजिक कर्मकाण्ड और उपनिषदों का ज्ञान-माने साधारण जनता की आवश्यकता को पूरी नहीं कर सकी थी। यज्ञों के विषय उपनिषदों ने जबरदस्त आघात उड़ाई थी और यह भीषणा की थी कि संसार-जगत् की पार करने के लिए यज्ञ भूटी नाव की साँझ है। किन्तु इसके विरोध में उन्होंने किञ्च ज्ञान और ब्रह्मविद्या पर धन दिया था, यह केवल बुद्धिजीवी वर्ग को ही प्रभावित कर सकती थी। साधारण जनता के लिए ब्राह्मणपुरुषों यज्ञ और यज्ञसंवाद से घात-बोल उपनिषद् समाप्त रूप से अटिन एवं दुर्बोध थे, वह सरल आचार एवं भक्ति-प्रधान धर्म के लिए तुरन्त स्वीकी थी। इनमें पहली दो आवश्यकताएँ बौद्ध-जैन धर्म ने पूरी की और तीसरी भक्ति-ज्ञान प्राप्ताधिक धर्म ने। इस दृष्ट्या से जैन और बौद्ध-धर्म का वर्णन किया जायगा और पहले से हिन्दू धर्म का।

जैन धर्म का आधिर्भाव—महात्मा पार्श्व—जैन धर्म के संस्थापक ज्ञान वर्धमान महावीर माने जाते हैं, किन्तु जैन अनुभूति के अनुसार वे चान्तिम और मोक्षमर्ष तीर्थङ्कर थे। उनमें पहले २३ जैन-धर्म-सुधारक हो चुके थे। जैन-ग्रन्थों से इनके अपने धार्मिक व्यक्तित्वपूर्ण वर्णन हैं कि पाश्चात्य विद्वान् इनमें से केवल २३वें तीर्थङ्कर महात्मा पार्श्व को ही ऐतिहासिक व्यक्ति स्वीकार करते हैं। महात्मा महावीर के

२५० वर्ष पहले ८वीं स० ई० पू० में उन्होंने वाराणसी में अश्वपति राजा की कन्या नामक रानी से जन्म लिया। तीस वर्ष की आयु में वैराग्य उत्पन्न होने पर राज-पाट का परित्याग किया। २३ दिन की घोर तपस्या के बाद उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ। उन्होंने उसका प्रचार करना शुरू किया। ७० वर्ष तक धर्म-प्रचार करते उन्होंने पादसंताप पर्वत पर मोक्ष-यज्ञ प्राप्त किया। पार्व की मुख्य शिक्षाएँ अहिंसा, सत्य, अस्तेय और धारिद्र्य व्रत का पालन थीं। वे वातुर्गम कहलाती हैं। इनमें कोई संदेह नहीं कि पार्व की इन शिक्षाओं में कोई नवीनता नहीं थी। वैदिक यज्ञों की पशु-हिंसा के विरुद्ध 'मा हिंस्यात् सर्वभूतानि' की सहर कहीं प्राचीन थी। किन्तु पार्व ने पुराने धार्मिकों को मानते हुए तीन नई बातें की—(१) उन्होंने धर्म का प्रचार प्रारम्भ किया। उनसे पहले यज्ञ-याग का निरन्तर करके तपस्या करने वाले भ्रमण स्वयंसे थे, पर वे समाज में उसका उपदेश नहीं देते थे। उपनिषदों में हम शिष्यों को आश्रमों में गुरुओं के पास जाता हुआ देखते हैं, किन्तु गुरु अपने सिद्धांतों का प्रचार करने के लिए भ्रमण नहीं करते थे, पार्व ने प्रचार की परिपाटी को प्रारम्भ किया। (२) पुराने भ्रमण अहिंसा-धर्म का पालन तपस्या के एक ऋण के रूप में करते थे, वे इसे सर्वसाधारण के लिए आवश्यक नहीं समझते थे। पार्व ने अहिंसा तथा धन्य यामी को अधि-भुनियों के आचरण तक ही सीमित न रखा, किन्तु साधारण जनता को भी इन्हें अपने जीवन में डालने का उपदेश दिया। (३) महात्मा पार्व ने अपने नवीन धर्म के प्रचार के लिए संघ बनाया। बुद्ध के समय के सब संघों में जैन साधु-साधवियों का संग सबसे बड़ा था।

महात्मा वर्धमान महावीर—महात्मा पार्व के २५० वर्ष बाद चौबीसवें तीर्थंकर वर्धमान ने ५३१ ई० पू० में कुण्डग्राम वैशाली (आधुनिक बसाह जिले मुख्यालय) के जातक नामक क्षत्रिय-कुल में जन्म लिया। उनके पिता मित्राक्षर और माता त्रिशला थी। उनकी प्रवृत्ति सांसारिक जीवन की घोर न थी, तीस वर्ष की अवस्था में, (५०६ ई० पू०) अपने पिता की मृत्यु पर, घागे भाई के राजगद्दी पर बैठने पर उन्होंने गृह-परित्याग करके कठोर तपस्या प्रारम्भ की। १२ वर्ष के उस तप के बाद उन्हें १३वें वर्ष पूर्ण सत्य ज्ञान की उपलब्धि हुई। उन्होंने अपने ज्ञान का प्रचार शुरू किया, (४६७ ई० पू०)। अनुयायियों ने उन्हें महावीर तथा जिन (जिंकेता) की उपाधि दी, लोगों ने उनके सम्प्रदाय की निर्गुण (बन्धन-मुक्त) कहा। अपने सिद्धांतों का प्रचार करते हुए ७२ वर्ष की आयु में उन्होंने वाकापुटी में निर्वाणपद पाया (४६७ ई० पू०)। उनकी प्रधान शिक्षाएँ पार्व की ही थी, किन्तु उन्होंने इनमें कुछ बातें बढ़ाईं। महात्मा पार्व वातुर्गम (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, धारिद्र्य) पर बल देते थे, इन्होंने इनके साथ ब्रह्मचर्य को भी आवश्यक व्रत बना दिया। धारिद्र्य पर बल देते हुए उन्होंने दिगम्बर रहने का आदेश दिया। ममत्त्व छोड़ देना भी उनकी शिक्षाओं का बहुत ऊँचा प्रचार ही गया, कतिपय भी उनका अनुयायी बना, उनके निर्वाण के दो-एक अर्शी के भीतर ही पश्चिम भारत में जो जैन-धर्म की बुनियाद पड़ा

गई। मनेक उमार-बढ़ावों के बाद भारत में प्राप्त तक उनके अनुयायियों की एक अच्छी संख्या है।

महारत्ना बुद्ध ५६७-४८७ ई० पू०—बौद्ध-धर्म के प्रवर्तक महारत्ना बुद्ध महावीर के समकालीन थे। कपिलवस्तु के राजा शुद्धोदन के घर पुम्बिनीवन (शमिनदेई) में उनका जन्म हुआ। वे जन्म से मम्भीर एवं चिन्तनशील प्रकृति के थे। पिता ने १८ वर्ष की आयु में उनका विवाह कर दिया। किन्तु इससे उनकी प्रवृत्ति नहीं बदली। छोटी-छोटी घटनाएँ उन पर गहरा प्रभाव डालती थीं। ऐसा प्रसिद्ध है कि रात में सो कर उठे हुए बूढ़े, बीमार और मृत व्यक्ति को देखकर उनका मानसिक असंतोष बढ़ा, धर्म ने प्रसन्नमुख संन्यासी देवकर उन्हें उनके हित का मार्ग सुना। २८ वर्ष की आयु में अपना पुत्र होने पर, वे गृहस्थ और राज-घाट के सब सुखों को सात मारकर घर से निकल पड़े। यही उनका 'महानिनिषकम्पण' कहलाता है। पहले कुछ समय तक उन्होंने राज-गृह के दो प्रधान दार्शनिकों आसार कालाम और रामपुत्र से शिक्षा ग्रहण की; किन्तु इनसे उनकी ज्ञान-पिपासा शांत नहीं हुई। कर्म-मार्ग से ऊबकर वे ज्ञान-मार्ग की ओर चले, किन्तु वहाँ उन्हें सुखी दिमागी क्लेशों से घिराई दी। इसके बाद, उन्होंने तपस्या का मार्ग पकड़ा। पाँच साधियों के साथ गया के पास उरुविल्व में उन्होंने ६ वर्ष तक धीरे तपस्या की, पर फिर भी धान्ति नहीं मिली। कहते हैं एक बार नाचने गाने वाली मिथियाँ उस जंगल में से गुजरीं; उनके गीत की ध्वनि गीतम के कान में पड़ी, वे मा रग्यो 'अपनी बोणा के द्वार को अधिक खोलो न करो, नहीं तो वह बड़ेगा नहीं, उसे इतना अधिक बसो भी नहीं कि वह टूट जाय।' इसमें गीतम की यह भाव हुआ कि वह अपने जीवन के द्वार एकदम बन्द कर रहे हैं, इस तरह करने से उनके टूटने की सम्भावना है। उन्होंने तपस्या का मार्ग छोड़ दिया। उनके साधियों ने समझा कि वे तपस्या से हार गए हैं। वे उन्हें छोड़कर बनारस चले गए। धर्म धीरे-धीरे स्वास्थ्य-लाभ करने हुए उन्हें एक दिन एक वीरत के पैर के नीचे बैठे हुए बोध (ज्ञान) प्राप्त हुआ। उन्होंने निश्चय किया कि अनन्तता की यह भाव देकर उसके दुःख दूर किये जाएँ। सबसे पहले सांन्यास (ब्रह्मचर्य) में उन्होंने अपने पाँच साधियों को उपदेश देकर 'धर्म-वृक्ष-प्रवर्तन' किया। सब लोगों की प्रयत्न्य देकर भिक्षु बनाना शुरू किया तथा उन्हें सर्वत्र अपने उपदेशों का प्रचार करने की शिक्षा दी। ४५ वर्ष तक वे स्वयं अपने सिद्धार्थों का प्रचार करते रहे और अन्त में ८० वर्ष की आयु में उनका बुद्धीनगर (वर्तमान कुशीनारा बि० देवरिया) में महा-परिनिर्वाण हुआ (४८७ ई० पू०)।

महारत्ना बुद्ध की शिक्षाएँ—महारत्ना बुद्ध ने जिते धर्म का उपदेश किया, वह प्रधान रूप से साधारण-प्रधान था। उनकी प्रधान शिक्षाएँ निम्न थीं—(१) मध्यम मार्ग—उन्होंने इस बात पर बल दिया कि मनुष्य को न तो भौतिकता की शक्ति में

पौनःपुन्यता चाहिए और न कठोर तपस्या की प्रति का अवलम्बन करना चाहिए । दोनों धर्मियों को छोड़कर मध्यमार्ग पर चलना चाहिए ।

(२) चार सार्व सत्य—इस दुनिया में चार महान् सत्य हैं—(क) मंगार दुःखमय है, (ख) दुःख का कारण बुद्धि है, (ग) बुद्धि के निरोध से दुःख का निरोध होता है, और (घ) इसका उपाय अष्टांग मार्ग है ।

(३) अष्टांग मार्ग—यह निम्न आठ बातों का पालन करना है—सत्य दृष्टि, सत्य भाव, सत्य भाषण, सत्य व्यवहार, सत्य निर्वाह, सत्य प्रयत्न, सत्य विचार और सत्य ध्यान ।

बुद्ध की शिक्षाओं को ध्यान पूर्वक देखने से प्रतीत होगा कि बुद्ध ने उस समय के प्रधान धार्मिक सम्प्रदायों में असहमति प्रकट करते हुए, अपना नया मत बताया और यह अपनी व्यावहारिकता और कियामकता के कारण अधिक सफल हुआ । महात्मा बुद्ध महावि के विरोधी थे और उग्र तपश्चर्या के भी । समुत्त निकाय में उन्होंने एक कर्मकाण्डी ब्राह्मण को कहा है—“हे ब्राह्मण मुझे यह मत समझो कि परिश्रम धर्म में परिश्रम बालने से होती है, यह तो बाह्य बात है, इसे छोड़कर मैं तो अपने भीतर धर्मि बलता हूँ, आन्तरिक मज्ज में सुखा (भी बालने का चर्ममय) बाली है और हृदय ही यज्ञ-वेदी है ।” प्राचीन बौद्ध-ग्रंथों से यह स्पष्ट है कि वे यज्ञों का नहीं, किन्तु यज्ञों की पशु-हिंसा का विरोध करते थे । जैन धर्म से उनका मौलिक मतभेद था । जैनो के पञ्च महापराग नियमात्मक थे, वे कठोर तपस्या में विद्वान् रहते थे, उन्होंने अहिंसा को बहुत अधिक महत्त्व दिया था । बुद्ध अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य आदि का ‘सम्भङ्ग जीवन’ से ही प्रत्यभि करते थे । उनके लिए अहिंसा कोई एकात्मिक धर्म नहीं था, जैनों में अहिंसा का विचार जिस पराकाष्ठा तक पहुँचा उत्तम बौद्धों में नहीं । जैनो के मतानुसार मांस व्यवहार का किन्तु बुद्ध कुछ व्यवस्थाओं में इसे जिह्म के लिए भी अन्न समझते थे । बुद्ध का समुत्त दृष्टिकोण व्यावहारिक था । यही कारण है कि बौद्ध धर्म को अधिक सफलता मिली । जैन धर्म को प्रचलन विधेयता कट्टरता थी, उन्होंने अपने धर्म को २५ हजार वर्ष के अधो-भानी में भी सुरक्षित रखा है, उनका अंगार भारत में ही हुआ, किन्तु जितना हुआ वह ठोस रूप में बना रहा । बौद्ध-धर्म में बड़ी परिवर्तनशीलता और उदारता थी । इससे उसे भारत और विदेशों में बड़ी लोकता मिली, किन्तु धर्म में उस देश में उसके अनुयायी हिन्दू धर्म से ही मिली ही गये ।

बौद्ध धर्म का विकास—२८० ई० पू० में महात्मा बुद्ध के निर्वाण के बाद संघ में बुद्ध की शिक्षाओं पर विवाद उत्पन्न हो गया, उन्होंने अपना कोई उत्तराधिकारी नियत नहीं किया था, अतः उनके सबसे पुराने शिष्य काश्यप ने बुद्ध के वचनों का प्रामाणिक सङ्ग्रह करने के लिए राजगृह में पहली महा बुलाई और इसमें बुद्ध की शिक्षाओं (विनिटक) ७० बाँट किया गया । इन्हें विनिटक (तीन टोकरीयाँ) कहते

का वह कारण था कि बुद्ध के उपदेश तीन भागों में बँटि गये थे । (१) विस-
पिटक—इसमें बौद्ध भिक्षुओं तथा संघ के नियमों का प्रतिपादन था । (२) सुत्त-
पिटक—इसमें बुद्ध के धार्मिक उपदेशों का संग्रह था । (३) अब्धिम्म-पिटक—इसमें
धर्म-सम्बन्धी साम्प्रदायिक प्रश्नों का विवेचन था । पहली महासभा के छौ वर्ष बाद
कुछ भिक्षु-निधियों के सम्मेलन में पुनः विवाद उत्पन्न हुआ, इसके निरापेक्ष के लिए
३८७ ई० पू० में दूसरी बौद्ध महासभा बुलाई गई । नियम अंग बनने वाले भिक्षुओं
को संघ से बाहर निकाल दिया गया । इन्होंने 'महासायिक' नाम से अपना नया
समुदाय स्थापित किया । उनसे भिन्न बाकी बौद्ध 'थेरवादी' कहलाये । बौद्ध धर्म
का विशेष उत्कर्ष पद्मोक्त (२७२-२३० ई० पू०) के समय में हुआ । अहिंस-विशेष के
बाद वह बौद्ध धर्म और उसने बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए पुरा प्रयत्न किया, भारत
के विभिन्न भागों, पश्चिमी एशिया, मिस्र, पूर्वी यूरोप, जहाँ के राजाओं के पास धर्म-
प्रचार के लिए भूत भेजे । संका जाने वाले तो उनके पुत्र और पुत्री सहित और
सामान्य थे । बौद्ध धर्म को विश्व धर्म बनाने का श्रेय इसी को है । उसी के शासन-
काल में तीसरी बौद्ध महासभा हुई (२५५ ई० पू०) । बौद्ध प्रचारकों के साथ
'विपिटक' लड़ा गयी और पहली श० ई० पू० में उसे विविधतः किया गया, मौर्य
साम्राज्य के बाद भारत पर मुसलमानों, पाकों, कुषाणों के आक्रमण हुए । इनमें से
बनेक राजाओं ने बौद्धधर्म को स्वीकार किया और उसके प्रचार का प्रयत्न किया ।
इनमें यवन राजा निमिषण्ड और कुषाण नृपति कनिष्क (७०-१०० ई०) विशेष
रूप से उल्लेखनीय हैं । कनिष्क के समय बौद्ध-धर्म में अनेक प्रकार के विवाद उत्पन्न
हो गए, इनका अन्त करने के लिए चौथी महासभा बुलाई गई । इसमें विपिटक पर
प्रामाणिक भाष्य लिखा गया और इसीके आधार पर बाद में महायान का
निकास हुआ ।

महायान का आदिमर्ग—बौद्ध-धर्म का सगठन राजातन्त्रात्मक होने में, उसमें
कोई केन्द्रीय निवासक सत्ता नहीं थी, अतः इसमें कुछ भी मतभेद होने पर नये सम्प्र-
दाय स्थापित हो जाते थे । बौद्ध-धर्मों में १८ सम्प्रदायों का विकास हुआ ।
इनमें हीनयान और महायान प्रधान हैं । बुद्ध की मूल शिक्षाओं की सुरक्षित रक्षा
वाला और उन पर आचरण करने वाला सम्प्रदाय हीनयान है । इसमें नई विधेयताओं
और परिवर्तनों से महायान की उत्पत्ति हुई । पहले का प्रचार नेपो, तंका और इण्डो-
नेसिया द्वीपों के द्वीपों का नेपास, तिब्बत, चीन, जापान और मंगोलिया में । हीनयान और
महायान के नाम का अर्थ महायान के अन्तर्गत नागाकुम को है । बौद्धों में बुद्ध-
प्राप्ति के दो प्रधान मार्ग हैं—(१) प्रत्येक बुद्धयान, (२) सम्मत् सम्बुद्ध यान ।
पहले का धर्म ऐसे बौद्ध-भिक्षुओं से है जिन्हें केवल अपने लिए बोध होता है और
दूसरे का अन्तर्गत उनसे है जिन्हें सबको देने के लिए बोध होता है, जो सबके उत्थार
का यत्न करते हैं । इसमें दूसरे मार्ग को अर्थ ठहराकर उसे महायान कहा गया ।
महायानी बोधिसत्व बनने पर अस देते थे । बोधिसत्व ने व्यक्तित्व है जो बुद्ध बनने का

प्रयत्न कर रहे हैं। बोधिसत्त्व बनना बड़ा कठिन था, यतः महात्मान ने ध्वस्तो-
 क्तिश्वर आदि बोधिसत्त्वों में विश्वास तथा उनकी मूर्तियों की पूजा में मुक्ति मानी।
 इन्हीं से बाद में मन्वधान और वज्रयान का विकास हुआ। महात्मानियों ने लोक-
 प्रियता की दृष्टि से पालि को छोड़कर संस्कृत का आश्रय लिया। यतः हीनयानियों
 से इनके प्रधान नैद निम्न थे—(१) बोधिसत्त्वों में विश्वास, (२) बोधिसत्त्वों की
 मूर्ति-पूजा और भक्ति, (३) संस्कृत का प्रयोग। इनके प्रतिरिक्त दोनों पानों में
 आध्यात्मिक एवं दार्शनिक प्रवृत्तियाँ तथा बुद्ध के वास्तविक स्वरूप पर मौलिक मतभेद
 थे। विदेशों में, विशेषतः मध्य एशिया तथा चीन में, बौद्धधर्म के प्रचार का श्रेय
 महात्मानों बौद्ध-भिक्षुओं को ही है।

बौद्ध धर्म प्राचीन काल में अपने प्रचार-कार्य में बड़ा सफल हुआ, इस समय
 मानव जाति का तृतीयोपाय बौद्धधर्म का उपासक है। यतः इसकी लोकप्रियता और
 सफलता के कारणों पर प्रकाश डालना आवश्यक जान पड़ता है।

बौद्ध धर्म के आकर्षण

(१) बौद्धधर्म की लोकप्रियता के कारण—बौद्ध धर्म ने कई विशेषताओं से
 जनता को अपनी ओर आकृष्ट किया था। भगवान् बुद्ध के उपदेश इस समय की
 लोक-भाषा (पालि) में थे, उनकी निज्जाएँ उपनिषदों के उपदेशों की भाँति सूक्ष्म
 और याज्ञिक कर्मकाण्ड की भाँति जटिल न होकर सरलस्त मरन थीं। बुद्ध प्रायः
 अपने उपदेशों में सुन्दर दृष्टान्तों का प्रयोग करते थे, इनसे वे बहुत सुबोध हो जाते
 थे। बुद्ध द्वारा प्रतिपादित आचार-प्रधान धर्म के द्वार मनुके किये खुले हुए थे, उसमें
 ब्राह्मण, क्षत्र, स्त्री-पुरुष सब बराबर थे, किसी प्रकार का वर्ण-भेद, ऊँच-नीच या
 जात-पात नहीं था।

(२) प्रचारकों की सनबक लगन—भगवान् बुद्ध स्वयमेव आदर्श प्रचारक
 थे। उत्थान और अग्रमाद उनके जीवन का मूल मन्त्र था। ४५ वर्ष तक वे स्वयं
 अपने मित्रान्तों का प्रचार करते रहे तथा अपने शिष्यों को 'बहुजन हिताय, बहुजन
 सुखाय' का संदेश सुनाने की प्रेरणा करते रहे। उनका यह मौलम्य था कि उन्हें
 धरमन्त उल्लाही अनुयायों मिले। विद्वय के इतिहास में किसी भी महापुरुष के अनु-
 यायियों ने अपने गुरु के आदेश का धातन करने में इतना उत्साह, इतनी सत्यपरता
 और इतना त्याग प्रदर्शित नहीं किया, जितना गौतम-बुद्ध के शिष्यों ने।

(३) राज्याधर—बौद्ध धर्म का विश्व-व्यापी प्रसार मझाद् यथोक के
 प्रवर्तकों से हुआ तथा विनाण्डर, कनिष्क तथा पालवर्षी राजाओं के संरक्षण तथा
 समर्थन से इसे बहुत बल मिला।

(४) संघ-व्यवस्था—गौतम बुद्ध ने प्रजातन्त्र की पद्धति पर अपने संघ का
 संघटन किया था, वे संघ महत्ती सदियों नहीं थी, अपनी योग्यता से इनमें कोई भी

अध्वरिग उच्चतम पद या तकता था। संभव है बौद्ध धर्म की उन्नति और विकास में बड़ा भाग लिया। इसे नागार्जुन, यशम, वसुवन्धु, धार्यदेव-जैसे पुराणपर विद्वान्, बोधि धर्म, दीपकर श्रीमान्-जैसे प्रचारक, धर्मकीर्ति और दिङ्नाग-जैसे वाद-विवाद-महारथी, विमुक्तसेन, कमलसोल-जैसे लेखक, कुमारबीव, जितमित्र-जैसे अनुवादक उत्थान करने का श्रेय है। इनसे एशिया के बड़े भाग को प्रकाशित करने वाले बौद्ध ज्ञान का आलोक प्रादुर्भूत एवं प्रसारित हुआ।

भारतीय संस्कृति पर बौद्ध धर्म का प्रभाव

(१) कलाओं की उन्नति—बौद्ध धर्म ने हमारी संस्कृति पर प्रधान रूप से निम्न प्रभाव डाले—बौद्ध धर्म के प्रभाव से प्राचीन भारत में मूर्ति, चित्र, स्थापत्य आदि कलाओं का उच्चतम विकास हुआ। पुराने जमाने में कला धर्म की बेरी थी। वैदिक युग में इसका अधिक विकास सम्भव न था। उस समय के धर्म का प्रधान तत्त्व यज्ञ था। यज्ञ करने के लिए विद्याल एवं भव्य मण्डप बनाने जाते थे। पूज गाई जाते थे, किन्तु इनकी धातु यज्ञ की समाप्ति तक ही होती थी। उस समय कला के विकास का कोई स्थायी आधार न होने से उसकी विशेष उन्नति नहीं हुई। बौद्धों के स्तूप और विहार स्थायी थे, अतः उनके धारण से सभी कलाएँ बहुत उन्नत हुईं। प्राचीन मूर्तिकला की अनेक सुन्दर प्रतिमाएँ भगवान् बुद्ध से सम्बन्ध रखती हैं, अजन्ता की चित्रकला का उद्देश्य बौद्ध विहारों की प्रतिकृत करना था, कार्तिकेय आदि की बौद्ध मुष्पाएँ हिन्दू मन्दिरों से पुराने स्थापत्य की उन्नति सूचित करती हैं। बौद्ध मतावलम्बियों द्वारा बनवाये गये सौची, भारहुत, अमरावती के स्तूप तथा प्रशोक के शिलास्तम्भ भारतीय कला के सर्वोत्तम नमूनों में से हैं। बौद्धों का अनुसरण करने जैनों ने कला-कौशल की उन्नति की तथा बाद में शैवों और ईश्वरों ने भी इनका अनुकरण किया।

(२) सरल और लोकप्रिय धर्म—बौद्ध धर्म भारत का पहला सरल और लोकप्रिय धर्म था। इससे पहले का वैदिक धर्म कर्म-काण्ड के कारण बड़ा जटिल था, उसके धर्मिकारी केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य थे। इसके विपरीत यह अत्यन्त सरल तथा नीतिक आचरण पर अल देने वाला था और इसका द्वार सबके लिए खुला था। इसने पहली बार धर्म में व्यक्तित्व को प्रधानता दी। वैदिक धर्म में प्राकृतिक शक्तियों के इत्तीक देवता प्रधान-उपास्य थे, उपनिषदों में निर्मुण ब्रह्म के नीत मागे गये थे। ये दोनों साधारण जनता के लिए दुर्कट थे। बौद्ध धर्म में भगवान् बुद्ध का व्यक्तित्व बहुत आकर्षक था, वे शीघ्र ही जनता की पूजा के पात्र बन गए, मूर्तियों द्वारा उनकी उपासना होने लगी। इसने हिन्दु धर्म के विकास पर गहरा प्रभाव डाला, उसमें भक्ति तत्त्व की प्रधानता मिली।

(३) मूर्ति-पूजा का प्रसार—यह सम्भव है कि भारत में मूर्ति-पूजा का स्थापक प्रसार बौद्ध धर्म के द्वारा हुआ। पहले-पहल बौद्धों ने अपने धर्म-प्रवर्तक की

मूर्तियों बताई, इनका अनुसरण करके हिन्दुओं ने भी देवताओं की प्रतिमाएँ बनाकर उन्हें पूजना शुरू कर दिया।

(४) संघ-व्यवस्था—भिक्षु-सभों द्वारा धर्म-प्रसार बौद्ध धर्म की एक बड़ी विशेषता है। यद्यपि संघ पद्धति का औपगोष्ठ करने वाले महात्मा पार्श्व थे, किन्तु प्रजातन्त्र-प्रणाली के आधार पर इसका पूरा विकास महात्मा बुद्ध ने ही किया। इनसे पहले हिन्दु धर्म में श्राविकों में सभा करने वाले ऋषियों तथा ज्ञान का प्रसार करने वाले गुरुओं का उल्लेख तो मिलता है किन्तु उनमें अपना संगठन बनाकर कार्य करने की श्रद्धा तो नहीं थी। हिन्दुओं के वर्तमान संग्गामी-सम्प्रदाय, यथाहुं भीर बौद्ध धर्म की एक बड़ी विशेषता यह भी है कि हमारे देश में संघटित रूप से शिक्षा-प्रसार का पद्धति प्रयोग इतना ही किया। इस प्रकार पहला व्यवस्थित शिक्षा-केन्द्र नामदह का बौद्ध-विहार था।

(५) बौद्धिक स्वतन्त्रता—ज्ञान विज्ञान के क्षेत्र में बौद्धों की एक बड़ी विशेषता बौद्धिक की स्वतन्त्रता है। हिन्दु विचारक-केन्द्र को धर्म प्रमाण मानते थे किन्तु बौद्धों ने इसे प्रासाविक नहीं माना। महात्मा बुद्ध सर्वत्र स्वतन्त्र विचार की प्रेरणाहित करते रहे, उन्होंने बार-बार अपने शिष्यों को यह उपदेश दिया कि मेरे शब्दों की पुन-वचन मानकर मत स्वीकार करो, उनकी धारणा बुद्धि से कमीटी पर बैठे ही क्यों, जैसे स्वयंकार सोने की कगता है। निर्वास में रहते, उन्होंने शिष्यों को यही उपदेश दिया था कि वे 'मात्रमदीश' हों, अपनी धारणा को अपना मार्ग-दर्शक दीपक बनाये। यही कारण था कि बौद्ध धार्मिकों ने निर्बाध होकर दर्शन की सभी सम्-स्याओं पर स्वतन्त्रता-पूर्ण विचार किया, इस क्षेत्र में उनके विचार अस्तित्व दर्शन के उत्कलम विकास को सूचित करते हैं। नागार्जुन, अश्व, बभ्रुबभ्रु, धर्मकीर्ति विश्व के धार्मिकों की पहली शक्ति में आते हैं। अकर पर इनका स्पष्ट प्रभाव है।

(६) उच्च नैतिक आदर्श—बौद्ध धर्म ने सदाचार, लोक-सेवा और त्याग के उच्च आदर्शों पर बल दिया। इसमें कोई संदेह नहीं कि उनसे पहले भी उपनिषदों में तथा महाभारत में इस पहलु पर बल दिया गया था किन्तु फिर भी उसके आधा-रण कतता के सदाचार का स्तर बहुत ऊँचा नहीं उठा था। महाशानिधों ने बौद्ध-धर्म के रूप में लोक-सेवा का उदात्त आदर्श जनता के सामने रखा। बोधिसत्व धरणी मुनित की परवाह न करके निरन्तर प्राणि-भाव का दुःख दूर करने के लिए अपने-से-बड़ा आत्म-त्याग करने की उद्यत रहता था। उसकी यह आकांक्षा थी कि वे भक्तियों का सहायक, भटकों का मार्ग-दर्शक और दीन-दुष्टियों का सेवक बने। इस आदर्श ने जहाँ बौद्ध धर्म के प्रसार में बड़ी सहायता दी, वहाँ दूसरी ओर हिन्दु धर्म पर भी गहरा प्रभाव डाला। भागवत पुराण में रत्निदेव (६।२१।२२) और ध्रुव भी उक्तियों इसके सुन्दर उदाहरण हैं।

(७) लोक-साहित्य का विकास—बौद्ध धर्म से बोल-बाल की भाषा में विस्तृत साहित्य की उत्पत्ति हुई, पालि का समूचा साहित्य बौद्ध धर्म के सम्बन्ध का फल था। किन्तु इस क्षेत्र में बौद्धों की प्रेरणा जैनो ने अधिक कार्य किया। इनका कार्य उल्लेख किया जायगा।

(८) भारतीय संस्कृति का प्रसार—विदेशों में भारतीय संस्कृति के प्रसार में बौद्धों ने प्रमुख भाग लिया। मध्य एशिया, चीन, कोरिया, मंचुरिया, जर्मा, स्वाम, मलाया, जावा, सुमात्रा तथा लंका में हमारी संस्कृति प्रधान रूप से बौद्ध-प्रचारकों द्वारा पहुँची। वृहत्तर भारत के निर्माण में उन्होंने सबसे अधिक सहायता दी।

भारतीय संस्कृति में जैनो को देन—बौद्धों की भाँति जैनो ने भी भारतीय संस्कृति के विकास में बहुत बड़ा भाग लिया। धार्मिक क्षेत्र में उनकी सबसे बड़ी देन अहिंसा का सिद्धान्त है। प्रायः अहिंसा को परम धर्म बनाने का श्रेय बौद्धों को दिया जाता है, किन्तु यह लोक-प्रचलित धार्मिक ऐतिहासिक दृष्टि से भ्रान्त है। इसके वास्तविक जन्मदाता जैन ही हैं। जैनो के 'अनेकता' और 'स्माद्वाद' के सिद्धान्त यह सिद्धा देते हैं कि प्रत्येक कथन में आंशिक सत्य है, सम्पूर्ण सत्य के लिए सभी विभिन्न दृष्टिकोणों का अध्ययन आवश्यक है। इससे भारत में पहले से विद्यमान साहित्यशास्त्र और ज्वाला की प्रकृति गुप्त हुई। जैनो की कला और भाषा-तन्त्रबन्धी देन विशेष रूप से उल्लेखनीय है। बौद्धों की भाँति उन्होंने भी अपने तीर्थंकरों की स्मृति में स्तूप, प्रस्तर-वेदिकाएँ, घर्तकृत तोरण स्थापित किये। अजंठा-ऐलंगोला में गोमतीधर तथा मैसूर में करकव के नाम से प्रसिद्ध बाहुबली की प्रतिमाएँ संसार की आश्चर्य-जनक मूर्तियों में से हैं। देखवाड़ा का जैन-मन्दिर कला-मर्मज्ञों की सम्मति में ताजमहल का प्रतिस्पर्धी है। देव के भाषा-विषयक विकास में जैनो का कार्य अद्वितीय है। हिन्दुओं ने धर्म-ग्रन्थों की भाषा का माध्यम सदैव संस्कृत रखा। बौद्धों ने शुरु में पालि प्रचलित रखा; किन्तु बाद में संस्कृत को अपना लिया, किन्तु जैनो ने धर्म-प्रचार तथा इश-लेखन के लिए विभिन्न प्रदेशों तथा विभिन्न कालों में प्रचलित लोक-भाषाओं का उपयोग किया। इस प्रकार उन्होंने 'प्राकृत' भाषाओं के विकास पर बहुत प्रभाव डाला। कई लोक-भाषाओं को सर्वप्रथम साहित्यिक रूप देने वाले जैन ही थे। कन्नड़ का प्राचीनतम साहित्य जैनो का कृति है, प्रारम्भिक तामिल साहित्य के निर्माण में इन्हीं का बड़ा भाग है। संस्कृत, प्राकृत तथा आधुनिक हिन्दी, मराठी और गुजराती के मध्यवर्ती रूप धारण में अनेक जैन-रचनाएँ मिलती हैं। जैनो ने संस्कृत में व्याकरण, कोश, दर्शन आदि विषयों पर महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे।

भक्ति-प्रधान पौराणिक धर्म का उदय और विकास

पौराणिक हिन्दू-धर्म के विकास के दो युग—वर्तमान हिन्दू धर्म लोक-प्रचलित पारम्परिक के अनुसार सनातन काल से चलता आने वाला समझा जाता है। किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से यह विचार ठीक नहीं। वर्तमान काल में हिन्दू धर्म में पूजे जाने वाले प्रधान देवताओं—विष्णु, शिव, सूर्य, दुर्गा, पशुपति प्रभृति का तथा इनकी भक्ति-प्रधान उपासना का विकास अनेक-अनेक शक्तियों में जाकर पूरा हुआ है। धार्मिक हिन्दू धर्म की यह रूप मुक्त युग में प्राप्त हुआ। इसके उद्भव और विकास की दो मुख्य युगों में बंटा जा सकता है—(१) उद्भव काल १०० ई० पू० से ३०० ई० तक का सम्राट् ६०० वर्ष का यह काल भक्ति-प्रधान सम्प्रदायों के बीजवपन, घट्टुरित और पल्लवित होने का युग था, किन्तु इस सारे समय में बौद्ध तथा जैन धर्म की प्रवृत्तियों के कारण इनका पूर्ण विकास नहीं हो पाया। ३०० ई० की मर्यादा धर्मियों के आधार पर नियत की गई है। इस काल के १,५०० से अधिक लेख मिले हैं, इनमें पंचांग से भी कम सेल लेख, वैष्णव भक्तों हिन्दू धर्म के अन्य सम्प्रदायों से सम्बन्ध रखते हैं, वेग सब बौद्ध और जैन धर्मों का उन्मेष करते हैं। (२) उत्कर्ष काल (३०० ई०-१२०० ई०) चौथी शती ई० से भारत के धार्मिक इतिहास में पामा पलटने लगता है। इस समय से हिन्दू धर्म का निरन्तर उत्कर्ष और बौद्ध तथा जैन धर्मों का अपकर्ष होने लगता है। यहाँ पहले इन दोनों कालों की सामान्य विशेषताओं का वर्णन किया जायगा और बाद में धीरे धीरे वैष्णव धर्मों के विकास की संक्षिप्त रूपरेखा दी जायगी।

उद्भव काल

सन् ३०० ई० पू० में भारत में एक प्रबल धार्मिक क्रान्ति हुई थी। पिछले आध्याय में हम यह देख चुके हैं कि इससे जैन तथा बौद्ध धार्मिक धर्मोन्मूलन किन्तु बड़-बड़ विकसित हुए, भक्ति-प्रधान धार्मिक धर्मोन्मूलन भी इनकी भाँति पुराने धर्म के विरुद्ध धर्मन्तोष से उत्पन्न हुए। उपनिषदों में आत्मन्त-प्रधान जटिल कर्मकाण्ड का खीर पत्रों का विरोध करके निर्गुण ब्रह्म, कर्मवाद, मुक्ति आदि सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। किन्तु ये साधारण मनुष्यों की धार्मिक धार्मिकताओं को पूरा नहीं कर सकी। उपनिषदों का इन्द्रियात्मक, क्षणिक निर्गुण ब्रह्म इत्यादि शब्द और सूक्ष्म वाक् कि केवल

बुद्धिजीवी उसका ज्ञान प्राप्त कर सकने थे। स्पृह-बुद्धि सामान्य मनुष्य के लिए वह प्रतीत दुर्बोध था। उपनिषदों की दूसरी अप्रसूता यह भी कि उन्होंने मूर्तिप्राप्ति के लिए कर्मकाण्ड-प्रधान यज्ञों का ही श्रवण किया; किन्तु उसके स्थान पर बड़ा साक्षात्कार के भ्रम, भजन, निदिध्यासन तथा समाधि के जो साधन बताये उनका पालन भी साधारण जनता के लिए सम्भव नहीं था। सभी व्यक्तियों से घर-बार छोड़कर परित्राजक बनकर ब्रह्म-प्राप्ति की यात्रा करना दुरासा-भाव है।

धार्मिक ज्ञानि के मूल विचार—उपनिषदों ने यज्ञों का श्रवण ही किया, किन्तु उनके स्थान पर कोई नई लोकप्रिय पद्धति नहीं रखी। अतः साधारण जनता की धार्मिक आकांक्षा और आवश्यकता को पूरा करने के लिए नये नेता और पन्थ उत्पन्न हुए। इन्होंने उपनिषदों की मूल विचारधारा को सुरक्षित रखते हुए पुराने धर्म और परम्पराओं के विरुद्ध ज्ञानि की, नये धार्मिक सम्प्रदाय स्थापित किये। इनमें चार विचार प्रधान थे—

- (१) ब्राह्मण-धर्मों द्वारा प्रतिपादित यज्ञों का विरोध।
- (२) पशु-बलि का विरोध और यज्ञिषा की महत्ता।
- (३) आत्मा, परमात्मा-सम्बन्धी गूढ़ प्रश्नों की उपेक्षा। शम, दम इन्द्रियनिग्रह पर बल, आध्यात्मिक दृष्टिकोण की अपेक्षा व्यावहारिक दृष्टिकोण की प्रधानता, आचार-शुद्धि की महत्ता।
- (४) अव्यक्त एवं निर्गुण ब्रह्म के भ्रम, भजन द्वारा साक्षात्कार के स्थान पर भक्तिपूर्वक सगुण ईश्वर की उपासना का विश्वास।

धार्मिक आन्दोलनों का जन्म

(क) भागवत धर्म—नास्तिक आन्दोलनों ने पहले तीन पहलुओं पर बल दिया, किन्तु नास्तिक आन्दोलनों में चौपी बात पर भी पुरा बल दिया गया। नास्तिक आन्दोलनों में बौद्ध और जैन प्रधान थे तथा धार्मिकों में भागवत और शैव। हमें निरीश्वरवादी सम्प्रदायों के उद्भव तथा इनके प्रवर्तकों का इतिहास काफी प्रबली तरह ज्ञात है किन्तु धार्मिक पंथों के धार्मिक इतिहास पर संशय का पदों पड़ा हुआ है। उपनिषदों ने हमें इनके उद्भव की कुछ अस्पष्ट भूलक मिलती है। भागवत सम्प्रदाय के जन्मदाता देवकी-गुप्त कृष्ण और धर्मिष्ठ के शिष्य थे। आन्दोलन उपनिषद् के अनुसार गुरु ने शिष्य को एक नये आत्मयज्ञ की शिक्षा दी थी (३।१७।४-६), उसकी दक्षिणा तपस्वर्मा, दान, श्रद्धा भाव, यज्ञिता तथा सत्य वचन था। इसी धर्म के एक अन्य प्रतिष्ठापक राजा वसु ने यज्ञों में पशु-बलि का विरोध करके, हरि की उपासना पर बल दिया था। यह हरि निर्गुण ब्रह्म नहीं किन्तु भक्त द्वारा उपास्य वैयक्तिक ईश्वर था। यह यज्ञ और तपस्या करने वालों द्वारा प्राप्य नहीं था, केवल भक्त की ही धन्ये दर्शन देता था। यज्ञों और तप की निरर्थकता, यज्ञों में पशु-

हिमा की निम्ना तथा भक्ति-लक्ष्य की प्रधानता द्वारा भाग्यवत सम्प्रदायी ने पुराने विद्वानों और परम्पराओं के विपक्ष क्रांति की, किन्तु ईश्वर की श्रुता मानने के कारण वह क्रांति बौद्ध और जैनो की क्रांति की तरह उच्च मास्तिक और दूरगामी नहीं थी।

(क) शैव धर्म—भागवतों के प्रतिरिक्त उपनिषदों से शैवों के ईश्वरवादी भक्ति सम्प्रदायी का स्पष्ट रूप से ज्ञान होता है। स्वतन्त्रतर उपनिषद में (३।२।४। १६-१७) इसका प्रतिपादन है। उपनिषदों के निर्मुक्त ईश्वर से मनुष्यों द्वारा समझें, प्रीति तथा उपासना करने माने योग्य, वैयक्तिक ईश्वर की कल्पना का विकास सर्वथा स्वाभाविक प्रतीत होता है। उपनिषदों का उपनिषद में शिव का इसी रूप में वर्णन किया गया है। किन्तु यह ध्यान रखना है कि शिव की ही इस रूप में कल्पना क्यों की गई। श्री रामकृष्ण मठारकर इस विषय पर बहुत सी बातें करने के बाद इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि शिव बनाने देवता का। धर्माध्यक्षियों में इसकी गणना इसके निम्न की पूजा व्यापक रूप से प्रचलित थी। मोहोदयो की मुद्राद्वयों में यह बात पाई हो गई है। यतः धर्मों ने पूजा के लिए सर्व प्रथम इसी देवता को चुना। इस प्रकार उपनिषदों के सम्बन्धित चर्चा के सिद्धान्त के साथ वैयक्तिक ईश्वर की भक्ति-प्रणालि पूजा का श्रीगणेश हुआ।

धार्मिक क्रांति की विशेषताएँ—छठी अ० ई० पू० की उपर्युक्त धार्मिक क्रांति के सम्बन्ध में तीन बातें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

पहली तो यह कि इसके सभी सुधार-प्रान्दोलनों का उद्भव भारतीय संस्कृति के केन्द्र-स्थल कुल-संघात से दूर मणराज्यों के स्वतन्त्र शासन में हुआ। गौतम बुद्ध राज्यों के तथा बर्मान्त महावीर लिच्छवियों के और बौद्धिक शासकों के प्रजातन्त्र में हुए थे।

दूसरा महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि इस क्रांति में स्वातन्त्र विचार और अभिव्यक्ति की प्रवृत्ति को बल मिला। पाँचवीं छठी अ० ई० पू० में भारत में हमें असाधारण बौद्धिक विद्याशीलता दिखाई देती है, लोगों ने पुरानी विचार-प्रणालियों से बाहर निकलकर स्वतन्त्र रूप से सोचना शुरू किया। इसका परिणाम नई नई विचार-धाराएँ और सम्प्रदाय थे। बौद्ध धर्मों के ६३ धम्म समर्थों का पहले उल्लेख हो चुका है। इनमें धम्मोचुरे सभी प्रकार के विचारक थे। एक ओर जहाँ इस स्वतन्त्र विचार-धारा ने बौद्ध, जैन सम्प्रदाय पैदा किये, दूसरी ओर जातों की भी जग्य दिया। भारतीय दर्शन के अधिकांश विचारों का प्रादुर्भाव इसी काल में हुआ।

तीसरा तथ्य यह था कि इस क्रांति में पहले बौद्धों और जैनो की राज्याध्यक्ष द्वारा भाग्यवत या शैव धर्म की प्रवृत्ति अधिक सफलता मिली। भीम राजा पहले दो धर्मों के रक्षक थे। अन्तर्गुप्त और समुद्रगुप्त ने जैन धर्म की तथा समुद्रगुप्त ने बौद्ध धर्म की संरक्षण दिया। इनके दोनों धर्मों का उत्कर्ष हुआ। पहले यह बताया जा चुका है कि राज-संरक्षण के प्रतिरिक्त धर्मों के स्वाभाविक आकर्षणों के कारण भी ये धर्म लोकप्रिय हुए थे।

बीड़ जैन धर्म का हिन्दू धर्म पर प्रभाव — बीड़ एवं जैन धर्म की शक्तता का हिन्दू धर्म पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। विरोधियों के प्रबल होने पर शान्तिकों तथा कट्टरपंथियों ने धरना पर टीक करता चुक किया। इन धर्मों के साक्षेपों तथा चुनौतियों का उत्तर देने के लिए अपने मित्रास्ती और मन्तव्यों को शृङ्खलाबद्ध एवं तर्क-संगत रूप दिया। विरोधियों के धाकधनों से रक्षा के लिए उन्होंने धर्म एवं दर्शन-सम्बन्धी विचारों को स्मृतियों, रामायण, महाभारत तथा विभिन्न दार्शनिक ग्रन्थद्वारों में व्यवस्थित रूप से उद्भिन्न किया तथा बीड़ और जैन धर्म जिन तत्त्वों के कारण लोकप्रिय हो रहे थे, उन्हें अपने धर्म में समाविष्ट करके उन्होंने हिन्दू धर्म को सुदृढ़ किया।

४००-२०० ई० पू० तक मौर्य युग में शात-प्रतिशात और क्रिया-प्रतिक्रिया की यह प्रवृत्ति प्रबल रही और इसके परिणाम २०० ई० पू० के बाद हमें स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होने लगते हैं। उपर्युक्त २०० वर्षों में दो महत्वपूर्ण घटनाएँ हुईं।

(१) दर्शनों का निर्माण—दर्शनों के मूलभूत विचार तो बहुत प्राचीन थे किन्तु उन्हें सूत्रबद्ध करके शास्त्र का रूप इसी युग में दिया गया। प्रायः कपिल, कणाद आदि की धर्मों का प्रसूता समझा जाता है। किन्तु वे प्रधान रूप से पुराने विचारों की शृङ्खलाबद्ध एवं सुव्यवस्थित रूप से उपस्थित करने वाले हैं। इनका विशेष बलान्तरण व्यवस्था में होगा।

(२) हिन्दू धर्म का नया रूप—इस समय समूह ने हिन्दू धर्म को पुराने यज्ञ-प्रधान रूप के स्थान पर नया भक्ति-प्रधान पौराणिक रूप दिया गया। यद्यपि पुष्यमित्र आदि राजाओं ने सर्वश्रेष्ठ आदि धर्मों को पुनरुज्जीवित किया। किन्तु यह स्पष्ट था कि वैदिक धर्म वैदिक समाज के साथ था, न वह समाज वापस आ सकता था और न वह धर्म अपने पुराने रूप में जीवित सकता था—बीड़ धर्म ने जनता के विचारों में जो परिवर्तन किया, उसे मिटाया नहीं जा सकता था। बुद्ध ने जन-साधारण को नये धर्म की ओरति दिखाई थी, सदाचार और सम्बन्ध जीवन ही वास्तविक धर्म है, यह विचार दिया था। इससे जनता में जो जागृति हुई थी, उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। अतः इस युग का सुधार-आन्दोलन बीड़ सुधार की सब मुख्य प्रवृत्तियों को समनाते हुए था। बीड़ धर्म यदि जनता के लिए था तो हिन्दू धर्म का नया रूप उससे बढ़कर जनता की वस्तु बना। उस समय हिन्दू धर्म को निम्नलिखित दो उपायों से लोकप्रिय बनाया गया।

(क) लोक-प्रचलित देवताओं की वैदिक देवता बनाना—आर्यों के निचले वर्गों और अनार्य जातियों में कई प्रकार के देवताओं, यक्षों, गृह-प्रेतों, जड़ पदार्थों तथा जन्तुओं की पूजाएँ प्रचलित थीं। बीड़ धर्म ने यहाँ की बुद्ध का उपासक बनाकर उनकी पूजा चलती रहने दी थी। अब हिन्दुओं ने भी उनका अनुकरण किया। लोक-प्रचलित देवताओं को मध्यापूर्व रखते हुए उन्होंने उस पर वैदिक धर्म की हल्की-सी छाप

ध्वजित करके उन्हें ध्वज कर विधा । मपुरा में वामुदेव (श्रीकृष्ण) की पूजा प्रचलित थी, उसकी सब वैदिक देवता विष्णु से मिलाकर उसकी उपासना वेदानुयायी कट्टर-पवित्रों के लिए ग्राह्य बना दी गई । धर्म धर्म की भी सेवा रूप दिया गया । 'वैदिक धर्म' के पुनरावर्णन की लहर ने उस समय भूजे जाने वाले प्रत्येक जड़ और मनुष्य देवता में किसी-न-किसी वैदिक देवता की आत्मा झूंक दी ।' जनवरों के भयकर देवी-देवता काली और रुद्र के रूप बन गए । समूचे भारतवर्ष के देवता शिव, विष्णु, सूर्य, स्कन्द आदि विभिन्न शक्तियों के सूचक बने । जहाँ किसी पुराने पुरखा की पूजा होती थी, उसके खन्दर भी भगवान् का 'ध्वजार' किया गया । वह एक भारी समन्वय की लहर थी, जिसने जहाँ कहीं पूज्यभाव या दिव्यभाव किसी भी रूप में पाया, उसमें किसी-न-किसी देवता का 'संकेत' रख दिया । प्रत्येक पूज्य पदार्थ को किसी-न-किसी देवशक्ति का प्रतीक बना वाला । 'देव श्वोति को मांगो उसने ऊँचे स्वर्ग से और वैदिक कवियों के कल्पना-जगत् से उतारकर भारतवर्ष के कोने-कोने में पहुँचा दिया; जिसने जन-साधारण की सब-पूजाएँ धार्यमाण हो उठीं और उनके जड़ देवता भी वैदिक देवताओं की भावमय आत्माओं से अनुप्राणित हो उठे ।'

(क) लोकप्रिय धर्म-धर्मों का निर्माण—बौद्धों की लोकप्रियता का एक बड़ा कारण जातका और अवदान-साहित्य था । इनमें बुद्ध के पहले जन्मों तथा बोधिसत्त्वों की बड़ी रोचक कथाएँ होती थी, जिनमें उनके दया, दान आत्मत्याग आदि गुणों पर बड़े सुन्दर रंग से प्रकाश डाला जाता था । महात्मा बुद्ध सुन्दर कथाओं और दृष्टान्तों द्वारा धर्म के गूढ़ मर्म जनता को समझाते थे । उनके शिष्यों ने इस कला को उपर्युक्त जातक तथा अवदान साहित्य में पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया । प्राचीन वैदिक साहित्य में इस प्रकार का लोकप्रिय साहित्य नाम-भाज था । सूत पुराण और इतिहास की माथाएँ अवश्य गाते थे । किन्तु उनका प्रधान उद्देश्य प्राचीन और पुरुषों के श्रुतापूर्णा कारनामों का ही बखान था, धर्म-प्रचार नहीं । ये गाथाएँ बड़ी लोकप्रिय थीं । अब इस युग में इनके द्वारा धर्म-प्रचार का कार्य लिया जाने लगा । रामायण और महाभारत के नवीन संस्करण तैयार किये गए । महाभारत का तो प्रधान उद्देश्य प्राक्यानों द्वारा नये धर्म की शिक्षाओं का प्रतिपादन था । इसने श्रीकृष्ण को देवता और विष्णु का अवतार बना वाला, विष्णु और शिव की महिमा के गीत गाए, भगवद्गीता द्वारा मानवत धर्म का प्रचार किया । ४०० ई० पू० से २०० ई० तक की भारत की समस्त सभी धार्मिक और वास्तविक विचार-धाराओं का इसमें समावेश है । यह ग्रन्थ हमारे धार्मिक विकास का सुन्दर उदाहरण है । पहले यह 'मूर्तों' तथा 'धारणों' द्वारा गाया जाने वाला और रस-युक्त काव्य ही था, इसकी लोकप्रियता के कारण इसमें सभी धार्मिक समस्याओं का प्राक्यानों के रूप में समावेश करके इसे हिन्दु धर्म का न केवल विरासत विषय-कोश, किन्तु प्रचार का भी प्रबल साधन बनाया गया । यही हाल रामायण का हुआ । इसकी मूल कथा में राम एक आदर्श और पुरुष था, वह दूसरे से छठे काव्य तक इसी रूप में चित्रित है ; किन्तु इस युग में कम-से-कम दूसरी

श० ई० पू० तक उसमें पहला और सातवां काण्व जुहा, राम को भी देवता बना दिया गया। इन दोनों महाकाव्यों ने नवीन ईश्वरवादी, भक्ति-प्रधान और वैष्णव धर्मों को लोकप्रिय बनाने तथा साधारण जनता में प्रचलित धर्म को नया रूप देने में मुख्य भाग लिया। वर्तमान हिन्दू धर्म की आधार-शिला रामायण, महाभारत और पुराण ही हैं। इनमें से पहले दो ग्रन्थों को वर्तमान रूप इस युग में मिला और पुराणों को गुप्ता युग में।

घन्ता में हमें ६०० ई० पू०-३०० ई० तक के काल में नास्तिक-यास्तिक धर्मान्दोलनों के विकास, पारम्परिक संघर्ष और ऐतिहासिक उतार-चढ़ाव पर भी संक्षिप्त दृष्टिपात कर लेना चाहिये। पहले ३०० वर्ष तक तो किसी धर्म का विशेष उत्कर्ष नहीं हुआ। गन्द राजाओं तथा बन्दुमुण्ठ मौर्यों (३२१-२२६ ई० पू०) के संरक्षण से जैन धर्म सर्वप्रथम सारे भारत में फैला, बौद्ध धर्म की सम्राट् अशोक (२७२ ई० पू०-२३० ई० पू०) का राज्यारोहण प्राप्त हुआ और इसका भारत में तथा भारत से बाहर भी बर्मा, मका और सीतन (मध्य एशिया) में प्रसार हुआ। पहली श० तक यह धर्म पहुँचा और चीन से कौरिया होते हुए जापान में पहुँचा। २०० ई० पू० से १०० ई० तक भारत पर आक्रमण करने वाले यवन और कुषाण राजाधर्मों ने इसे स्वीकार किया।

वैदिक धर्म के पुनरुद्धार की लहर—किन्तु मौर्यों के पतन के साथ भारत में बौद्ध धर्म के पतन तथा वैदिक धर्म के पुनरुद्धार की लहर का प्रारम्भ हुआ। मौर्य राजा बौद्ध और जैन धर्मों के संरक्षक थे, वे यवनों के आक्रमणों से देश की रक्षा नहीं कर सके। जनता इसका प्रधान कारण उनकी धर्म-विजय और सहिष्णु की नीति को समझती थी, बात ये धर्म कम-से-कम उस समय उनकी दृष्टि से गिर गए। पुष्यमित्र शुङ्ग ने वैदिक धर्म की 'धुनः प्रतिष्ठा' का पल किया, अश्वमेध यज्ञ किया तथा न केवल वैदिक धर्म को राज्यधर्म बनाया किन्तु बौद्धों का दमन भी किया। इसी समय बर्मी मनुस्मृति में वहाँ जुष्टारियों को राष्ट्र से निकालने का विधान है, वहाँ बौद्धों और जैनो (पाषण्डियों) के निर्वासन का भी उपदेश है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि १८५ ई० पू० में वैदिक मत का सीधा विरोध करने वाले बौद्ध, जैन आदि नास्तिक सम्प्रदायों के विरुद्ध-स्पष्ट प्रतिक्रिया उत्पन्न हो गई थी। फिर भी बौद्ध धर्म मितान्दर, कनिष्क आदि विदेशी राजाधर्मों की छत्र-छाया में फलता-फूलता रहा। तीसरी श० ई० में कुषाणों की सत्ता का उन्मूलन करने वाले शिव के उपासक भारवित्र राजाधर्मों ने हिन्दू धर्म को राजमत्त बनाया, पुष्यमित्र के समान एक नहीं दस अश्वमेध यज्ञ किए। उनसे तथा उनके बाद के गुप्त राजाधर्मों से संरक्षण पाकर हिन्दू धर्म का उत्कर्ष होने लगा और बौद्ध धर्म में क्षीणता आई।

हिन्दू धर्म का उत्कर्ष-युग—पौराणिक काल

[३०० ई०—१२०० ई०]

बीसवीं श० ई० से भारत में बौद्ध तथा जैन धर्मों की तुलना में हिन्दू धर्म को प्रधानता मिलने लगी । १२वीं शताब्दी के अन्त तक उसके दोनों प्रतिद्वन्द्वी समाप्त हो गए । बौद्ध धर्म का भारत में कोई नाम लेना पानी देना तक न बचा और जैन धर्म का प्रभाव नगण्य हो गया । इस युग में अधिकांश पुराणों की रचना हुई, रामायण और महाभारत की भाँति इन्होंने हिन्दू धर्म को लोकप्रिय बनाया और उसे वर्तमान रूप प्रदान किया । इसीलिए धार्मिक दृष्टि से इसे पौराणिक युग भी कहते हैं । इस युग की प्रधान विशेषताएँ निम्न हैं—(१) देवताओं की प्रतिमाओं की पूजा के लिए जटिल धर्मकाण्ड का विकास तथा मन्दिरों का निर्माण, (२) वाममार्गी तान्त्रिक सम्प्रदायों का उत्थान, और (३) हिन्दू धर्म को धार्मिक राज्याध्यक्ष मिलना ।

(१) कर्मकाण्ड की जटिलता—मौर्य सातवाहन युग में वैदिक देवताओं और यज्ञों के स्थान पर नई मूर्तियों और अवतारों का मन्दिरों में पूजन प्रचलन शुरू हो गया था, किन्तु उस काल में वे मन्दिर, उनकी प्रतिमाएँ और पूजा-नद्धति बहुत सीधी थी । मूर्तियाँ दिव्य-शक्तियों का केवल प्रतीक या संकेत थीं, जिनके आह्वान से जब प्रतिमाओं में जान पड़ जाती थी । 'यज्ञों के बड़े आहम्बर में दबे हुए उत्तर वैदिक युग के धार्मिक जीवन में और पूर्व वैदिक युग के भार्यात्मिक सरल वैदिक धर्म में जितना अन्तर था, वज्रकाशीन विशाल मन्दिरों के सिंहासनों पर बैठने वाले स्वर्ग-राजों से अत्यन्त देवताओं के पेचीदा किम्बा-कलापों और इतों, उपवासों तथा जपों के शोरजधन्य में लिपटी हुई नव्य युग की पौराणिक पूजा में और सातवाहन युग के धार्यात्मिक सरल पौराणिक धर्म में उतना ही अन्तर था।' इस युग में देवताओं के सुनहले तथा नव्य मन्दिर बनने लगे, उनका साज-शृङ्गार और पूजा एक बड़ा प्रयत्न बन गई ।

वाममार्गी यन्त्रों का जन्म—बौद्ध धर्म की प्रचलति होने पर छठी श० ई० में उसके महापान सम्प्रदाय से मन्त्रपान और वज्रपान का जन्म हुआ । वज्रपान की वज्रमुख धर्मात् धनीकिक सिद्धि सम्पन्न देवता समजते थे । इन सिद्धियों के पाने के लिए अनेक मुद्रा साधनाएँ करना पड़ती थी । शीघ्र मृत में पाशुपत, कापालिक (धधोरी), वैष्णव मत में गोपी-लीला, तन्त्र-सम्प्रदाय में आनन्द भैरवी की पूजा आदि और असीन यन्त्र चल पड़े । सब यन्त्रों का उद्देश्य मन्त्रों तथा अन्य साधनों द्वारा 'सिद्धि' प्राप्त करना था ।

राज्याध्यक्ष—इस काल की एक प्रधान विशेषता हिन्दू धर्म की अधिक राज्याध्यक्ष मिलना था । पुष्ट सत्ताद् भागवत धर्म के अनुयायी और पशुपक्षक थे, उन्हीं के शक्तिशाली समर्थन से वैष्णव धर्म का विशेष उत्कर्ष हुआ । मुन्तों के बाद पिछले गुप्त, प्रतिहार, चन्देल, मौखरी, कलचुरी, चलभी और कामरूप के वर्मन् राजा वैष्णव

का शैव थे। पाल व्यवस्था बौद्धधर्मों के, किन्तु वेन राजा और वैष्णव थे। इसलिये 'पहले पालुक' जैनों के पोषक थे, किन्तु बाद के राजा हिन्दू धर्म के उपासक बने। राजपूतों में कुछ जैन थे किन्तु अधिकांश हिन्दू थे। पल्लवों और होयसलों के पहले राजा जैनों के समर्थक थे, किन्तु बाद के पल्लव शैव थे और होयसल वैष्णव। यह स्पष्ट है कि इस सारे काल में बौद्धों और जैनों को राजाओं का पुराना समर्थन नहीं मिला और यह उनके ह्रास का एक प्रधान कारण था।

पौराणिक युग की प्रधान घटनाएँ पुराणों का विकास, समन्वयात्मक हिन्दू-धर्म का जन्म, बौद्ध धर्म का पतन, जैन धर्म का ह्रास और शैव, वैष्णव, शाक्त तथा अन्य अनेक छोटे सम्प्रदायों का जन्म है।

पुराणों का विकास—पुराण भी सामाज्य और महाभारत की भाँति अत्यन्त प्राचीन काल से बने आते थे, प्राचीन कर्षी का वर्णन इनका एक प्रधान धर्म था। राजा, राज्याभिषेक आदि के अवसर पर धारण-भाट इनका कौतूहल किया करते थे। इनमें कमयः वृद्धि होती रहती थी। महाभारत-युद्ध के बाद महर्षि वेदव्यास ने प्राचीन संश-वर्तों का संग्रह करके पुर्ण रचे थे। इनमें समय-समय पर नई घटनाएँ जुड़ती चली गई। इनका वर्तमान का प्रधानतः गुप्त युग का है। कुल पुराणों की संख्या १८ है, इनमें छः ब्रह्मा, छः विष्णु और छः शिव का वर्णन करते हैं। पहले यह बताया जा चुका है कि सामाज्य, महाभारत और पुराण हिन्दू धर्म की आधार-विस्तार हैं। बातों ने जिस प्रकार कथामों द्वारा बौद्ध धर्म का प्रचार किया वैसे ही पुराणों ने हिन्दू धर्म का। वेद और उपनिषद् के अधिकारी केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य थे, किन्तु सामाज्य, महाभारत और पुराण सुनने का अधिकार लोथों और क्षत्रियों को भी था। इसमें कोई संशय नहीं कि पुराण हिन्दू-धर्म के प्राण हैं।

समन्वयात्मक हिन्दू धर्म—इस युग की दूसरी घटना समन्वयात्मक हिन्दू धर्म का विकास है। सातवाहन युग की समन्वयवादी सत्तर वे भारत की बनेचर और बनावे जातियों के एक देवताओं से वैदिक देवताओं की प्राण-प्रतिष्ठा की थी। पुराणों ने ब्रह्मा, विष्णु, महेश तीन ही ईश्वर प्रदान किये। त्रिमूर्ति के विचार द्वारा इन्हें एक ही परमात्मा की उत्पादक, पालक और संहारक शक्तियों का रूप माना। जब वे एक ही शक्ति के रूप हैं तो इनमें विरोध की कल्पना कैसे हो सकती है। हिन्दू धर्म में ऐसे अनेक समन्वयवादी ग्रन्थ हुए, जिन्होंने न केवल पुराना साम्प्रदायिक विरोध छोड़कर सभी देवताओं की पूजा प्रारम्भ की; किन्तु पुराने वैदिक अनुष्ठानों के साथ इसका कोई विरोध नहीं समझा। इसलिये सम्प्रदाय वाले वैदिक विधियों के साथ विष्णु, शिव, दुर्गा, गणेश की भी पूजा करते थे। समुच्चयवादी इस बात पर जल देते थे कि ब्रह्म-प्राप्ति के इच्छुक भुगुप्तु को वैदिक अनुष्ठान और वेदागत दोनों का ज्ञान होना चाहिए। गुप्त युग में सत्तरों ने अनेक-अनेक आदि वैदिक धर्मों के साथ वैष्णव धर्म के पालन में कोई विरोध नहीं समझा। विभिन्न सम्प्रदायों की मिलाने के लिए

देवताओं में धर्मद्वय और तादृशत्व स्वीकार किया गया। निम्नलिखित विचार से तीनों पृथक् शक्तिधर्मों के स्वरूप थे, किन्तु तादृशत्ववादिनों के मत में विष्णु और शिव धर्मिन थे। हरिहर की मूर्ति इसी विचार का मूल बन गई।

बौद्ध धर्म का लोप और जैन धर्म का त्हास—बौद्ध धर्म की शीघ्रता और सोप धार्मिक एवं बाह्य दोनों कारणों से हुए। धार्मिक कारणों में भिक्षुओं की विजायिता, आत्मस्व, नीति का अभाव भाग, काममार्ग और सम्प्रदाय-भेद थे। बाह्य कारणों में राज्याध्यक्ष का अभाव, हिन्दू धर्म द्वारा उनकी सभी विशेषताओं का खाना लिया जाना और मुस्लिम आक्रमण थे। जैनों, ८वीं शती में शैवों ने महापान बौद्ध धर्म से लोप और योग समाधि के लक्ष्य ग्रहण किये, वैष्णवों ने भक्ति और रूप-वाच, मूर्ति-पूजा आदि के लक्ष्य ग्रहण किये। बौद्ध श्रमणों का स्थान हिन्दू धर्मादिनों ने ले लिया, बुद्ध को हिन्दुओं ने आठवाँ अवतार मान लिया और इस प्रकार धर्म-धर्म-संयुक्त बौद्ध धर्म को हलक कर डाला। दोनों में कोई अन्तर नहीं रहा। १२वीं शती धर्म से तुर्कों ने जब बौद्ध मठों पर हमला किया तो सब भिक्षु तिब्बत भाग गए, उनके भवन हिन्दू बन गए और उनके उजड़े मठों में शैव साधु बस गए। बुद्धमार्ग का मन्दिर प्रारम्भ में बौद्ध था, बाद में गिरि सम्प्रदाय के शैवों ने उस पर अधिकार कर लिया।

जैन धर्म में बौद्ध धर्म की विशेषता पुराण-प्रियता, शक्ति-रस और कट्टरता अधिक थी। धर्म: इसमें काममार्ग-वैसे सम्प्रदाय विकसित नहीं हुए; किन्तु कट्टरता इसके त्हास का कारण हुई। इससे यह धर्म में समयानुकूल परिवर्तन करने में अक्षम रहता। वैष्णव, शैव धर्म धरने धार्मिक भिन्नताओं के कारण अधिक लोक-प्रिय हुए, दक्षिण के कुछ शैव राजाओं ने जैनों पर राज्यारोह भी किये। कहा जाता है कि पाण्ड्य राजा सुन्दर ने ८,००० जैनों की हाथी के पैरों तले कुचलवा दिया था। मयुरा के महान् मन्दिर की दीवारों पर इन दृश्यों के चित्र भी देखीये हैं। इन सब कारणों से मैसूर, महाराष्ट्र में एक हजार वर्ष तक प्रभाव धर्म रहने के बाद इसकी महत्ता कम हो गई। इस समय जैन धर्म के प्रधान केन्द्र पश्चिमी भारत में गुजरात और राजपुताना हैं।

बौद्धधर्म के लोप और जैनधर्म के त्हास से भारत में स्वभावतः पौराणिक हिन्दू धर्म और उनके विविध सम्प्रदाय प्रबल हो गए। इनमें वैष्णव और शैव मुख्य हैं। इनके तथा अन्य शैव सम्प्रदायों के ऐतिहासिक विकास की संक्षिप्त रूपरेखा ही यहाँ दी जायगी।

वैष्णव धर्म

उद्भव—पहले यह बताया जा चुका है कि वैदिक युग में राजा बभ्रु द्वारा यज्ञों में पशु-बलि का विरोध करने तथा हरि की उपासना पर बल देने वाली लक्ष्मी के रूप में वैष्णव धर्म का जन्म हुआ, यज्ञों का विरोध करने में तो यह बौद्ध-वैतें ही

ये किन्तु उन्होंने ईश्वर और साधना की धारणा धर्म में कोई स्थान न देकर व्यापार-मार्ग के नैतिक साधरण द्वारा मुक्ति मानी थी, वीरकों का, उनमें मुख्य भेद इस बात पर था कि वे वैदिक ईश्वर की शक्ती में विश्वास रखते थे और उसकी भाँति वे मुक्ति मानते थे। भागवत धर्म का उद्भव उपनिषदों के प्रारम्भ होने वाली उसी विचार-धारा से हुआ, जिसने बौद्ध और जैन धर्म पैदा किये थे। प्रारम्भ में यह धर्म यज्ञों तथा तपस्या के पुराने मान्यों की प्रशंसा भक्ति पूर्वक हरि की उपासना पर बल देता था। यज्ञों की वह शीघ्र संस्कृति या छोटे समुदायों का विरोध करता था। इस तरह यज्ञ-प्रधान पुराने वैदिक धर्म के विरुद्ध यह उतनी उत कान्ति नहीं थी जिसकी वेद और ईश्वर में विश्वास न रखने वाले बौद्ध और जैनो की।

कृष्ण और गीता—धार्मिक सुधार की इस लहर की शृष्णि-वंशी जगदीश-पुरुष श्रीकृष्ण से बहुत अधिक बल मिला। उन्होंने भागवद्गीता में नवीन धार्मिक सुधार के सिद्धान्तों का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन किया। और इस सुधार-प्रान्दीकरण की भूमि-दिशत रूप प्रदान किया। गीता के काल के सम्बन्ध में यथास्थित मतभेद है। कुछ विद्वान् तो इसे गुप्त-युग की कृति मानते हैं किन्तु इसमें सन्देह नहीं इसके विचार बहुत प्राचीन हैं। साम्प्रदायिक उपनिषद् में श्रीकृष्ण का स्पष्ट उल्लेख होने से वे काफी पुराने धर्म-संशोधक जान पड़ते हैं। भागवत धर्म के विकास की दृष्टि से गीता के दो सिद्धान्त उत्तेजनायोग्य हैं, इसके अनुसार मोक्ष के लिए तपस्या और ईश्वर का मार्ग आवश्यक नहीं, मनुष्य के लिए यह प्रणाली नहीं कि वह अपना काम-धन्या छोड़कर मुक्ति के लिए संन्यासी हो जाय, उसका धादन ही स्वधर्म मानत है, उसी में भरना आवश्यक है। दूसरा सिद्धान्त यह है कि मुक्ति मुख्य नैतिक साधारण में नहीं किन्तु भक्ति में है और इस भक्ति-मार्ग में जात-जात और स्त्री-पुरुष का कोई भेद नहीं। वैदिक धर्म की मुक्ति केवल उच्च वर्णों के पुरुषों की प्राप्ति ही क्योंकि वेदाध्ययन और वैदिक समुदायों का उन्हें ही अधिकार था। श्री कृष्ण की मुक्ति स्त्री-पुरुष तक सबके लिए थी।

भागवत धर्म का पारम्परिक प्रसार—श्री कृष्ण द्वारा प्रतिपादित यह मार्ग पहले उनकी जाति में और फिर शनैःशनैः भारत के अन्य हिस्सों में बड़े लोकप्रिय होने लगा। भक्तों ने बालदेव श्रीकृष्ण की ही अवतान बनाकर उनकी पूजा शुरू कर दी। जातक, निर्दोश और पाणिनि के सुत्रों में बालदेव के भक्तों का उल्लेख है। चौथी श० ई० पू० में मेगस्थनीज ने मथुरा में श्रीकृष्ण की पूजा का वर्णन किया है। दूसरी श० ई० पू० में वेल्सलेय धर्म इतना प्रचल हो चुका था विदेशी जातिवा भी इससे साक्षर हो रही थी। पुनानी राजा अल्लतिवित्त (अष्टियालिकस) के राजदूत तथाकिला-निवामी हेतिसोडोरस ने इस शता में वेसनगर (प्राचीन विदिशा) में एक मन्दिर (एक स्तम्भ पर गज की मूर्ति) स्थापित किया। यह देव-देव बालदेव की प्रतिष्ठा में बना किया गया था, इस पर उत्कीर्ण लेख में यह धारणा की प्रशंसा,

अथवा वैष्णव धर्म का अनुयायी कहता है। तीरिया की एक अनुसृति के अनुसार दूसरी श० ई० पू० तक धार्मीयता में श्रीकृष्ण की पूजा होने लगी थी। इसी समय के बौद्धों और महाभाट के धार्मिकों में भागवत धर्म का स्पष्ट उल्लेख है।

वैदिक धर्म के साथ समन्वय—भागवत धर्म को महार दश-वर्षान प्राचीन वैदिक धर्म के विरोध से शुरू हुई थी किन्तु इस काल में कट्टरपन्थी धर्म ने नवीन सम्प्रदाय के प्रधान देवता कृष्ण का वैदिक विष्णु और नारायण से समेद स्थापित करके नये धर्म को अपना लिया। हेतियोडोरस के मतानुसार से यह ज्ञात होता है कि यह परिवर्तन दूसरी श० ई० पू० के पहले ही हुआ था। यह दोनों से लिए लाभप्रद था। प्राज्ञाणी ने इस लोकप्रिय धर्म को अपनाकर बौद्ध धर्म के प्रति लोगों का आकर्षण कम कर दिया और भागवतों को इनसे नई प्रतिष्ठा और गौरव मिले। विष्णुपूज में महाभारत में कृष्ण के बिकट को विष-वसन किया है, उससे स्पष्ट है कि कुछ कट्टरपन्थियों को श्रीकृष्ण को देवता मानना पसन्द नहीं था, किन्तु धर्म में उन्हें भी यह परिवर्तन मानना पड़ा और वैष्णव मत ने हिन्दू धर्म को मिलकुल नया रूप दे दिया।

वैष्णव धर्म के नये स्वरूप—दूसरी शती ई० पू० में धर्म-धर्म वैष्णव धर्म और कृष्ण-चरित्र में नए स्वरूप लाने शुरू हुए। इसमें अथर्व-कल्पना, पांचरात्र-पद्धति, कृष्ण की काल-मीमांसा, गोपनी और राधा के साथ सीताधर्मों की कहानियाँ प्रचलित हैं। अथर्वधर्मों की कल्पना पुरानी थी किन्तु धृष्ट युग में धर्म-धर्म इसका पूरा विकास हुआ। पाँचवी शती ई० पू० तक कृष्ण और राम अनुष्ण थे, दूसरी श० ई० पू० में वे देवता बने, धीरे-धीरे अथर्वधर्मों की संख्या बढ़ने लगी। पहले छः थी, बाद में दस हुई, इसमें बृद्ध को भी सम्मिलित कर लिया गया था और धर्म में जीनों के प्रथम तीर्थंकर कृष्णभदेव आदि को सम्मिलित करके यह २४ तक पहुँच गई। पांचरात्र पद्धति में वासुदेव की पूजा बाद धर्मों में (चतुर्विंश) के साथ होती थी। इसके विस्तृत प्रतिपादन के लिए ६००-८०० ई० के बीच में अनुसृति के अनुसार १०८ पांचरात्र अधिष्टाएँ बनीं। इनमें काफी तांत्रिक प्रभाव है और ये विष्णु की शक्ति पर अधिक बल देती हैं।

कृष्ण सीताधर्म—किन्तु वैष्णव धर्म में 'पांचरात्र' के स्थान पर धीरे-धीरे श्रीकृष्ण की सीताधर्मों की प्रधानता मिलने लगी, मध्ययुग में वैष्णव धर्म का प्रधान धर्म बनी बन गई। महाभारत में इन सीताधर्मों का कोई वर्णन नहीं, किन्तु भक्तों की भावना के अनुसार पुराणकार इन्हें कृष्ण-चरित्र में जोड़ने लगे गए। सर्वप्रथम ईसा की पहली शतियों में पश्चिमी भारत के समीर जासकी के समय कृष्ण की गोपाल-काल के रूप में सीताधर्मों का वर्णन लोकप्रिय हुआ और उसके बाद गोविर्धन आदि। सातवीं के नवीं शती के धर्म में विरचित भागवत पुराण में श्रीकृष्ण की इन सीताधर्मों का नैतिक-प्रधान प्रतिपादन है। किन्तु उस समय तक राधा की कल्पना का

विकास नहीं हुआ था, भागवत में उसका कोई उल्लेख नहीं है। किन्तु १२वीं शती के अन्त तक राधा-कृष्ण-चरित्र का धम्मिन् संग बन गई। इस शती के अन्त में ब्रजदेश में राधा-कृष्ण की केलियों का सरस वर्णन किया और निम्बार्क ने दार्शनिक और धार्मिक दृष्टि से राधा-कृष्ण की उपासना की उच्चतम स्थान दिया।

दक्षिण भारत के शाक्तार्थ—मध्य युग में वैष्णव धर्म के विकास में दक्षिण भारत ने प्रधान भाग लिया। भागवत पुराण के अनुसार भक्ति दक्षिण देश में पैदा हुई थी। पांचवीं से बारहवीं शती के बीच में वहाँ ब्रगाद्वि भक्ति-रस की मन्दाकिनों बहाने वाले 'भालधार' नामक वैष्णव सन्त हुए। इनके गीत आज तक वहाँ वैष्णव-वेद समझे जाते हैं। भागवत पुराण भी दक्षिण में लिखा गया माना जाता है। छठवीं-नवीं शती में वैष्णव भक्ति-आन्दोलन की दो धोरों में भँवर जतरा पैदा हुआ। एक और कुमारिल भट्ट ने वैदिक कर्मकाण्ड को ही मुचित का मार्ग मानते हुए उसके पुनः प्रतिष्ठानन का आन्दोलन चलाया; दूसरी ओर शंकराचार्य ने ब्रह्मवाद की स्थापना करके दार्शनिक दृष्टि से भक्ति सिद्धान्त के मूल पर ही कुठाराघात किया। भक्ति में भगवान् और भक्त की पृथक् सत्ता आवश्यक है, जब सभी कुछ ब्रह्म है तो भक्ति की कोई आवश्यकता ही नहीं रहती। शंकराचार्य के अग्रगण्य शिष्यत्व, समाचारण प्रतिभा-सद्गुण आस्तार्थ-नामधेय और विलक्षण ध्यातिरस से यह सिद्धान्त लगभग सर्वमान्य हो गया, किन्तु वैष्णवों ने शीघ्र ही अपने भक्ति-सिद्धान्त की सुदृढ़ दार्शनिक आधार पर स्थापित किया। यह कार्य 'शाक्तार्थों' द्वारा हुआ। पहले शाक्तार्थ साधुमुनि रामानुज की शक्ति में या भारहवीं शती के शरम्भ में हुए, इनका प्रधान कार्य तो केवल श्रीवैष्णवों का संगठन, भालधारों के गीतों का संग्रह तथा उन्हें इक्षि रागों में बद्ध करना और मन्दिरों में उनका गायन कराना था। किन्तु वैष्णव-सिद्धान्तों की दार्शनिक स्थापना भी थी। इनके उत्तराधिकारियों में रामानुजाचार्य और रामानुजाचार्य (११०० ई०) थे। रामानुज ने शंकर के ब्रह्मवाद के विरोध में विशिष्टाद्वैतवाद की स्थापना की। इनके अनुसार धर्मात्म कर्तुणों के भण्डार एक ईश्वर के ही हैं और जगत दो प्रकार के विशेषण है। शंकर के ब्रह्म में जीव-ब्रह्म में अभिन्नता होने के कारण भक्ति के लिए कोई स्थान न था, रामानुज की दार्शनिक पद्धति में उसे ब्रह्म का विशेषण मानते हुए भी उसमें पृथक् भागा गया, सतः इसमें भक्ति सम्भव थी। किन्तु रामानुज की भक्ति उपनिषद्-प्रतिपादित ध्यान और उपासना पर धन देती थी, इसमें गोपाल-कृष्ण की लीलाओं का कोई स्थान न था।

रामानुज के बाद के शाक्तार्थों में आनन्दलीलं या माय (१३ वीं) और निम्बार्क उल्लेखनीय हैं। माय ने जीव की ब्रह्म से विलकुल भिन्न भागा और जब तक भालधारों की पूजा में रामानुज के 'कटुम्पूह' की जो पूजा अभी आती थी, उसके स्थान पर विष्णु की ही उपासना माना है। इस दृष्टि से यह 'वैष्णव धर्म का सच्चा संस्थापक' कहा जा सकता है। बारहवीं शती के अन्त में निम्बार्क ने उत्तर भारत में गोपियों और राधा

से घिरे श्रीकृष्ण को पूजा कराई। तैत्तिरीय ब्राह्मण होते हुए भी उन्होंने मुन्दावन को अपने धर्म प्रचार का केन्द्र बताया। गोपियों घोर राधा पर बहने किसी आचार्य ने बात नहीं दिया था। निम्बार्क को यह बात उत्तरी भारत में बड़ा लोकप्रिय हुआ, चैतन्य प्रादि आचार्यों के प्रचार से इसे बड़ा बल मिला और उत्तर भारत में अनेक भेदों के साथ वर्तमान समय में वैष्णव धर्म का प्रधान रूप यही है।

शैव धर्म

उद्गम—वैयक्तिक ईश्वर के रूप में शिव का पहला स्पष्ट उल्लेख 'श्वेताश्व-तर' उपनिषद् में है, बाद में 'अथर्वशिरम्' उपनिषद् में इसका प्रतिपादन किया गया। दूसरी श० ई० पू० में शैवसम्प्रदाय के प्रवर्तन की सूचना पर्वतजि के महाभाष्य से मिलती है। महाभारत के नारायणीय प्रकरण में उमापति शिव की इस सम्प्रदाय के सम्प्र-प्रकर करने का श्रेष्ठ (अध्याय २३) दिया गया है, उस समय तक शिव मानव था, प्यसा नहीं बना था। वायु और विष्णुराज (अध्याय २३) की कथाओं के अनुसार, जब वायुदेव श्रीकृष्ण ने जन्म लिया, उसी समय कामावर्धन (करकम, बबोदा) में शिव ने नकुलीय के रूप में जन्म लिया। शैव सम्प्रदाय का आरम्भिक नाम साकुल, पामुल या माहेश्वर है। विदेशी जातियों भागलत धर्म की भाँति शैव धर्म से भी आकर्षित हुई। कुषाण राजा बिम काय (३०-३३ ई०) ने शैव धर्म धर्मोत्कार किया। इसके कुछ सिद्धों के उन्नी तरफ मन्वी पर बड़े त्रिचूतमारी शिव की मूर्ति है। अनेक प्राचुरिक विद्वान् इसे शैव धर्म के सम्भावक नकुलीय की प्रतिमा मानते हैं। किन्तु शीघ्र ही शिव की मानव-मूर्ति के स्थान पर शिव की पूजा शुरू हो गई।

(क) पामुल शैव सम्प्रदाय—छठी श० ई० के धन तक शैव धर्म का पयोष-विक्रम और विस्तार हो चुका था। शैव भारत के दक्षिण और तक फैल चुके थे। कनक और कम्पेदिना का प्रधान धर्म यही था। शैव सम्प्रदायों में दोषित न होने पर भी यथाश, शर्वकर्म-ज्यो मन्त्राद्, कासीयन्, भवभूति-ज्यो कधि, सुषम्बु, वाजपय-ज्यो भद्र-लेख शिव के उपासक थे। इनमें अनेक सम्प्रदाय बने। पातली शाली ई० में इनमें पामुल सम्प्रदाय सबसे अधिक प्रचल था। पुषान स्वयं को इसके अनुयायी बसोबिम्बल तक मिले थे, बनारस पामुलों का पद था, यहाँ १०० पीठ से कुछ कम ऊँची महेश्वर की ताक्ष-मूर्ति थी। सर्वत्र मन्दिरों में इसकी पूजा बड़ी श्रद्धा-धाम से होती थी। पामुलों के सम्प्रदाय में सिद्धि और ज्ञान प्राप्ति के लिए साधुओं को बिम बशों का जलन करना पड़ता था, उनमें कुछ के धीं—(१) करीर पर लगे रमजा और भस्म से जीटना, (२) गले तथा होठों को भीड़ा करके 'हा हा' की ध्वनि करना, और (३) सब लोगों द्वारा निर्दिष्ट द्रव्यों का रस करना ताकि साधक कर्तव्य-प्रवर्तक के विवेक से ज्ञान उद भूँ।

(ख) कन्यायिक और कालकृष्ण—इन शैव सम्प्रदायों के विद्वान्त पामुलों से अधिक उच्च थे। इनकी प्रधान विद्वोपताई निम्न थी—(१) नरमुण्ड या कपाल में

भोजन करना, (२) मृत व्यक्ति की भस्म को शरीर पर रमाना, (३) भस्मभक्षण, (४) हाथ में विशूल धृष्ट रखना, (५) मंदिरों का पाश पास रखना और (६) उस में घबड़िपत महेश्वर की पूजा करना ।

(ग) शैव सम्प्रदाय—किन्तु 'शैव' शब्दशब्द के सिद्धान्त और आचार-आपातकों से अधिक सौम्य और तर्क-संगत थे । यह प्रातः-सार्ध सम्प्राधान में शिव की भक्ति और उपासना पवित्र धर्मों के रूप, आराधना, धारणा, ध्यान, समाधि तथा विभिन्न प्रकार के निगों की पूजा पर बल देता था । नवीं, दसवीं शती में काश्मीर में शैव धर्म के सम्प्रदायों का उत्कर्षम विकास हुआ । इनके आध्यात्मिक विचारों में मौलिकता और धार्मिक आचार-व्यवहार में उदारता थी । इनमें उपर्युक्त सम्प्रदायों की धारणाओं प्रवृत्तियों का कभी आधान्य नहीं हुआ । काश्मीर के इन उदार शैव धर्मों का कारण संकराचार्य का प्रभाव समझा जाता है ।

शैव साहित्य

(क) आगम—वायु, तिम और कूर्म पुराणों के अतिरिक्त शैव ईश्वरवाद का आगम नामक ग्रन्थों में वित्तार से प्रतिपादन किया गया है । आगम बहुवचन है, किन्तु प्रत्येक के साथ अनेक उपागम जुड़े हैं और इनकी कुल संख्या १२८ है । वे सातवीं श० ई० से पहले बन चुके थे । इनमें प्रतिपादित शैव धर्म 'आगम शैव धर्म' कहलाता है । यह ईशवादी है । नवीं शती में शंकर ने अद्वैतवाद का प्रचार किया और काश्मीर के शैवधर्म में अद्वैतवादी धार्मिकों का स्थान अद्वैतवाद को प्रधान किया ।

(ख) तामिल साहित्य—पल्लव (छठी श० ई० से) तथा चोल वंशों (दशम श०) के संरक्षण से दक्षिण देश में शैव धर्म का बड़ा उत्कर्ष हुआ । ग्रन्थों के रूप में शैवधर्म-सम्बन्धी विज्ञान तामिल साहित्य का निर्माण हुआ । ग्रन्थों के आगम-सन्तों की शक्ति लाक्षणिक सामक शैव धर्म हुए । पहली तीन शताब्दियों के रचयिता प्रसिद्ध सन्त 'शिव सम्बन्ध' सम्भवतः सातवीं शती में हुए । तामिल पुराण 'विष्णु पुराण' साहित्य-उपर्युक्त ११ सप्तक तामिल शैव धर्म का आधार हैं । इनमें पहले सात शताब्दी 'विष्णु' में व्यापार, सुन्दर और ज्ञान-सम्बन्ध की रचनाओं का समूह है, इनकी प्रतिष्ठा वेदों के तुल्य है । इनकी दार्शनिक विचार-धारा धार्मिकों में मिलती-जुलती है ।

शैव सिद्धान्त—उत्तरवीं, चौदहवीं शतियों में तामिल शैव धर्म में मूर्खता-साहित्य का विकास हुआ, जो शैव सिद्धान्त कहते हैं । अब धार्मिकों का स्थान १४ सिद्धान्त शास्त्रों में ले लिया ।

और शैव या विष्णुसत्त्व सम्प्रदाय—शैवों का एक महत्त्वपूर्ण सम्प्रदाय और शैव है । इसका संस्थापक ११६० ई० में कलचुरी राजा विजयन से राज-गद्दी धीमे-बाधा उपासक प्रमाण मन्त्री बामन का । कर्नाटक और महाराष्ट्र में शैव और शैव धर्मों को समान करने का ध्येय इसी को है । यह सम्प्रदाय आत्म-सम्बन्धी वैश्विकता और

भक्तिता पर बहुत बल देता था। इसकी विशेषता कट्टर हिन्दू धर्म के सिद्धान्तों का विरोध है। वे वेद को प्रामाणिकता और पुनर्जन्म में विश्वास नहीं रखते, बाल-विवाह-विरोध तथा विधवा-पुनर्विवाह का समर्थन करते हैं, ब्राह्मणों के प्रति तीव्र घृणा रखते हैं।

मध्य युग में महाराष्ट्र तथा दक्षिण में राष्ट्रकुट और जोन राजाओं के संरक्षण से शैव धर्म बड़ा लोकप्रिय हुआ। इसी समय इलीरा (बैस्न) के जगन्नाथसिद्ध जैनाथ और तटीर के विशाल शैव-मन्दिरों का निर्माण हुआ।

अन्य सम्प्रदाय

वैष्णव और शैव धर्म के अतिरिक्त शक्ति, लक्ष्मण, स्कन्द या कार्तिकेय, ब्रह्मा और सूर्य की पूजा भी हिन्दू धर्म में सातषाह्रतः युग से चली। इनमें शाक्त सम्प्रदाय विशेष रूप से उल्लेखनीय है। पहले यह ध्यतताया जा चुका है कि वैदिक युग में स्त्री उत्सव की उपासना नहीं थी; भीष्म धर्म के तदनन्तर अध्याय में पहली बार दुर्गा की स्तुति मिलती है। गुप्त युग में शिव की शक्ति की अधिक प्रधानता मिली है। शक्ति के उपासकों ने शरीर में पदचक्र माने, 'हिम, हुम, फट्' आदि मन्त्रों से तथा योग में अलौकिक सिद्धियों की प्राप्ति, यन्त्रों की शक्ति और 'मुद्राओं' में विश्वास किया, देवी की प्रशंसा करने के लिए पशु तथा नर-वस्त्रियों की पद्धति प्रचलित हुई। सुधान च्वांग को सातवीं शती में एक बार शाकुओं ने कर्जौज के पास बलि देने के लिए पकड़ लिया था। चौदह धर्म की भांति, मध्य युग में इनमें भी तान्त्रिक प्रभाव प्रकट हुआ।

मुसलमानों के आने के बाद हिन्दू धर्म में भक्ति और सूफार की गई नहरे चली, उनका बहुत बलपूर्वक अध्याय में किया जातमा।

दशान

दर्शन सम्भवतः भारतीय संस्कृति की समृद्धतम कृति है। भारतवर्षे विचार-प्रधान देश है। वैदिक युग से प्राध्यात्मिक और पारमार्थिक प्रवृत्ति भारतीयों की कर्म-धरती रहे है और उनका हृन् हुंने वाली अध्यात्मविद्या को सब धारकों में अष्ट माना जाता है। अतः इसके विकास में हजारों वर्षों से हमारे देश के सर्वोत्तम विचारक लगे रहे है। पही कारण है कि तत्त्व-चिन्ता की ऊँची-ऊँची उड़ान तथा विचारों की सूक्ष्मता और संकीर्णता में बहुत कम देश उसकी तुलना कर सकते हैं। अन्य देशों के दर्शन की अपेक्षा भारतीय तत्त्व-ज्ञान की कई विशेषताएँ हैं। नीस के अनिश्चित किसी अन्य देश में वैश्विक विचार की तीन हजार वर्षे लम्बी और अनिच्छित परम्परा लगी है। पश्चिम में यह निराल सिद्धांतों अधीन विद्या का अनुसंधान-साध है, पश्चिमी के मनाविनोद या बुद्धि-विज्ञान की वस्तु है। किन्तु भारत में इसका जीवन के साथ अनिच्छित सम्बन्ध है। इसका उद्देश्य प्राध्यात्मिक, प्राधिनीतिक, प्राधिदीर्घिक तापों से संतप्त मानवता के कर्मों की निवृत्ति है। यूरोप में दर्शन और धर्म पृथक्-पृथक् है। दर्शन बुद्धि का विषय है, उसका उद्देश्य सत्य की खोज है, धर्म अज्ञा और विश्वास की वस्तु है। किन्तु हमारे देश में धर्म और नीतिकला की प्राधार-विद्या दर्शन है। वह हमारे समूचे साधारण-व्यवहार का परिपालक और मार्ग-दर्शक है।

दार्शनिक विकास के चार युग—भारतीय दर्शन के विकास को चार प्रमुख कालों में बांटा जा सकता है—(१) आदिमकाल (६०० ई० पू० तक), (२) सूत्र काल (६०० ई० पू० से पहली स० ई० तक), (३) भाष्य काल (पहली से पन्ध्रवीं सदी तक), (४) वृत्ति काल (अन्तीसवीं सदी से वर्तमान समय तक)। पहले काल को हम भारतीय दर्शन का उद्भवाकाल कह सकते हैं। इस समय में हमारे प्रायः सभी मुख्यभूत विचारों का उद्भव हुआ। बाद में पुनश्च रूप में विकसित होने वाले छहों दर्शनों का बीजारोपण इस काल की घटना है। विश्व प्रकार-एक ही सद्र-मुख विभाजित होने पर नाना शाखाओं-प्रकारशाखाओं में विभक्त हो जाता है, वैसे ही वेदों तथा उपनिषदों के विकास से बाद जाता सम्प्रदाय विकसित हुए। भारतीय तरक-चिन्तन तो अखंड से ही प्रारम्भ हो गया, उसमें दर्शनों के इन सनातन प्रश्नों के अस्पष्ट उत्तर हैं कि महा विश्व कैसा पैदा हुआ, इसे पैदा करने वाला कौन है, इसके पैदा होने से पहले क्या

का । ताम्रदीप सूक्त (ऋ० १०/११६) में इसका स्पष्ट उल्लेख है । पूर्व वैदिक युग में तत्त्व-चिन्ता की प्रवृत्ति धार्मिक कर्मकाण्ड के बोध से दबी रही, किन्तु उत्तर वैदिक युग में यज्ञों के विषय प्रतिक्रिया होने पर इसकी लहर पुनः प्रवृत्त हुई । मनुष्य क्या है ? कहाँ से आया ? मर कर कहाँ जायेगा ? सृष्टि का क्या प्रयोजन है ? इस प्रकार के प्रश्नों से धार्मिक विचारक अपौर हो उठे । उपनिषदों से ज्ञात होता है कि अनेक समृद्ध परिवारों के कुलीन युवक घर-बार छोड़कर विभिन्न ऋषि-मुनिओं के आश्रमों में जाकर इन प्रश्नों का उत्तर खोजा करते थे । इनमें प्रधान रूप से इसी प्रकार के संवाद घोर कथार्य हैं । श्वित्सेता, मैत्रेयी, सत्यकाम, जाबाल, पिप्पलाद की कथा-गाथा उस समय के तत्त्वान्वेषण पर सुन्दर प्रकाश डालती हैं । उस समय तक भारतीय दर्शन की मूलभूत सात्वतात्मो, पचभूत, ब्रह्मेन्द्रिया, आत्मा और शरीर की पृथक्ता, आत्मा की अमरता, सर्वोच्च, सर्वव्यापक सत्ता या ब्रह्म, उसके स्वल्प, सृष्टि-विकास की प्रक्रिया, सत्त्व, रज, तम के तीन गुणों, कर्मवाद, पुनर्जन्म, संसार की क्षणभंगुरता और तत्त्वज्ञान के सिद्धान्तों का जन्म हो चुका था । किन्तु पृथक् दार्शनिक सम्प्रदायों का विकास नहीं हुआ था । उपनिषदों में सभी प्रकार के दार्शनिक विचारों की जड़ों-से-जड़ों उगाने हैं । कठोपनिषद् में एक साधु सांख्य और वेदान्त का प्रतिपादन है । तैत्तिरीय तन्मा बहुवारम्भक उपनिषद् में वेदान्ती ब्रह्म का उल्लेख है किन्तु इसका कहीं भी सम्यक् या व्यवस्थित विवेचन नहीं किया गया ।

सूत काल (१०० ई० पू०—पहली शती ई०)—सूत काल में दार्शनिक विचारों की शृङ्खलाबद्ध किया जाने लगा । उपनिषदों में तत्त्व-चिन्ता की प्रारम्भिक उगानें हैं, दर्शनों में व्यवस्थित विवेचन । कपिल, कणाद, गौतम की सांख्य, वैशेषिक, न्याय दर्शन का रचयिता समझना शक नहीं; उन्होंने केवल पहले से कले जाने वाले विचारों को व्यवबद्ध किया । पिछले अध्याय में हमें ऐसा तथा रूप देने का कारण स्पष्ट किया जा चुका है । शरी ३० ई० पू० से भारत में एक प्रबल धार्मिक और बौद्धिक चालि हुई थी । बौद्ध, जैन और सांख्य विचारकों ने जल प्राचीन विचारों तथा कथार्यों पर लगे-लगे और मोक्ष-मार्गों की ओर की, तक शृङ्खलाबद्ध दार्शनिक विचारों की साकारगठना समुभव हुई और वे दर्शनो ने जन्म लिया । कौटिल्य के समय तक (तृती ३० ई० पू० का अन्तिम भाग) केवल तीन दर्शन थे—सांख्य, योग और सांख्य । जिसमें योग युग या प्रारम्भिक सातवाहन युग में पहली श० ई० तक पलेभास रूप में मिलने वाले वैशेषिक, सांख्योस, पूर्व-मीमांसा और उत्तर-मीमांसा (वेदान्त) मूलबद्ध हुए ।

माध्य काल (पहली श० ई० से सत्रहवीं श० ई० तक)—दार्शनिक विकास का तीसरा युग माध्य काल है । इसे यदि दर्शन का स्वर्णयुग कहा जाये तो अनुचित न होगी । इसी युग में नान्दार्जुन और शंकर-जैने दार्शनिक पैदा हुए जिसकी टक्कर के दार्शनिक युगने दोनों ने बहुत कम पैदा किये हैं । इस काल में विभिन्न सम्प्रदायों के दार्शनिकों में परस्पर द्वेष टक्कर या घात-प्रतिघात चलता रहा । इनके दर्शन के

विकास में बड़ी सहायता दी। प्रत्येक दर्शन को विपक्षियों द्वारा उठाये भाषणों का उत्तर तथा नई समस्याओं का समाधान करना पड़ता था। यह काम भाष्यकारों ने किया। ये स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखने के स्थान पर पुराने दर्शन को या भाष्य की टीका द्वारा इसे सफलतापूर्वक करते रहे। इसमें ये न केवल भाषणों का समाधान करते थे किन्तु नवीन सिद्धान्तों का प्रतिपादन भी करते थे। शंकर का धर्म इतनी प्रकार का सिद्धान्त है। हम अपने दर्शनों के सत्त्वों की ऐतिहासिक दृष्टि से उनका क्रम-विचार देने बिना नहीं समझ सकते। उदाहरणार्थ न्याय दर्शन का विकास बौद्ध दर्शन के साथ जुड़ा हुआ है। न्याय का सर्वप्रथम भाष्यकार वात्स्यायन नागार्जुन का था। अनेक आरम्भिक बौद्ध दार्शनिकों का सङ्गम करता है, उसके उत्तर में विश्वात्म ने 'प्रमाण-समुच्चय' लिखा। इसके जवाब में प्रसिद्ध नैयायिक उद्योतकर ने 'वात्स्यायन भाष्य' पर 'न्याय-वास्तविक' की रचना की, इसका खड्गन बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति ने 'प्रमाण-वास्तविक' में किया, अन्त में इसके उत्तर में बाणस्पति मिश्र की 'तात्पर्य' टीका लिखी गई। भाष्य युग में इस प्रकार के घात-प्रतिघात से भारतीय दार्शनिक उत्पन्न-चिन्तन की प्रित ऊँचाई तक पहुँचे, प्राचिनिक विचार-धारा उससे घाने नहीं बढ़ सकी। भाष्य युग दो प्रधान भागों में बँटा है—(क) पहली से आठवीं शती तक—इस काल ने नागार्जुन, वसुबन्धु, अर्यम, धर्मकीर्ति और शङ्कर-जैसे दिग्गज दार्शनिक पैदा किये। भारतीय दर्शन में मौलिकता और नवीनता बनी रही। (ख) किन्तु इसके बाद से सोलहवीं शती तक भाष्यकारों ने प्रधान रूप से वेदान्त की विभिन्न व्याख्याओं पर बल दिया, मौलिक विचार बहुत-कुछ समाप्त हो गया। चौथे शती युग में मुख्य रूप से भाष्यों का प्रथम स्पष्ट करने के लिए विभिन्न टीकाएँ लिखी जाती रहीं।

भारतीय दर्शन को प्रधान रूप से दो भागों में बाँटा जाता है, (१) नास्तिक दर्शन, (२) वास्तिक दर्शन। नास्तिक दर्शन वेद की प्रामाणिकता और ईश्वर में विश्वास नहीं रखते। इसमें तीन प्रधान हैं—चार्वाक, जैन और बौद्ध। वास्तिक दर्शन ये हैं—पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा, सांख्य, योग, न्याय और वैशेषिक।

नास्तिक दर्शन

(१) चार्वाक—चार्वाक धर्म अतिरिक्त नीतिस्वाधी और प्रत्यक्ष में विश्वास करने वाला है। इसके मन में ईश्वर, परमेश्वर, आत्मा, स्वर्ग, नरक की कोई जगह नहीं। इसका प्रधान सिद्धान्त है—'साधो, निधो, नीति उदाधो,' 'जब तक जियो, मुक्त से जियो, खुश लेकर जीवो जियो, क्योंकि छोड़ के भय हो जाने पर जीव छोड़कर नहीं जाता', अन्त्यात्मवाद निरा कवीकता है, जगत् में घाली से दिखाई देने वाले, धुनि, जल, धातु और वायु चार ही तत्व हैं, इनके संयोग से स्वभाववत् जेतना और बुद्धि की उत्पत्ति होती है। जीवन का लक्ष्य भोग और इन्द्र-आनन्द है। मृत्यु के बाद सब चीजों का अन्त हो जाता है। ऐहिक सुखवाद पर बल देने के कारण इसका नाम चार्वाक (चार-धातु=मुन्दर चार्वाक) तथा सोकायत (सोक से विस्तीर्ण) है। इसके

प्रवर्तक बृहस्पति नामक ऋषि थे। इनका मूल ग्रन्थ तो मुक्त हो चुका है, किन्तु उसके स सूच निम्नलिखित ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं।

चारोंक दर्शन सम्भवतः धृति-काल के अन्त में बढ़ते हुए यमानुष्ठान, उपश्रवण और गार्लोकिता के विरुद्ध प्रतिक्रिया थी।

(२) जैन—जैन धर्म प्रारम्भ में आचार-प्रधान था। बाद में उस में दार्शनिक सिद्धान्तों का विकास हुआ। उमास्वामी और कुन्दकुन्दाचार्य (पहली श० ई०) जैन दर्शन की नींव डालने वाले थे। छठी से नवम शताब्दी का काल जैन युग का स्वर्ण युग है। इस समय सिद्धसेन दिवाकर (पाँचवीं श० ई०), समन्तभद्र (सातवीं श० ई०), हरिमद्र (आठवीं श०), भट्ट धर्मक (आठवीं श०), और विश्वानन्द (नवीं श०) हुए। परवर्ती दार्शनिकों में हेमचन्द्र (१०८८-११७२ ई०), मल्लिसेन सूरि (१२६२ ई०) और गुणरत्न (१४०६ ई०) उल्लेखनीय हैं।

जैन दर्शन प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द नामक तीन प्रमाण मानता है। इसका प्रधान सिद्धान्त 'व्याघ्राद' है। इसके अनुसार प्रत्येक वस्तु अत्यन्त धर्मशून्य है, इन सबका ज्ञान ही हमी व्यक्ति को हो सकता है, जिसने केवल (मुक्ति) प्राप्त कर लिया हो, साधारण व्यक्ति उसके अर्थ-साध को ही ज्ञान सकते हैं। अतः हमारा ज्ञान सीमित और सापेक्ष है। इसे प्रकट करने के लिए प्रत्येक ज्ञान के साथ धृक् से स्वात् (सम्भवतः) शब्द जोड़ना चाहिए। इसी की व्याघ्राद या अनेकान्तवाद कहते हैं। जैन धर्म अनेक इष्टों की सत्ता में विश्वास रखने से बहुत्ववादी वास्तववाद (Pluralistic Realism) का पोषक है। जैन दर्शन में मोक्ष के तीन साधन हैं—(१) सम्पद् दर्शन (अज्ञा), (२) सम्पद् ज्ञान, (३) सम्पद् चरित्र। चरित्र की शुद्धि के लिए 'अहिंसा' शय, चरित्य, ब्रह्मचर्य और अपारिवर्ह का पालन आवश्यक है। जैनों कर्मफलवादा ईश्वर की सत्ता नहीं मानते।

(३) बौद्ध दर्शन—महान् बुद्ध ने सामान्यतः दार्शनिक समस्याओं की उपेक्षा की थी; किन्तु बाद में उनके अनुयायियों ने दर्शन की वही सूक्ष्म विवेचना की। बुद्ध की शिष्याओं के मूल प्रधानतः दो दार्शनिक सिद्धान्त थे। (१) संघातवाद (२) सन्तानवाद। पहले सिद्धान्त का भाव यह था कि अज्ञान की कोई मूलक सत्ता नहीं, वह शरीर और मानसिक प्रवृत्तियों का समुच्चय (संघात) मात्र है। सन्तानवाद का तात्पर्य है कि आत्मा तथा जगत् अनित्य है, नष्ट प्रतिक्षम बदलता रहता है। जिस प्रकार नदी का प्रवाह प्रतिक्षण बदलने पर भी वही प्रतीत होता है, दीपक की भी परिवर्तित होने हुए भी उसी तरह ज्ञान पड़तो है, वैसे ही आत्मा और जगत् वास्तविक होने पर भी प्रवाह (संघात) रूप से बने रहने के कारण स्थायी प्रतीत होते हैं।

बौद्ध दर्शन की चार सम्प्रदायों में बौद्ध ज्ञान है—(१) वैभाषिक, (२) चीनास्तिक, (३) मीमांसाकार और (४) माध्यमिक। इनका प्रधान मतभेद सत्ता के सम्बन्ध में है। वैभाषिक के मत में बाह्य एवं भीतरी (मानस) जगत् से सम्बन्ध रखने वाले

सभी पदार्थ वस्तुवैज्ञानिक हैं। इसीलिए इसका नाम 'सर्वोन्निवृत्त' भी है। भौतिक विज्ञान पदार्थों को अनुमान द्वारा ही सत्य स्वीकार करते हैं। भौतिक विज्ञान अथवा भौतिक ही एक मात्र सत्य मानता है, इसीलिए विज्ञानवादी भी कहलाता है। माध्यमिक के मत में जगत् के समस्त पदार्थ शून्य रूप हैं, अतः इसका नाम शून्यवाद भी है।

बौद्धों के दार्शनिक सम्प्रदायों का विशाल साहित्य प्रायः लुप्त हो चुका है। अतः इसका बीबी सीर तिब्बती अनुवादों में पुनरुद्धार हो रहा है। वैभाषिक सम्प्रदाय के सिद्धान्तों की जातकारी वसुबन्धु के 'अभिधर्मकोष' में मिलती है। वसुबन्धु की कुछ ऐतिहासिक समुद्रगुप्त (३२०-३७५ ई०) का तथा बालादित्य का मुद्र मानते हैं। अतः उसका समय चौथी या पाँचवीं शती है। ये पैसावरवामी ब्राह्मण थे, पहले वैभाषिक या सर्वोन्निवृत्तवादी थे, बाद में अपने बड़े भाई असंग के संग और उपदेश से विज्ञानवादी बने। विज्ञानवाद के संस्थापक 'अभिधर्मशास्त्रकार' और 'माध्यान्त विभाग' के प्रणेता आर्य भैक्षव (तीसरी श०) थे। किन्तु इसका प्रसार असंग और वसुबन्धु ने किया। असंग ने 'बोधिसत्त्व भूमि' और 'महायान भूवातकार' लिखे तथा वसुबन्धु ने 'शास्त्रासंग्रह' और 'अभिधर्मकोष'। इस सम्प्रदाय के अन्य दो प्रसिद्ध आचार्य विज्ञानाय और धर्मकीर्ति हैं। विज्ञानाय वसुबन्धु के शिष्य और 'प्रमाण-समुच्चय' के प्रणेता थे। धर्मकीर्ति (पाँचवीं श०) ने 'प्रमाण चार्तिक' में विज्ञानवाद का प्रतिपादन तथा बौद्ध स्वाय पर अन्य नैयायिकों के आक्षेपों का निराकरण किया है। माध्यमिक मत के प्रवर्तक नागार्जुन (दूसरी श० ई०) तथा अन्य प्रसिद्ध आचार्य आर्यदेव (तीसरी श० ई०) स्वविर बुद्धिपालित (पाँचवीं श०) चन्द्रकीर्ति (छठी श०) और वास्त-रक्षित (आठवीं श०) थे। नागार्जुन की कृतियाँ 'माध्यमिक-मूल', 'धर्म-संग्रह' और 'मुह्यन्तेज' हैं। आर्यदेव का चतु-शतक अनुपम दार्शनिक रचना है। माण्डरक्षित का सर्वोन्निवृत्त ग्रन्थ 'तत्त्व-संग्रह' है। इसमें ब्राह्मण दार्शनिकों की विस्तृत आलोचना करते हुए बौद्ध सिद्धान्तों का समर्थन किया गया है। माध्यमिक सम्प्रदाय के आचार्य न केवल बौद्ध किन्तु भारतीय दार्शनिक जगत् की सबसे बड़ी विभूतियों में हैं।

प्रास्तिक दर्शन

१. पूर्व मीमांसा—शः दर्शनों में मीमांसा अपने स्वयं के कारण काफी पुराना प्रतीत होता है। इसका प्रचलन उद्देश्य कर्मकाण्ड सम्बन्धी वैदिक वाक्यों की समुचित व्याख्या के नियमों का प्रतिपादन है। मीमांसा का विचार बहुत प्राचीन है। सहिषाधी और ब्राह्मण-धर्म में इसका संकेत है। किन्तु मीमांसा के पूर्ववर्ती सभी विचारों की श्रृङ्खलाबद्ध करके शास्त्रीय रूप देने का श्रेय महर्षि जैमिनि को है। जैमिनीय दर्शन के १६ अध्याय २०६ अधिकरण तथा २,६४४ श्लोक हैं। व्यापुनिक विज्ञान पहले १२ अध्यायों को ही प्रामाणिक मानते हैं। इनमें यज्ञ-विषयक धर्म का विस्तृत विचार है। उपनिषद्, भगवद्गीता (दूसरी श० ई०) और गणेशवासी (२०० ई०)

ने भीमांता-सूत्रों पर बुलिमी और भाष्य लिखे। इनमें शबरस्वामी के भाष्य की तुलना ब्रह्मसूत्र के 'सांकर-भाष्य' तथा पाणिनीय शब्दप्रयोग के 'पादजल भाष्य' से की जाती है। बाद में 'शबर भाष्य' के टीकाकारों ने तीन सम्प्रदाय बताये—भाट्ट मत, मुनमत और मुरारी मत। भाट्ट मत के प्रवर्तक कुमारिल भट्ट थे (साठवीं श० का पूर्वार्ध)। भीमांता के विकास में कुमारिल-युग (६००-६५० ई०) स्वर्ण युग है। कुमारिल ने भीमांता की बीड़ों के शार्ङ्गों से बचाया, मिथ्यात्वों को सुबोध व्याख्या करके इसे लोचनीय बनाया। इनके प्रधान ग्रंथ श्लोक, धीर सत्यवातिक है। इनके शिष्य मन्वन्तमित्र ने विधि-विवेक, तथा 'भावनाविवेक' आदि ग्रंथ लिखे। भाट्ट मत के अन्य आचार्यों में पार्ष्वसारीय (चारहवीं श०), माधवाचार्य (षोडशवीं श०) और समवेद (संताहवीं श०) उल्लेखनीय हैं। मुहम्मद के संस्थापक कुमारिल भट्ट के शिष्य प्रवाकर मिश्र थे। तीसरा सम्प्रदाय मुरारि मिश्र (चारहवीं श०) का है।

भीमांता का मुख्य उद्देश्य तो यज्ञादि वैदिक अनुष्ठानों का विवेचन करना था, किन्तु इसमें भीमांतकों ने अनेक नवीन सिद्धान्तों की उद्भावना की। शब्द के स्वरूप और उसकी निर्यातित्वता पर बड़ा सूक्ष्म विचार किया। विरोधी वाक्यों की संगति बिटाने तथा व्याख्या करने के उन्होंने जो भीलिक सिद्धान्त निरिच्छ किए, जिन स्मृति-ग्रंथों के अर्थ-निर्णय में भी बड़ी सहायता की जाती रही है। वैदिक कर्म काण्ड का ज्ञान तो भीमांता के बिना हो ही नहीं सकता।

२. उत्तर भीमांता (वेदान्त)—वेदान्त भारतीय दर्शन का सबसे कमकीर्ता रहन है। वेदान्त सूत्रों के प्रणेता महर्षि बादरायण हैं। ये सम्भवतः महर्षि वैश्विनि के अनुयायी हैं। इनका उद्देश्य उपनिषदों के आधार पर ब्रह्म का प्रतिपादन, सकल, वैश्वैक जैन, बौद्ध आदि मतों का खण्डन, ब्रह्म-प्राप्ति के वेदान्त-सम्मत साधनों का वर्णन था। वेदान्त दर्शन के सृजक इतने धराधार हैं कि भाष्यों के बिना उनका अर्थ जानना बहुत कठिन है और भाष्यकारों ने इनसे अपना अभीष्ट अर्थ निकालने में बड़ी लीक-तान की है। यतः इन सूत्रों का वास्तविक अर्थ और महर्षि बादरायण का ध्यान पता लगाना अत्यन्त क्लिष्ट काम है। फिर भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि बादरायण के अनेक सिद्धान्त शंकर से निम्न हैं। उनके मूल विचार सम्भवतः ये हैं—'विष्णु ब्रह्म की प्रतीक्षा प्राप्त्यो योग्य है। जीव चैतन्यरूप है। ज्ञान उसका विशेषण या गुण है। ब्रह्म-ब्रह्म का उत्पादन और निमित्त दोनों कारण हैं। बादरायण और शंकर में प्रधान भेद यह है कि सृजकार भाष्याचार्य नहीं मानते थे। उनका मत था कि ब्रह्म से प्रादुर्भाव होने पर भी जीव उससे वृद्ध और वास्तविक बने रहते हैं। ब्रह्म से बनने वाला जगत् भी वास्तविक होता है। शंकर के मत में यह अवास्तविक और मिथ्या है।"

वेदान्त सृज पर अनेक आचार्यों ने अपनी-अपनी दृष्टि के अनुकूल व्याख्याएँ लिखी हैं। इनमें जीव और ईश्वर के सम्बन्ध में ही अधिक मत-भेद है। शंकराचार्य

(७००-८२० ई०) जीव और ब्रह्म में कोई भेद नहीं मानते। उनका धर्म सिद्धान्त है—ब्रह्म सत्य जननिमग्ना, जीवों वहाँत नाशर । 'ब्रह्म ही सत्य है, सत्य का शाश्वत लीनों कालों में रहते वाली वस्तु है, सत्तार ऐसा न होने से निश्चया है। उसकी व्याप-हारिक सत्ता है, किन्तु पारमार्थिक सत्ता नहीं है। शंकराचार्य का दूसरा बड़ा सिद्धान्त यह था कि ब्रह्म के दो स्वरूप हैं—निर्गुण तथा सगुण। भाषा विविधत ब्रह्म सगुण है, यही ईश्वर है। निर्गुण ब्रह्म भाषा के सम्बन्ध से रहित, सर्वश्रेष्ठ, अखण्ड, व्यापक और सन्निदानन्द स्वरूप है। नीलरा सिद्धान्त ज्ञान के द्वारा मुक्ति था।

श्री शंकराचार्य के सिद्धान्त बाद के भक्ति-श्रेणी वैष्णव आचार्यों को प्रसन्न नहीं आते। वे जीव और ब्रह्म में भेद मानते थे, उनके मत में ब्रह्म ही ईश्वर था, चेतन जीव तथा जड़ जगत् भिन्ना नहीं, सत्य थे। जीव धर्मा तथा सत्ता में अन्तर्गत है, भक्ति ही मोक्षदायिका है। उन्होंने अपने सिद्धान्तों के समर्थन के लिए अनेकी दृष्टि से वेदान्त-ग्रंथों का माध्यम किया। इनमें रामानुज (११५० ई०), मध्व (१२३८), निम्बार्क (१२५० ई०), और वल्लभ (१३०० ई०) उल्लेखनीय हैं। रामानुज का मत विशिष्टाद्वैत कहलाता है। इसके अनुसार जीव तथा जगत् सन्निध सद्गुरुओं के भण्डार, ईश्वर के दो प्रकार या विशेषण हैं। भक्त यह धर्म न होकर विशेषण वाला (विशिष्ट) धर्म है। मध्व जीव और ईश्वर को सर्वथा पृथक् मानते हैं, साथ ही वे ईश्वर को इस जगत् का निमित्त कारण ही मानते हैं, उत्पादान नहीं। अतः उनका मत द्वैत मत कहलाता है। आचार्य निम्बार्क जीव और ईश्वर को व्यवहार माय में भिन्न मानते हैं और ऐसे धर्मिण। अतः उनके मत को द्वैताद्वैत कहा जाता है। वल्लभआचार्य सामान्यवाद को न मानकर केवल धर्म अर्थात् सुद्धाद्वैत मानते हैं।

भारतीय वाङ्मय में सबसे अधिक साहित्य वेदान्त पर लिखा गया है। अद्वैतवादी वेदान्त का प्रारम्भ श्रीहर्ष (७०० ई०) की 'भाष्यम् कारिकाओं से होता है। नवीं शती के शुरु में अकर ने प्रस्तावनापी (वेदान्त मूल, उगमिष्य और पीठा) पर प्रद्वितीय भाष्य लिखा। 'शंकर भाष्य' पर वाचस्पति (नवीं श०) ने 'भाष्यी' नाम की एक सुन्दर टीका लिखी। वेदान्त के अन्य ग्रंथों में श्रीहर्ष (नववीं श०) का 'सम्बन्ध-सम्बन्ध-वाच', नित्युपाचार्य (तिरुहवीं श०) की 'सर्ववैश्वानर', 'विशारण्य स्वामी (चौदहवीं श०) की 'पञ्चदशी', सद्गुरुद सरस्वती (सोलहवीं श०) की 'धर्मसिद्धि', अण्णय दीक्षित (सत्रहवीं श०) का 'सिद्धान्त लेख-संग्रह' उल्लेखनीय हैं। वैष्णव आचार्यों में रामानुज ने ब्रह्मगुरुओं पर तथा नीला पर भाष्य लिखा। वेदान्तविधिक (चौदहवीं श०) ने श्री वैष्णव मत सम्बन्धी पाणिन्यगुरुओं ग्रंथों की रचना की। मध्व तथा वल्लभ ने अपने मत के समर्थक पुराणग्रंथ तथा आनुनाय्य लिखे। सद्गुरु सङ्घ-युग में वेदान्त पर नवेनवे भाष्य लिखने का काम जारी रहा।

५. सांख्य—सांख्य के मूलमूल विचार काफी प्राचीन हैं और यह द्वैतवादी होने से वेदान्त का प्रबल प्रतिपक्षी रहा है। कठ, छान्दोग्य, द्वेतावतर उपनिषदों में इसके अनेक सिद्धान्त बीज रूप से मिलते हैं। सांख्य का मूल धर्म है—अनन्त सत्ता

समर्पण माना। यह ईश्वरी है। इनके अनुसार प्रकृति और पुरुष ही मूल सत्य हैं। इनके अस्तित्व सम्बन्ध से जगत् का आविर्भाव होता है। मूल प्रकृति से सृष्ट्युत्पत्ति की प्रक्रिया इसमें बड़े विस्तार से समझाई गई है। प्रकृति सत्य, रज, तम नामक तीन गुणों की साम्यावस्था है; इनमें वैमर्श होते से सृष्टि का आविर्भाव होता है। तीन गुणों का विचार सांख्य की भारतीय दर्शन की सबसे बड़ी देन है।

सांख्य दर्शन के प्रणेता महर्षि कपिल माने जाते हैं। वे उपनिषत्कालीन हैं, किन्तु इनके नाम से प्रचलित 'सांख्य सूत्र' बहुत ही प्राचीन हैं। इसका प्राचीन और प्रसिद्ध ग्रन्थ ईश्वर कृष्ण की 'संक्षेपकारिका' है। इसका समय बहुत विवाद-ग्रस्त है, प्रायः इसे पहली स० ई० का माना जाता है। यह इतना प्रसिद्ध ग्रन्थ था कि छठी स० ई० में इसका चीनी में अनुवाद हुआ। इसकी व्याख्याओं में 'माठर वृत्ति' (दूसरी स० ई०), 'नीटपाद भाष्य' तथा वाचस्पति मिश्र (नवीं स०) की 'तत्त्व प्रामुख्य' उल्लेखनीय हैं। सोलहवीं स० में विज्ञान भिन्न ने सांख्य सूत्रों पर 'सांख्य प्रवचन भाष्य' लिखकर सांख्य और वेदान्त का सामंजस्य किया।

४. योग—'योग' दर्शन सांख्य से सम्बद्ध है। योग का अर्थ है विसृतिपूर्ण का निरोध। 'योग दर्शन' में इसकी विस्तार से विवेचना की गई है। योग के आठ अङ्ग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि। समाधि में इष्टा धारित स्वप्न में अवस्थित होकर कैवल्य या मुक्ति प्राप्त करता है। योग से अनेक प्रकार की निद्रियाँ प्राप्त होती हैं। 'योग दर्शन' के विस्मृतिपाद में इसका विस्तार से वर्णन है। सांख्य से सम्बन्ध होते हुए भी योग ने ईश्वर की माना है, अतः योग की सेवक सांख्य भी कहा जाता है। जो पुरुष सर्वाधिक ज्ञानी क्लेश, कर्म-विनाश (कर्म-फल) से मुक्त है, वही ईश्वर है। योग समाधि और मन के समन की विधियों पर अधिक बल देता है।

भारत में योग का बहुत अधिक महत्त्व होते हुए भी योग पर बहुत कम ग्रन्थ लिखे गए। वर्तमान समय में उपलब्ध योग-सूत्रों के रचयिता पतंजलि (दूसरी स० ई० पू०) माने जाते हैं। इस पर व्यास का प्रसिद्ध भाष्य तीसरी स० ई० में लिखा गया। नवीं स० में वाचस्पति मिश्र ने 'व्यासभाष्य' पर एक टीका लिखी। 'व्यास-भाष्य' के प्रतिरिक्त 'योग-सूत्रों' पर अनेक टीकाएँ बनीं, इनमें राजा भोज-कृत 'राजमार्तण्ड या भोज वृत्ति' विशेष रूप से प्रसिद्ध है।

५. न्याय—भारतीय दर्शनों में साहित्य की दृष्टि से वेदान्त के बाद न्याय का स्थान सब से ऊँचा है। पाँचवीं स० ई० में न्याय पर भारत में निरन्तर विचार हो रहा है। न्याय के विकास की दो धाराएँ रही हैं। पहली तो मूलकार गौतम से आधुनिक होती है; उसे प्रमाण, प्रमेय, सत्य आदि सोलह पदार्थों के विवेचन पर बल देने से पदार्थ भौतसात्मक अथवा प्राचीन न्याय की धारा कहते हैं और दूसरी प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमात तथा शब्द प्रमाण का सूक्ष्म विवेचन करने से 'प्रमाणमीमांसा'त्मक या नय न्यायधारा कहलाती है। इसके प्रवर्तक नर्मद उपान्याय (बारहवीं स०) थे।

'न्याय दर्शन' का उद्देश्य प्रमाणादि षोडश पदार्थों का ज्ञान कराना है। मुक्ति ज्ञान से होती है; किन्तु कुछ ज्ञान-प्राप्ति के क्या साधन हैं? न्याय ने इनका विस्तार से प्रतिपादन किया है। भारतीय साहित्य को 'न्याय दर्शन' की सबसे असूक्ष्म देव शास्त्रीय विवेचनात्मक पद्धति की है। नैयायिकों ने ज्ञान के साधन—प्रमाणों का विचार विवेचन किया तथा हेतुभाष्यों (दुषित हेतुओं) का सूक्ष्म विचरण उपस्थित करके निर्दोष दंग से तर्क करने की पद्धति का निर्देश किया। किन्तु 'न्याय दर्शन' का तत्त्व-ज्ञान उसकी तर्क-पद्धति-जैसा उत्कृष्ट नहीं है। उसमें जगत् की वास्तविक तथा-आत्मा, परमाणु, मन, आकाश, काल, दिक् आदि अनेक पदार्थ मिले माने हैं। उसकी दृष्टि बहुत्व-संबन्धित पदार्थवाद की है। जगत् का समवायी कारण परमाणु तथा निर्निमित्त कारण ईश्वर है। न्याय परमाणुवाद में विश्वास करता है। ईश्वर की इच्छा होने पर परमाणुओं में गति उत्पन्न होती है। एक परमाणु दूसरे से मिलकर इण्डगुल बनता है, तीन इण्डगुलों से त्र्यगुल और इस प्रकार सूक्ष्म से स्थूल भूटि की उत्पत्ति होती है। न्याय के अनुसार भुक्ति में सुख-दुःख का अन्त हो जाता है।

'न्याय दर्शन' की उत्पत्ति भीमराजा के विचार से हुई। वर्तमान न्याय सूत्रों के प्रणेता गोतम (छठी श० ई० पू०) माने जाते हैं। पहले यह बताया जा चुका है कि बौद्धों का उत्तर देने के लिए वात्स्यायन (पहली या दूसरी श० ई०) ने न्याय नामक सिद्धा; इनके बाद उद्योतकर (छठी श०), वाचस्पति मिश्र (नवीं शती), जयन्त भट्ट (नवीं श०) तथा उदयनाचार्य (दशम श०) ने क्रमशः 'न्याय नातिक' की, 'तात्पर्य टीका' 'न्याय मंजरी' तथा 'न्याय-कुमुदावर्ति' द्वारा इस कार्य को पूरा किया। तेरहवीं श० में 'नव्य न्याय' के प्रवर्तक मिथिला के गणेश उपाध्याय ने 'तत्त्व-निर्णामणि' की रचना की। इसके बाद पार्श्वथ की कसीटी उदयन तथा गणेश के ग्रन्थों की व्याख्या हो रही गई। पहले दो सौ वर्ष तक मिथिला के पण्डित नव्य न्याय का विकास करते रहे। पन्द्रहवीं शती में बंगाल में मध्वदीप का विद्यापीठ स्थापित हुआ और अगले दो सौ वर्ष तक यह 'नव्य न्याय' का प्रधान केन्द्र रहा। सोलहवीं, सत्रहवीं शतियाँ मध्य न्याय के इतिहास का सुवर्ण युग हैं। इसी समय बंगाल के गुरनगर नैयायिक रघुनाथ शिरोमणि (सोलहवीं श०), मधुरानाथ जगदीश (सत्रहवीं श०) और गदाधर मट्टाचार्य (सत्रहवीं श०) हुए। इनकी टीकाएँ भारतीय पारिव्याय, प्रसार प्रतिभा और सूक्ष्म विवेचना-शक्ति के उत्तम उदाहरण हैं। बाल की क्षमता निकालने में कोई दूसरा दार्शनिक नव्य नैयायिकों को मात नहीं दे सकता।

६. वैशेषिक—वैशेषिक के प्रधान सिद्धान्त न्याय से मिलते हैं। जगत् के सम्बन्ध में उसका दृष्टिकोण बहुत्वभिन्न वास्तववादी है। यह सात पदार्थ (द्रव्य, गुण, कर्म, मानान्य, विशेष, समवाय और अभाव) और नौ द्रव्य (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन) मानता है। इसकी विशेषता 'विशेष' नामक पदार्थ की कल्पना है, इसीलिए यह वैशेषिक कहलाता है। पृथ्वी या जल का एक परमाणु दूसरे परमाणु से जिस विशेषता के कारण विभिन्न है, वही विशेष है।

सम्भवतः वैशेषिक ने ही सर्वप्रथम सृष्ट्युत्पत्ति की प्रक्रिया स्पष्ट करने के लिए परमाणुवाद के सिद्धान्त का विकास किया। ग्याय ने इसे वैशेषिक में ग्रहण किया।

वैशेषिक दर्शन के सूत्रकार महर्षि कणाद हैं। इनका समय तीसरी श० ई० पू० समझा जाता है। वैशेषिक के सिद्धान्तों का स्वतन्त्र रूप से निष्कर्षण प्रशस्तवाद के 'वदार्थ-धर्म-संग्रह' में है। इसका समय दूसरी श० ई० है। प्रशस्तवाद के ग्रंथ पर क्यौमशिकाचार्य (आठवीं श०), उदयनाचार्य (दशम श०), श्रीधराचार्य (दशम श०) और बल्लभाचार्य (बारहवीं श०) ने टीकाएँ लिखीं। आरम्भ में ग्याय वैशेषिक पृथक् थे, किन्तु दशम शती के बाद दोनों सम्मिलित हो गए।

भारतीय दर्शन की विशेषता—भारतीय दर्शन का प्रधान उद्देश्य जगत् को दृश्यमान विविधता में एकता का अन्वेषण है। ग्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग और वेदान्त ने इसी को ढूँढ़ने का यत्न किया है। इसकी दृष्टि क्रमशः सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतर होती गई है। दर्शन का चरण विकास-सङ्केतवाद में उपलब्ध होता है, जिसके अनुसार सृष्टि के सभी रूप एक ही स्रोत से विकसित हुए हैं, जगत् के दृश्यमान बहुत्व और सामान्य में आन्तरिक एकता है। भारतीय दर्शन की सबसे बड़ी शक्ति और देन यही है। याद यदि संसार अनेकता के भीतर तात्त्विक एकता के सिद्धान्त की प्रतीति दृश्यमान कर से तो बहुत शगुन-बर्तों, उदयन-बर्तों, तथा प्रत्यक्षर मुद्रों के भीषण नाश से शास्त्र परिचाय या प्रकृत है।

मौर्य-सातवाहन-कुशाण-युग (३२२ ई० पू०-२०० ई० लगभग)

राजनीतिक स्थिति—३२२ ई० पू० में अन्द्रगुप्त मौर्य के पाटलिपुत्र में राज-विद्रोहों के कारण भारतीय इतिहास में एक नया युग प्रारम्भ होता है। इस समय मगध में बिरकास में प्रारम्भ हुई साम्राज्यवाद की प्रवृत्ति पूर्णता को प्राप्त करती है। हिन्दूकुल परिवर्तन के कारण की जाड़ी तक पहुँचा एकमात्र मार्क्सवीय शासन स्थापित होता है। मगध की वर्ष तक मौर्य भारत की सर्वोच्च शक्ति बने रहे। किन्तु इसके बाद अगले पाँच बी वर्ष तक समूचे भारत की एक शासन-सूत्र में विरोध जारी कोई शक्ति न रही। मौर्यों के बाद मगध में कनक, शुंग, काण्व और शालि-युगी का शासन रहा। उत्तरी भारत यवन, शक, पञ्चम और कुशाण आदि विदेशी जातियों द्वारा आक्रान्त होता रहा। २१० ई० पू० के लगभग उत्तर में यवन, (यूनानी) और पूर्व में खारवेन और दक्षिण में सातवाहनों के नये राज्य उठ खड़े हुए। १०० ई० पू० तक इनमें लड़ रहे, कनिष्क के राजा खारवेन का उत्तर और भारत उत्तरा के नीति अत्यन्तानिक या, यवनों ने उत्तर पश्चिमी भारत में कापिशी, गुफरावती, लक्ष्मिता और साकल (स्यालकोट) में अपने राज्य स्थापित किये और दो बी वर्ष तक उनका इस प्रदेश में शासन रहा। सातवाहन वंश की स्थापना २१० ई० पू० के लगभग सिन्धु नामक वाह्य में महाराष्ट्र में की थी। इस में सत्प्र प्रदेश पर अधिकार कर लेने में यह वंश अत्यन्त भी कहलाया। विदेशी शासकों से भारत की रक्षा करने का हमने भरसक प्रयत्न किया। अनेक उत्तर-पश्चिमी ने भी यह वंश बार बी पन्नास वर्ष तक बना रहा और इस काल में पश्चिम भारत का प्रधान राज्य रहा। उत्तर भारत में १०० ई० पू० से १८ ई० पू० तक यवनों की प्रभावता बनी रही। १८ ई० पू० से ७५ ई० तक सातवाहनों का कार्य चलता हुआ, किन्तु इस बीच में उत्तर-पश्चिमी भारत में पहलवों (४५-३ ई० पू०) और फिर कुशाणों की सत्ता स्थापित हो गई। ईसा पूर्व शुरू होने के बाद कुशाणों का साम्राज्य उत्तर भारत में फैलने लगा। इनका शासन पश्चिम के प्रसिद्ध रोमन साम्राज्य का समकालीन था। इनके सबसे प्रतापी राजा कनिष्क (७८-१२० ई०) ने पाटलिपुत्र से मध्य एशिया में चीन की सीमा तक के प्रदेश को जीतकर उसे अपने विद्यमान साम्राज्य का अंग बनाया

वा १७८-१८० ई० तक उत्तर भारत में कुशाण तथा दक्षिणी भारत में सातवाहन-साम्राज्य की प्रभुत्वता रही ।

भौयं-सातवाहन-कुशाण-युग की विशेषतायें

पहली विशेषता—राजनीतिक दृष्टि से यद्यपि इस युग में भारत विदेशी जातियों के आक्रमणों का शिकार रहा, किन्तु सम्भवतः के इतिहास की दृष्टि से इस काल की सबसे बड़ी विशेषता विदेशों पर भारतीय संस्कृति का आक्रमण था । जिस समय यवन, शक, कुशाण हून की तरफों बहते हुए भारत की विजय कर रहे थे, उस समय भारतीय धर्म-दूत शान्ति पूर्वक उन देशों की धर्म-विश्रय कर रहे थे । धर्म-विजयों की परिपाटी इस युग में छोटीक ने शुरू की थी । उसने न केवल यंका में अपने पुत्र और पुत्री को भेजा, अपितु पश्चिमी एशिया, यूरोप और अफ्रीका के पाँच राज्यों में अपने धर्म-प्रचारक भेजे थे । ईसा की पहली शती में बौद्ध धर्म का संदेश मध्य एशिया और चीन में पहुँचा ।

दूसरी विशेषता—भारतीय संस्कृति के प्रचार के साथ इस काल की दूसरी विशेषता विदेशियों द्वारा भारतीय संस्कृति और धर्म का अपनाना जाना था । यद्यपि राजनीतिक दृष्टि से यवन, शक, पहलव और कुशाण भारत को जीतते थे परन्तु सांस्कृतिक दृष्टि से भारत द्वारा जीत लिए जाते थे । यवन राजाओं में मिनान्दर (१६०-१४० ई० पू०) बौद्ध धर्म का परम भक्त था । तक्षशिला के राजा अन्तर्लिखित के राजदूत हेनियोरोस द्वारा दूसरी शती ईस्वी पूर्व के मध्य में वसन्तगर (विदिशा) में स्थापित किया गया मन्द-स्वज उनके वैष्णव धर्म को प्रवर्द्धित करने का प्रमाण है । नासिक और काशी की गुफाओं में यूनानी धर्मदेव, सिंहध्वज, धर्म और उप धारि के अनेक दान उनके बौद्ध-धर्मावलम्बी होने की सूचना देते हैं । यवनों के बाद इस देश पर शकों का आक्रमण हुआ । विजेता हाँकर भी वे भारतीय धर्म द्वारा विजित हुए । पश्चिमी भारत के महाकाव्य महान (लगभग ६२-७७ ई० पू०) का कदाई उपवदात कट्टर हिन्दू था । नासिक के एक गुहाखन से ज्ञात होता है कि उसने तीन लाख गीर्ध तथा सोनह पाँच ब्राह्मणों को दान किये थे । घाट ब्राह्मण-कन्याओं के विवाह में अपने धर्म से कन्यादान किया था और सात-भर तक एक लाख ब्राह्मणों की भोजन कराया था । तक्षशिला के शक शासक पत्तिक के तथा मथुरा के शक लक्ष्मणरजुत (लगभग २०-८५ ई० पू०) की पटरानी के बौद्ध संघाराम और स्तूपों के लिए दान के अभिलेख मिले हैं । सेतकरण के बेटे हरकरण ने, जो संभवतः पहलव था—काल में भी मठों से सुसज्जित गुहा-मन्दिर बौद्ध-भिक्षुओं को दान दिये । कुशाणों का पहला राजा विमकण्य बौद्ध था, उसने २ ई० पू० में अपने दुतों के हाथ बौद्ध धर्म की एक पोथी पहलव-पहल चीन भेजी । उसका बेटा विमकण्य (शासनकाल ३०-७७ ई०) शमद सैव था । उसके सिक्कों पर नन्दों के सहारे लड़े हुए शिव पाये गए हैं । उसके उत्तराधिकारी कनिष्क के सिक्कों पर यद्यपि यूनानी, ईरानी और भारतीय

देवता संकित है, तथापि वह बौद्ध धर्म का परम भक्त और प्रबल पोषक था। उसके उत्तराधिकारियों ने वासुदेव प्रथम (लगभग १५०-१८० ई०) शीघ्र था। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इन युग के सभी शासकों भारतीय संस्कृति को ग्रहण करके भारतीय समाज में धूल-मिल गए। मगध विदेशियों के हिन्दू-समाज में विलीन होने की प्रक्रिया गुप्त युग तक चलती रही, फिर भी मौर्य-सातवाहन-कुशाण युगों में विदेशी जातियों की जितनी बड़ी संख्या में भारतीय समाज में पना लिया गया वैसा शायद बाद में कभी नहीं हुआ।

(तीसरी विशेषता—इस युग की एक अन्य विशेषता वैदिक धर्म का पुनरुत्थान तथा पौराणिक हिन्दू धर्म और महायान संघर्ष का आविर्भाव था। सम्राट् पशोक द्वारा बौद्ध धर्म को राज्याभ्यन्त मिलाने से मौर्य युग में उसकी बड़ी उन्नति हुई थी। लेकिन जब पिछले मौर्य-सम्राट् विदेशी आक्रमणों से देश को रक्षा नहीं कर सके तब उनके द्वारा संरक्षित धर्म के प्रति जनता में प्रतिक्रिया हुई। योद्धों का स्थान लेने वाले युवा तथा उनके समकालीन सातवाहन वंश के ब्राह्मण राजाओं ने हिन्दू धर्म को प्रबल संरक्षण प्रदान किया। पुराना वैदिक धर्म अपने उसी यज्ञ-प्रधान रूप में तो नहीं लौट सकता था, इसलिए उसने अनेक परिवर्तनों के साथ पौराणिक रूप धारण किया। वैदिक यज्ञों का स्थान अब मन्दिरों में प्रतिष्ठित देवी-देवताओं ने ले लिया। देवता तो वैदिक धर्म में भी थे और अब भी रहे। किन्तु पहले उनकी उपासना यज्ञों द्वारा होती थी, अब उनके मन्दिर बनने लगे और मुर्तियाँ पुरी जाने लगीं। वैदिक देवताओं में इन्द्र प्रधान था। अब विष्णु और शिव को प्रमुखता मिली। यह उस समय का भागवत-धर्म था। इसके साथ शैव-धर्म का भी विकास हुआ। ईरान से आने वाले ब्राह्मणों ने सूर्य को पूजा चलाई। इन सब परिवर्तनों का सङ्गे घण्टाप में विलुप्त जगों किया जा चुका है। पौराणिक धर्म का प्रभाव बौद्ध धर्म पर भी पड़ा। उसमें कुछ एक ऐतिहासिक महापुरुष के स्थान पर प्रमुख देवता बन गए। मथुरा और गांधार में उनकी मुर्तियाँ बनीं, यह समझा जाने लगा कि कुछ कई जन्मों ने साधना कर रहे थे, उस समय के बौद्धिक थे। अनेक बौद्धिकों की मुर्तियाँ बनाकर उनकी पौराणिक रूप में पूजा की जाने लगी। बौद्ध धर्म के इस नये रूप को उसके समर्थकों ने महायान धर्मात् बड़ा मार्ग बतलाया और उनकी तुलना में पुराने बौद्ध धर्म को हीनयान कहा। साधकुं (१५० ई०) महायान के प्रमुख आचार्य थे। महायान ने अपना सब साहित्य संस्कृत भाषा में कर लिया। कतिपय से महायान को प्रबल राज-संरक्षण मिला। उसने चौथी बौद्ध महासभा बुलाई, 'विपिक' पर भाष्य लिखवाया। उसका साधक्य मध्य एशिया तक विलुप्त था, इसने बौद्ध धर्म के प्रसार में बड़ी सहायता मिली।

चौथी विशेषता—भारतीयों द्वारा विदेशों में वस्तियों बसाया जाना और बृहत्तर भारत का सूत्र-पात उनकी चौथी विशेषता थी। यूनान के समय सेलन (चीनी तुकिस्तान) में भारतीय उपनिवेश की नींव पड़ी। भारतीयों ने वहाँ चीनियों

के आने से पूर्व वर्तमान गारकन्द नदी को सीता नाम दिया था। १०० ई० पू० के आर्य वैरोचन ने वहाँ के पशुपालकों को शिक्षित किया। इन प्रदेशों में भारतीय सम्प्रदाय के इतने अधिक अवशेष मिले हैं कि इसे 'उपारत्ता हिन्द' कहा जाता है। सातवाहनों के उत्कर्ष के समय (१० ई० पू०-३० ई०) में भारतीयों ने दक्षिण पूर्वी एशिया के विभिन्न प्रदेशों में अपना राज्य और अपनी संस्कृति स्थापित करके 'परमे हिन्द' का निर्माण किया। भारतीय व्यापारी इन प्रदेशों में छठी शती ई० पू० से ही जा रहे थे। ईश्वरी धनु के युद्ध में वर्तमान बीजताम (कासीसी हिन्द चीन) में कीशार और पाण्डुरंग नाम के दो छोटे भारतीय राज्य थे। मेकाव नदी के तट पर एक तीसरा बड़ा भारतीय राज्य था जिसकी स्थापना कौटिल्य नामक वास्तव्य ने की थी। तीनों इस राज्य को कुतान कहते थे। बाबा, मुमाबा में भी प्रायः शीवों के भारतीय बस्तियाँ बसाईं। १६२ ई० में चम्पा (क्षाम) में भारतीयों ने एक राज्य स्थापित किया, जो उस समय से बारह सौ वर्ष तक किसी प्रकार चला ही रहा। ईसा की पहली शती में पश्चिम में मेडागास्कर द्वीप में भारतीय बस्तियाँ बसीं। विदेशों में भारतीय बस्तियों की स्थापना तथा भारतीय संस्कृति के प्रसार का इतने सम्भाव्य में वर्णन किया गया है।

प्राचीन विशेषता—भारत का इस युग में चीन और रोम से सम्बन्ध स्थापित होता तथा इसके साथ विदेशी व्यापार की अनन्तपूर्व उन्नति और आर्थिक समृद्धि इसकी प्राचीन विशेषता है। जाह्नगिरि की यात्रा द्वारा १२३ ई० पू० में राज्य एशिया के स्वतन्त्रता की खोज से भारत और चीन के वाणिज्य का नया पथ खुला और इससे चीन का रोम पश्चिमी देशों की इतनी अधिक मात्रा में जाने लगा कि इस मार्ग का नाम ही 'रोम का मार्ग' पड़ गया। हिप्पनास नामक यूनानी नाविक ने ४५ ई० में मानसून ज्वारों की सहायता से पश्चिमी सरग सागर की पतलीम दिन में सीधा पार करने का आधिकार करके रोम और भारत के रास्ते को बहुत सुगम बना दिया। इससे भारत और रोम व्यापार बढ़ा। भारतीय मलमल, मसालों, बहुमूल्य मणियों और सुगन्धित द्रव्यों की दूसरे देशों में इतनी अधिक माँग थी कि विदेशी व्यापार का पसंदा सदा हमारी ओर भुका रहता था। दूसरे देश इनका काम बनाने के लिए हमें प्रसन्न मात्रा में सोना-चाँदी भेजते थे। पहली शती ई० में (क्रिस्त-आगत में) दूसरे देशों का सोना भारत की ओर बहने लगा था और यह प्रवाह लगभग १००० वर्षों तक भारत की ओर ही बहता रहा। क्रिस्त के समकालीन प्लिनी तथा औरगेवस के समय बनिबर कुछ विदेशियों की इस बात की बड़ी शिकायत रही है कि सब देशों का सोना भारत की ओर चला जाता था और इसी दुःखी युग से हुई।

छठी, सातवीं, आठवीं और नवीं विशेषता—इन धुग की छठी विशेषता मूर्ति, वास्तु आदि कलाओं की उत्पत्ति थी। सम्राट् अशोक के स्तम्भ तथा उन पर बनी सुन्दर पशु मूर्तियाँ, भारद्वाज और गांधी के स्तूप इसके सुन्दर उदाहरण हैं। पहली श० ई० के लगभग बुद्ध की मानवीय मूर्ति पहली बार बनी और गान्धार शैली का विकास हुआ। संस्कृत-साहित्य के काव्य और नाटकों का सारम्भ तथा वर्तमान रूप में मिलने वाली मनुस्मृति, रामायण और महाभारत का निर्माण सातवीं विशेषता है। आठवीं विशेषता मुगलकाल में साहित्य का विकास और नवीं भारतीय संस्कृति का गूढ़ान, रोम सावि विदेशी प्रभावों से समृद्ध होना है। इस धुग के धर्म, कला, सांस्कृतिक प्रसार और शासन-प्रणाली पर अन्य सभ्यताओं से प्रभाव डाला गया है, यतः यहाँ पर सामाजिक, सांस्कृतिक व आर्थिक जीवन पर ही विचार किया जायगा।

सामाजिक स्थिति

वर्णाश्रम पद्धति—हिन्दू समाज में वर्गों और वर्णों का विचार पिछले वैदिक युग में उत्पन्न हो चुका था। शास्त्रकारों ने समाज को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र नामक चार वर्गों में बाँटा था। किन्तु, यह वर्ग-भेद शास्त्रकारों का वास्तविक मान था और इसने वर्तमान जन्ममूलक बाल-पात का रूप धारण नहीं किया था। यह बात उस काल के विदेशी यात्रियों के वर्णनों और शास्त्राधीन अभिलेखों से सूचित होती है। मेगास्थनीज के कथनानुसार मौर्य युग का भारतीय समाज निम्न सात वर्गों में विभक्त था :

(१) दार्शनिक—ये संख्या की दृष्टि से बहुत कम थे, लेकिन इन्होंने बहुत मान दिया जाता था। इनका काम सार्वजनिक और वैयक्तिक यज्ञ करना होता था। ये सब प्रकार के कार्यों में मुक्त थे। (२) कृषक—सभिकान्त्र व्यवस्था सेही करती थी और मुहूर्तों में कोई भाग न लेती थी। (३) पशु-पालक और चिकित्सी। (४) व्यापारी, शिल्पी और नाविक। (५) योद्धा—ये लड़ाई के प्रतिरिक्त कोई अन्य काम न करते थे और राज्य की ओर से खान्ति-शान्ति में नियमित वेतन पाते थे। (६) सरकारी मुसहर तथा (७) राजा की गरिमा के सदस्य। यह स्पष्ट है कि मेगास्थनीज का यह वर्गीकरण येश की दृष्टि से वर्णों-वर्णमूलक है, जन्म-मूलक नहीं। इसी प्रकार अशोक ने अपने अभिलेखों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य (गृहस्थ), शूद्रक (मजदूर) और राजा नामक वर्गों का उल्लेख किया है, जो येश की दृष्टि से समाज के विभिन्न वर्ग थे। मौर्य युग के अंत में तथा साठबाहन धुग में मजदूर, शूद्र, पशुपाल और कृषक वर्गों के भारत पर निरन्तर आक्रमण हो रहे थे, इनसे वर्ण-संकरता की संभावना थी। इन संकट-काल में जातीय शुद्धता की रक्षा के लिए कुछ अत्यंत-धार्मिक व्यवस्थाएँ आवश्यक समझी गईं जिनसे बाद में बाल-पात का भेद उत्पन्न हो गया। किन्तु इस समय तक इन नियमों में कठोरता नहीं आई थी। यद्यपि उस समय भी राज की तरफ कठोरता होती तो विदेशी जातियों हिन्दू-समाज का घेरा न बन पाती। क्षत्रिय-से-क्षत्रिय केवल

इतना ही कहा जा सकता है कि समाज के विभिन्न वर्गों में अपने को जाति मानने का विचार पहले से अधिक कम रहा था।

जात-पात में पैसे, खान-पान और विवाह के विचार प्रधान हैं। इन दृष्टियों में उस समय वर्तमान रूप में जात-पात की उत्पत्ति नहीं हुई थी। मनुस्मृति में चारों वर्गों के विभिन्न पैसे और कर्म बताये गए हैं, किन्तु इसी स्मृति से यह जात होता है कि वे आदर्श-मान थे। उस समय यद्यपि ब्राह्मणों का प्रधान कार्य पढ़ना-पढ़ाना, यज्ञ करना-कराना था, तथापि ऐसे ब्राह्मणों की भी कमी नहीं थी जो चिकित्सा, ज्योतिष व बुद्ध-शिक्षण का कुत्त और बाज पालने (मनु ३।१६४) और मुँदे डोने (मनु ३।१६५) तक का काम करते थे। इन सब ब्राह्मणों को मनु ने 'सपाङ्कस्य' यर्थात् आठ आदि में बुलाने जाने वाले ब्राह्मणों की पंक्ति में न बैठने योग्य बताया है। यह स्पष्ट है कि इस प्रकार के व्यक्ति पाँच से बाहर होने पर धर्म-धर्म: अपनी ब्राह्मण जाति भी खो बैठते थे, क्योंकि कोई उच्च ब्राह्मण उन्हें अपनी सहृदयी देने को तैयार न होता था। रोटी या खान-पान के सम्बन्ध में भी इस युग में जात-पात का कोई विशेष प्रभाव नहीं था। बाण्डाल आदि बहुत नीचों समझी जाने वाली जातियों के साथ खान-पान का परहेज तो महाजनपद युग से ही चल पड़ा था। यह इस युग में भी बना रहा। पतंजलि के महाभाष्य से यह प्रतीत होता है कि कुछ छूद्र जाति वालों के वर्तनों में ब्राह्मण भोजन नहीं करते थे, और न उन्हें अपने वर्तनों में खिलाते थे। इस प्रसंग में यह स्मरण रखना चाहिए कि शकों और गवनों की भिन्नता इन छूद्रों में नहीं थी। इस व्यवस्था से यह स्पष्ट है कि प्रायों में परस्पर एक दूसरे के हाथ का भोजन न करने की जात उस युग में नहीं थी। यही स्थिति अपनी जात में विवाह करने के सम्बन्ध में भी थी। मनु तथा अन्य शास्त्रकारों की यह प्रबल इच्छा थी कि विवाह करने वालों में ही हो, किन्तु असवर्ण विवाह उस समय समाज में काफी प्रचलित थे। ब्राह्मणों और छूद्रों में भी परस्पर काफी विवाह-सम्बन्ध होते थे। मनु को ब्राह्मण-शत्रियों का पुरुषों के साथ विवाह बहुत नापसन्द था (मनु ३।१४) अनुलोम (ऊँचे वर्ग के पुरुष का निम्ने वर्ग की स्त्री के साथ) तथा प्रतिलोम (निम्ने वर्ग के पुरुष का ऊँचे वर्ग की स्त्री के साथ) दोनों प्रकार के विवाह प्रचलित थे, यद्यपि प्रतिलोम-विवाह अधिक पुरा समझा जाता था। मागधस्य के समय तक जात के विचार में इस हद तक परिणमता था गई कि यह द्विजातियों की छूद्रों से विवाह का बिल्कुल निषेध करता है (पाञ्च १।२६)। लेकिन यह उसका मत ही था। समाज में दूसरा पक्ष मानने वालों की कमी न थी।

सातवाहन युग के धर्मशास्त्रों से भी यही जात होता है कि प्रजा उस समय व्यवसायों की दृष्टि से कई भागों में बँटी हुई थी। सबसे उच्च श्रेणी में 'महारथी', 'महामात्र', 'महासेनापति' आदि उपाधियाँ धारण करने वाले जितों के शासक सरदार थे। दूसरे वर्ग में राज्य के पदाधिकारी प्रमात्य, महामात्य, भाण्डागारिक (कोष-

व्यस) व श्रेष्ठी (सेठ) सम्मिलित थे। तीसरे वर्ग में वैश्यक, वैश्य, क्षत्रक, सुवर्णकार और वाधिक (सुगन्धित द्रव्यों के व्यापारी) थे और चौथे वर्ग में बड़ई, माली, लुहार, मल्लू आदि थे।

भारत में इस समय अनेक विदेशी जातियाँ आ रही थीं। इन्हें चातुर्वर्ण्य में कहीं स्थान दिया जाय यह बड़ा महत्त्वपूर्ण प्रश्न था। मनु ने इसका बड़ा सुन्दर समाधान करते हुए कहा कि कम्बोज, शक, पञ्चन और पहलव आदि जातियाँ शक्तिशाली थीं। किन्तु धर्म कियार्यों के न करने और बाह्यार्यों का दर्शन न मिलने से युष्मत् (हम) बन गई (मनु १०।४६-४८)। प्रसिद्ध सातवाहन राजा शौतमी पुत्र सातकर्णी (७६-४४ ई० पू०) की माता ने बड़े अभिमान से अपने पुत्र के लिए यह लिखा था कि वह "सर्कों, यकनों व पहलवों का धर्म करने वाला तथा चातुर्वर्ण्य के संकट को शोकने वाला है।" किन्तु उन्हीं समय स्वयं सातवाहनों ने शक-कन्याओं से विवाह करके संकटता उत्पन्न की। यन्तुत उस समय वर्ण-व्यवस्था के नियम इतने कठोर नहीं थे। यह बात इसी से स्पष्ट है कि शुद्धों और सातवाहनों ने बाह्यज होते हुए भी श्राव-धर्म का धारण किया।

वर्णों की भाँति चार आश्रमों के विचार पर भी शास्त्रकारों ने बल दिया। बुनानों वैश्यकों ने फल-मूल पर निर्वाह करने वाले वल्कल-बारी घरण्यवासी साधुओं का वर्णन किया है। ये वानप्रस्थ प्रतीत होते हैं। बौद्धों ने मिश्र जीवन को इतना व्यापक बना दिया था कि समाज को इसमें हानि पहुँचने लगी थी। संन्यासी बनने का अर्थ या सामाजिक कर्तव्यों को छोड़कर भागना। महाभारत (शान्ति पर्व ३।७, १०।१७, २१, २७, ११।१, २) में मिश्रपन की खिल्ली उड़ाई गई है। मनु ने गृहस्थाश्रम की बड़ी महिमा गाई है (३।७७)। यह भी उल्लेखनीय है कि मनु और सातवाहन दोनों मिश्रणों को दूषित करने को तुच्छ अपराध मानते थे, क्योंकि उन्हें स्त्रियों का प्रव्रज्जा लेना पसन्द नहीं था।

स्त्रियों की स्थिति — बौद्धिज्म अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि मौर्य युग में स्त्रियों की स्थिति बहुत अच्छी थी। दास में उन्हें पूरा अधिकार था। कुछ अवस्थाओं में वे तलाक दे सकती थीं और पुनर्विवाह कर सकती थीं। गार्ग्यवे (परस्पर द्वेम से हुए) विवाहों में परस्पर द्वेम होने पर तलाक दिया जा सकता था (परस्पर द्वेगाम्योक्तः)। पति के विदेश जाने तथा निश्चित समय तक न लौटने पर स्त्रियाँ दूसरा विवाह कर सकती थीं। विधवाओं को भी पुनर्विवाह करने का अधिकार था। पति यदि स्त्री को तीन बार से धार्मिक पीटे तो स्त्री उसके विरुद्ध अदालत में अभियोग बना सकती थी। निर्धन की पद्धति भी वर्णित थी।

सातवाहन युग में मनु स्मृति ने निम्नलिखित व्यवस्थाओं में कुछ परिवर्तन किया। मौर्य युग तक विवाह एक ठहराव-भोज था, उसमें तलाक हो सकता था। मनु ने उसे पवित्र संस्कार द्वारा अविच्छेद्य बनाया, निर्धन तथा विधवा-विवाह का निर्देश किया।

महावि जयने स्त्रियों की स्वतन्त्रता का अधिकारी नहीं समझा फिर भी उनकी प्रशंसा-समर्पण की है—“वहाँ स्त्रियों की पूजा होती है, वहाँ देवता बसते हैं।”

वैदिक युग की भाँति स्त्रियाँ पतियों के साथ घर्म-कर्म में भाग लेती थी, यह अशोक की पत्नी कारुवाकी के आचरण से सूचित होता है। अश्वरोष (हरम) तथा बहु-विवाह की परिभाषी राज-परिवारों में प्रचलित थी। यूनानी लेखकों के अनुसार कुछ स्त्रियाँ आजीवन ब्रह्मचारीणी रहकर दर्शन-शास्त्र का अध्ययन करती थी। अतः यह स्पष्ट है कि इस युग में भी माँझों व मैत्रेयों-जैसी विपुली स्त्रियाँ होती थी।

दास-प्रथा—यद्यपि मेगास्थनीज के आधार पर एरिथन ने लिखा है कि उन्नत समय भारत में दास-प्रथा नहीं थी, तथापि शिलालेखों तथा धर्मशास्त्रों से इस प्रथा का प्रचलन सूचित होता है। इसका कारण सम्भवतः यह है कि यूनान में जिस बड़े पैमाने पर दास-प्रथा प्रचलित थी और उनके साथ जैसा दुर्व्यवहार होता था वह भारत में न था। प्रजातन्त्र-व्यवस्था के धर्मग्रंथ एवेन्स ने कुल ३५ हजार स्वतन्त्र और ३ लाख दास थे अर्थात् प्रति स्वतन्त्र व्यक्ति के पीछे तेरह दास थे। दासों की दशा, जो कि कुल प्रजा के ६२.३७% थे, पशुधों से भी बदतर थी, वहाँ सेती जूती के द्वारा की जाती थी; भारत में दास केवल घरेलू काम के लिए थे। उनके साथ इतना अच्छा व्यवहार होता था कि मेगास्थनीज को यह भ्रम हो गया कि भारत में दास-प्रथा नहीं है। कौटिल्य की व्यवस्थाओं से प्रतीत होता है कि उस समय भारतीय समाज में जो कोई बहुत दास थे उन्हें भी वह (कौटिल्य) मुक्ति दिलाया चाहता था। “आर्य व्यक्ति को दास बनाया ी नहीं जा सकता था। न स्वैर्यास्त दासभाव।” जो बनाये दास बनाने जाते थे उन्हें भी आर्य बनाया और उनके साथ दुर्व्यवहार न होते देना कौटिल्य का एवम था। घरोहर रखे दास से मुर्दा, पाषाणों, पीसाव या जूटन उठवाना, उन्हे मंगा रखना या मारना, दासियों का लैंगिक हरम, दासों को स्वतन्त्र होने का अधिकार दे देना था। अशोक ने अपने शिलालेखों में बार-बार दासों से सर्वव्यवहार करने की हिदायत की है।

वरिष्ठ और साधारण—यूनानी लेखकों ने भारतीयों के वरिष्ठ की मुक्तकाँठ से प्रशंसा की है। उनके वर्णनानुसार भारतीय सत्यवादी होते थे। “कभी किसी व्यक्ति पर झूठ बोलने के लिए मुनद्मा नहीं बनाया गया।” चोरी नहीं होती थी। वधों के अतिरिक्त कभी मरामान नहीं होता था। उस समय के कानून बहुत सरल थे। लोग एक दूसरे का विप्लान करते थे। घरोहर आदि बरीर मुहरबंदी और सवाह के रखा जाती थी और इस सम्बन्ध में मुनद्मेशाही नहीं होती थी। मकानों पर ताले नहीं लगाये जाते थे, यूनानी लेखकों का यह वर्णन बहुत कुछ सत्य होति हुए भी अत्युक्तिपूर्ण प्रतीत होता है।

ज्ञान-दान और सामोद-प्रमोद—महाद् अशोक ने ज्ञान-दान के लिए की जाने वाली कुरता और स्त्रियाँ को बंद करवाया। “पढ़ने योग्यताओं के लिए राजा प्रियदर्शी

पशुओं के रसोई घर में मूष (शोरबे) के लिए प्रतिदिन गैकड़ों प्राणी मारे जाते थे । पर अब, जब यह धर्म-लिपि लिखी गई है, केवल तीन प्राणी—दो मार और एक मुग मारे जाते हैं । वह मुग भी सदा नहीं । प्रागे वे तीन प्राणी भी न मारे जायेंगे ।” मनु तथा सातवत्यन-स्मृति में अनेक प्रकार के मांस अभिषेक कहे गए हैं ।

मौर्य युग का प्रधान धार्मिक ‘समाज’ प्रतीत होता है । प्राचीन काल में समाज का अर्थ था—पशुओं या रथों की दौड़ । (सम्-भन्—इषट्ठे हाकिमा) । जहाँ पशु इस प्रकार दौड़ाये या लड़ाये जाते थे और उन पर खानी लगाई जाती थी उसे समाज कहते थे । बाद में वे रथधूम्रमाया या ग्रेवमार्ग, जहाँ नाटक दिखाये जाते थे, समाज कहे जाने लगे । अशोक ने धार्मिक दृष्टि दिखलाकर प्रजा में धर्म-वृद्धि का यत्न किया और इसके अतिरिक्त पशुओं की दौड़, लड़ाई तथा हिंसा वाले समाजों को बंद करने की कोशिश की । हिन्दु अपनी लोक-प्रियता के कारण ‘समाज’ शब्द नहीं हो सके । मनु ने समाज का उल्लेख समाज्य नाम से किया है; वह इसे तथा मुग को एकदम बंद करने का आदेश देता है । कुषाण वैदिक युग से भारतीयों का एक प्रिय शानोद था । उसका बंद होना अत्यन्तव्य समझकर सातवत्यन उसी राजकीय नियन्त्रण में करके उसे राज्य की आय का स्रोत बनाता है । तीसरा मनोरञ्जन नाटक, नृत्य, गायन और गायन था । पतंजलि ने कंस-रथ आदि नाटकों तथा शौचिक तथा शौचनिक आदि नटों का उल्लेख किया है । शीघ्र के कुछ रूप उस समय तक प्रचलित हो चुके थे । काम-मूष से यह ज्ञात होता है कि उस समय कटेरबाजी, मेड़ेबाजी, मुग की लड़ाई (‘लावमेयन-कुक्कुट मुड’) और उद्यान-क्रीड़ाओं का रुक रिमाक था ।

कृषि—यूनानी लेखकों ने साधारण जनता को कुपक, पशु-पालक, शिकारी, व्यापारी और मिली सामक जगों में रखा है । इनमें अधिक संख्या कुपक की था । मौर्य युग में इनकी स्थिति इस दृष्टि से अच्छी प्रतीत होती है कि युद्धों में इनसे न ही अनिवार्य सैनिक सेवा कराई जाती थी और न ही इनके बेटों को किसी प्रकार की हानि पहुँचाई जाती थी । शीघ्र युद्धों के समय भी किसान धानिपूर्वक इन बगलों रहते थे । उन्हें अपनी पैदावार का कुछ हिस्सा दानि अर्पित कर के रूप में राजा को देना पड़ता था । आवश्यकता पड़ने पर राजा उनसे अनेक प्रकार के दान (नजराने) खबदेस्तो लेता था । कुछ प्रदेशों में किसानों से बेमार (विष्टि) दान (नजराना) तथा अन्य कई प्रकार के कर लेने की परिपाटी थी । पश्चिमी भारत के अक सामक कडवामा के १५० ई० पू० में गिरनार में ‘अर्धम शोक की शरमश कराते हुए उस बात पर अभिमान प्रकट किया था कि यह कार्य उसने प्रजा से विष्टि या दान्य लिए बिना ही पूरा कराया है । अतिवृष्टि, अनावृष्टि व टिड्डी रस से कई बार तजार्ब खराब होती थी । अर्धशास्त्र में ऐसे अकसरों पर राज्य की ओर से सहायता देने की व्यवस्था है । यूनानी लेखकों के वर्णनानुसार दार्शनिक वर्ष के प्रारम्भ में ही अपने पास एकवृद्ध जनता को धाने वाली सूखे तथा फँसने वाली शोमारियों की सूचना दे दिया करते थे ।

व्यापार—ईसा की पहली शतियों में भारत का व्यापार सीरिया, मिस्र, रोम, जंका, परले हिन्द और चीन से बढ़ा। सीरिया के राजाओं से मोर्य-सम्राटों का मैत्री-पूर्ण सम्बन्ध था, जहाँ की शराब और घोंदरें भारत में पसन्द की जाती थी। टालमी राजाओं के समय कई बार स्वेज नहर काजू हो जाती थी और भारतीय व्यापारी मिस्र तक व्यापार करने पहुँचते थे। रक्त-सागर और नील नदी के बीच के पुराने व्यापारिक मार्ग पर शोभन (शोकोन) नामक भारतीय का एक यूनानी लेख मिला है। दूसरी श० ई० पू० में भारतीय व्यापारी जल-मार्ग से सीधा सिकन्दरिया तक पहुँचते लगे थे। टालमी एवंगेल डिटोनी (१४६-११७ ई० पू०) के समय रक्त-सागर तट के सरकारी कर्मचारी सिकन्दरिया में एक भारतीय को लाये, जिसे उन्होंने अपने-एक नाव में झुले-धामे बहते पाया था। यूनानी भाषा का ज्ञान होने पर उसने बताया कि भारतवर्ष से एक जहाज में चलने के बाद समुद्र में रास्ता भूल जाने से उसका जहाज महीनों भटकता रहा और उसके सब साथी भूख से मर गए। एवंगेल ने एलुंदोक्त नामक साहसी यूनानी के साथ उसे भारत भेजा और वह वहाँ से बहुत सचाई और रत्न ले मया। दूसरी श० ई० पू० में मध्य एशिया में जातियों की उषल-बुल्ल तथा सीरिया में घसानि रहने के कारण फारस की बाड़ी से जाने वाला स्वल-मार्ग अनुरक्षित हो गया और भारतीय वाणिज्य मिस्र के साथ बढ़ने लगा। कई बार भारतीय व्यापारी इससे घाते जा पहुँचते थे। १०० ई० पू० में एक हिन्दुस्तानी सीरागर का जहाज ट्रूथान में बहता हुआ जर्मनी के तट पर जा लगा था।

इस युग में मध्य एशिया के स्वलमार्ग से चीन के साथ तथा सीधे जलमार्ग द्वारा रोम के साथ भारत का व्यापारिक सम्पर्क होता बढ़ी महत्त्वपूर्ण घटना थी। चीन के साथ होने वाले व्यापारिक सम्पर्क की बढ़ता बढ़ी मनोरंजक है। १३८ ई० में चीनी सम्राट ने हणों के विरुद्ध सहायता पाने के लिए काङ्कियेन को वृषिकों के पास भेजा; १० वर्ष हणों की कैद बाटने के बाद जब वह उनकी राजधानी वलस में पहुँचा (१२७ ई० पू०) तो उसे वहाँ के बाजारों में चीनी रेशम बिकते हुए देखकर धारम्य हुआ, जो यह ज्ञात हुआ कि यह सिन्धु (सिन्धु=भारत) से आता है। उस समय तक भारत और चीन का सम्पर्क धासाय के दुर्गम मार्ग से था। अब उसने यह ज्ञात रास्ता पता लगाया और इसके बाद मध्य एशिया के मार्ग से पश्चिमी-जगत् की इतना रोम जाने लगा कि उसे रेशम का रास्ता कहा जाने लगा। रोम के साथ सीधे जलमार्ग का सम्बन्ध एक यूनानी नाविक हिलनास ने ४४ ई० में मानसून हवाओं के नियमित रूप से बहने का पता लगाकर किया। पहले जहाज समुद्र-तट के साथ-साथ चलते थे। अब वे मानसून हवाओं के सहारे पश्चिमी (अरब) सागर को सीधा पार करने लगे। इससे रोम के साथ भारत के वाणिज्य में अभूतपूर्व उन्नति हुई, जिसका सबसे बड़ा प्रमाण भारत में रोमन सम्राटों की मुद्राओं का बहुत अधिक परिमाण में पाया जाना है।

निर्वास-प्रायास—भारत उन दिनों समुद्र के रास्ते हाथी-दंत का सामान, कई प्रकार के मत्स्य, मोती, वेदुर्ष आदि रत्न, काली-मिर्च, लौह आदि मसाले सूती और रेशमी कपड़ों का निर्यात करता था। रोम में सबसे अधिक माँग काली मिर्चों की थी जो वहाँ पहली शताब्दी में दो धरणी की एक तेर बिकती थी। रोमन मुन्दरियों को भारतीय मत्तमल पहनने का बड़ा चाव था। पैगोनी नामक रोमन लेखक ने रोमन स्त्रियों को वेतर्षों की सिखायत करते हुए लिखा है कि वे "हुनों हुई हवा के जाले पहनकर अपना सौन्दर्य दिखाती हैं।" ७७ ई० में प्लोनी ने यह रोना रोया था कि भारतीय भाल-रोम से आकर सौगुली कीमत पर बिकता है और उसके द्वारा भारत रोमन साम्राज्य से हर साल साढ़े पाँच करोड़ सेस्टर्स का सोना लौट जाता है और यह कीमत हमें अपनी विलासिता और अपनी स्त्रियों के फैशन के लिए देनी पड़ती है। उपर्युक्त वस्तुओं के बदले में भारत में उन दिनों शराब, चाँदी के बर्तन, गाने वाले नर्तक, राजकीय अन्तःपुरों के लिए रूपवती दासियाँ आया करती थीं। भारत में मँगया जाने वाला सामान कम था, अतः वैदेशिक व्यापार की अनुकूलता के कारण भारत में दूसरे देशों का सोना बड़ा चला आ रहा था। कुशाणों के भारत में पहली बार व्यापक रूप से स्वर्ण-मुद्राओं का प्रचलन शुरू हुआ और रोम से आने वाले सोने के कारण ही प्रभूत मात्रा में बढ़ा। कुशाण सिक्के रोमन सिक्कों के आदर्श पर ही बनाये गए थे।

उद्योग—वाणिज्य की उपर्युक्त उन्नति में भारतीय शिल्पियों और कारीगरों के इसी कौशल ने बहुत साग दिया। इस समय का सबसे प्रसिद्ध उद्योग कनक-व्यवसाय का था। स्ट्रैबो ने यही व्यक्तिगत्तों द्वारा बढ़िया मत्तमल पहनने का उल्लेख किया है। धर्मशास्त्र से यह बात होता है कि क्लान के धर्षिया कभी उस समय दक्षिणी मयूरा, परराज्य कलिस, काशी, बंग, बल और माहिष्मती में बसते थे। पहली स० ई० पू० में पेरिप्लस के कवचानुसार सबसे बढ़िया मत्तमल गंगा की बाढ़ी में, साफ के अनुसार वाका के पास-पास बसती थी। विचनत्पल्ली, तजोर और मछलीपट्टम में भी अच्छी मत्तमल बनती थी। राज्य की कारीगरों की रक्षा का इतना ध्यान था कि शिल्पियों का हाथ काटने वालों के लिए कौटिल्य ने मृत्यु-दण्ड की व्यवस्था की है। उस समय कारीगर अपनी उन्नति के लिए सामूहिक संगठन बनाते थे जो धर्म कहलाते थे। इस समय के अभिलेखों के अनुसार तेली, कुम्हार, मन्त्री, कुलाहे, अन्य बेजने वाले, पीतल के बर्तन बनाने वाले, व्यापार करने वाले (मार्गनाह) श्रेणियों में संगठित थे। श्रेणियाँ वर्तमान काल के बड़े बैंकों का काम करती थीं। दक्षिणी भारत के प्रसिद्ध शक क्षत्रप महारान (लगभग २२-७७ ई० पू०) के जमाई उषकदात ने नासिक के बौद्ध भिक्षुओं के लिए कई हजार का दान किया। यह राशि उसने कुलाहों की दो श्रेणियों के पास कभी न लौटने वाली धरोहर (प्रत्यक्षीवी) के रूप में रख दी ताकि उससे उन भिक्षुओं को हर साल रुपये (चौबर) मिलते रहें। इसी प्रकार एक अन्य शक में शक उपासिका विष्णुदत्ता ने भिक्षुसंघ की दवा-दाक के लिए एक कमी न

नीटने वाली धरोहर का दान दिया। राज-परिवार के व्यक्तियों द्वारा बुवाही की शैलियों की ऐसे दान देना इनकी ऊँची हैसियत के सूचक है।

उस समय के शिल्प और वाणिज्य की उत्थिति का परिणाम भारतवर्ष की समुद्रपूर्ण सृष्टि थी। मौर्ययुग में पाटलीपुत्र न केवल उस समय संसार का सबसे बड़ा शहर था, किन्तु समुद्र के प्रलयीन जगत में कोई दूसरा शहर उसकी तुलना में नहीं उठकर सकता था। मूलतः का प्रचलन नगर एवेन्स ४१० ई० पू० तथा रोम २७ ई० पू० से २७ ई० तक अपनी अधिकतम सृष्टि के समय पाटलीपुत्र का चौथा हिस्सा-भाग थे।

साहित्य

मौर्ययुग की सबसे प्रसिद्ध साहित्यिक रचना चन्द्रगुप्त के मंत्री कोटिल्य का 'अर्थशास्त्र' है। यह उत्कालीन राज्य एवं वास्तव-सम्बन्धी ज्ञान के लिए एक बड़ी ज्ञान सिद्धि हुआ है। भारतवन महाभाष्य से ज्ञात होता है कि उस समय प्रतेक शासकान (प्रजापति, सामन्तता आदि की कक्षाएँ), व्यावहारिकार्थ (कक्षाएँ), इतिहास, पुराण, काव्य, कंस-वध, वाति-वध, आदि नाटक प्रचलित थे, किन्तु इस समय ये उपलब्ध नहीं होते।

महाभाष्यन युग साहित्यिक दृष्टि से असाधारण महत्त्व रखता है, क्योंकि इसके पूर्व ज्ञान—सुज्ञान में हिन्दू धर्म के आधारभूत धर्म मनुस्मृति और महाभारत का वर्तमान रूप तथा पालिनीय व्याख्याओं पर महर्षि पराशरि का भूषणसिद्ध 'महाभाष्य' लिखा गया। पराशरि भूषणसिद्ध सुज्ञ के समयकालीन थे और उन्होंने उसका ध्वस्तमेध जड़ करवाया था। पराशरि के पहले प्रसिद्ध ग्रन्थ 'मनुस्मृति' की रचना श्री वासुदेवान जी के मतानुसार भुवति धर्मव ने १५०-१२० ई० पू० के बीच में की। बाद में 'वास्तव्य-स्मृति' का निर्माण हुआ। इसमें धर्म और व्यवहार (कानून) का भूषण-भूषण तथा धर्म में बहुत सुन्दर प्रतिपादन है।

'महाभारत' और 'रामायण' के वर्तमान रूप में यवन, कम्बोज आदि विदेशी जातियों का उत्थेय तथा तात्कालीन परिस्थिति का प्रतीक होने से ये इसी युग के माने जाते हैं। संस्कृति में काव्य और नाटक साहित्य का धार्मिकार्थ इसी युग में हुआ। कालिदास के समकालीन पराशरि ने बौद्धधर्म की शिक्षाओं को लोकप्रिय बनाने के लिए 'बुद्ध-चरित' और 'लौक्यसन्त' नामक दो काव्य लिखे हैं वे कालिदास के काव्यों की उत्थेय के हैं। यदि कालिदास को धार्मिकता का समकालीन माना जाय तो उसकी रचनाओं भी इसी युग की होंगी, किन्तु धार्मिकता विज्ञान उसे युग काल से दृष्टा समझते हैं। संस्कृत का सुप्रसिद्ध नाटककार नाग भी इसी युग में हुआ। अरकशेष से बौद्धधर्म के प्रचार के लिए 'आर्यपुत्र प्रकरण' नामक नाटक की रचना की थी, इसके कुछ पन्ने ही मध्य एशिया में सुर्जित के पाए गए हैं। सूत्रक का 'मृच्छकटिक' नाटक भी, जो उत्तरालीन समाज का वर्णन बिना उपस्थित करने की दृष्टि से महत्त्व नाटकी

से अतिशय स्वाभिरुचि है, कुछ विद्वानों के मतानुसार १५० ई० पू० से २०० ई० के बीच में लिखा गया। वास्तविकता का 'काय-भूत' काम-सात्व का अभूतपूर्व ग्रन्थ है, यह तीसरी बात ई० में लिखा गया।

काव्यों तथा नाटकों के अतिरिक्त इस समय संस्कृत के कुछ नये व्याकरण और कोश भी बने। पाणिनि की अष्टाध्यायी संस्कृत का पूर्ण शास्त्रीय व्याकरण होने के साथ-साथ बड़ी दुरुह और कठिन थी। साधारण जनता को एक सरल और सुबोध व्याकरण की आवश्यकता थी। यह सर्वत्र की 'कात्तन' व्याकरण से पूरी की। यह व्याकरण इसका लोकोपयोग हुआ कि भाष्य एतिसा में वाति तक बृहत्तर भाग्य में सीधे ही इसका प्रचार हो गया। विदेभी इसी की महानता से संस्कृत बोलने के। इसी के आदर्श पर 'काव्याभन' का 'वाति व्याकरण' और तामित का प्रसिद्ध व्याकरण 'तोल्क-प्रियम' बना। संस्कृत का प्रसिद्ध 'धनरवीश' बौद्ध अक्षरसिंह ने पहली बात ई० में लिखा।

आयुर्वेद में 'चरक' और 'सुश्रुत' भी इसी युग में लिखे गए। चरक बीसों अनुभूति के अनुसार चिकित्सा का संवर्धन का। इसने भारतीय पुनर्वसु के धर्म का समा-संस्करण किया था। किन्तु आनन्दल हमें जो चरक-संहिता मिलती है, यह दुर्भाग्यवश (पञ्चदशी) द्वारा चरक का पुनः संस्करण है। इसमें उसने सुश्रुत का मध्य-किवा-मध्यमो ज्ञान भी सम्मिलित कर दिया है। सुश्रुत चरक के कुछ पीछे हुआ। यह मन्त्रालय का लिख था। वर्तमान सुश्रुत भाग्यार्जुन (१५० ई०) द्वारा सम्पादित संस्करण है। भाग्यार्जुन विमलन प्रतिभा-अभ्यस्य अक्षित था। उसने न केवल सुश्रुत का सम्पादन किया, किन्तु पारे के योग बनाकर आयुर्वेद में रसायन औषधियों का प्रयोग आरम्भ करके औषधियाँ का जन्म दिया। सोहसास्त्र तथा जनन-विज्ञान-विषय आदि के शास्त्र लिखे और महाभाष्य सम्प्रदाय की दार्शनिक विचार-धारा को जन्म दिया। इसी युग में पतञ्जलि ने एक सोह-शास्त्र लिखा, किन्तु यह निश्चित नहीं कि महाभाष्यकार तथा सोहशास्त्रकार पतञ्जलि एक ही हैं। अष्टाध्यायी में इस युग की प्रसिद्ध रचना 'यज्ञे संहिता' है, जिसमें अथर्व, चरक आनन्दल की पद्धतियों का उक्त समय होने वाली बातों के रूप में वर्णन है।

इस काल में महाभाष्य सम्प्रदाय ने वाति के स्वाभ पर संस्कृत में साहित्य-रचना शुरू की। शुरू में यह किन संस्कृत में ही यह साहित्यीय चिन्तकों का पूरा विकास नहीं करती; उसे विभिन्न संस्कृत कहा जाता है। इसमें, महाभाष्यियों के परिचित होनवासी सर्वोत्तिवादियों का भी साहित्य है। इस प्रकार का सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ 'महाभारत' है। तथापि यह वैशाखी महाभारत के बाद बौद्ध-साभ में पूरक हुए बौद्ध महाभाष्यियों की एक शाखा है, जिसे लोकोत्तर पाठियों का विषय कहा जाता है, किन्तु इसमें विद्वानों के आधार से सम्बद्ध बातें बहुत कम हैं। अधिकांश में बुद्ध और बौद्धमत को कथार्य है। बुद्ध की कुछ स्तुतिवा पीरायिक स्तोत्रों में मिलती है।

महायान सम्प्रदाय के इस काल के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सहस्र-गुण्डरीक', 'अमिताभसूत्र', 'प्रज्ञापारमिता' और 'अवदानसूत्र' हैं। पहले दो में बुद्ध का देवाधिदेव रूप में चरित्र-कारिक वर्णन है। 'प्रज्ञापारमिता' में बोधिसत्व द्वारा प्रान्त की जाने वाली आचारमिताओं का वर्णन है। प्रज्ञा का अर्धप्राय शून्यवाद की अनुसृष्टि होना है। यह एक लाख, पच्चीस हजार, दस हजार और आठ हजार स्तोकों के चार कथों में मिलता है और क्रमशः शत, पंचविंशति, दश तथा अष्ट—साहस्रिका प्रज्ञापारमिता कहलता है। नागार्जुन को 'महासाहस्रिका' का लेखक बताया जाता है। अवदान का मूल अर्थ है—महान् त्याग का उदार कार्य; इस प्रकार के कार्यों का परिचय देने वाली दन्त-कथाएँ भी अवदान कहाती हैं। इस प्रकार के दो प्रसिद्ध ग्रन्थ 'अवदान-सूत्र' और 'विष्णुवदन' भी इसी युग की कृतियाँ हैं।

इस युग में बौद्ध दर्शन के अनेक शाखाएँ हुए। इनमें सर्वश्रेष्ठ बिलक्षण प्रतिभाशाली अश्वघोष था, जो एक साध कवि, नाटक-लेखक, कथाकार, दार्शनिक और विचारक था। गेची के शब्दों में वह एक साध मिल्टन, गेटे, वाश्ट और वाल्टेयर का स्मरण कराता है। उसके काव्यों तथा नाटकों का पहले उल्लेख हो चुका है। 'बोधिसूची' में इसने जाति-भेद की पवित्रता उड़ाई है। 'महायान' में महायान के दर्शन की विवेचना की है। नागार्जुन ने १५० ई० में माध्यमिक मूत्र मिलकर माध्यमिक सम्प्रदाय की स्थापना की, जो समूचे दुस्र जगत् की अमत् मानता है। नागार्जुन के गृहस्थिप्य आर्यदेव ने अनुसूतक द्वारा माध्यमिक सम्प्रदायों के सिद्धान्तों की व्याख्या की।

प्राकृत—इस युग में दूसरी श० ई० ५० से दूसरी श० ई० तक समूचे भारत में अमिलेसों और सिक्कों पर एक ही प्राकृत पार्य जाती है। यह उस समय भारत की राष्ट्र भाषा थी। यह कहा जाता है कि सातवाहन राजाओं के महलों में प्राकृत बोली जाती थी। इसमें सातवाहन राजा हार ने 'माया सप्तशती' की रचना की, गुणरूप की 'बृहत्कथा' भी पेशाबी प्राकृत में लिखी गई। इस समय मध्य-एशिया के खोतम आदि प्रदेशों में भी प्राकृत का प्रचार था। वहाँ से 'अम्भार' का प्राकृत अनुवाद निम्न है तथा प्राकृत के सैकड़ों अमिलेख मिले हैं।

तामिल—इसकी पहली कृतियाँ तामिल साहित्य का स्वर्ण युग थीं। इस समय मदुरा में एक साहित्यिक परिषद् या 'संमेल' था। जिसके सदस्यों ने बहुत उच्च कोटि के साहित्य का सृजन किया। तिरुक्कल्लूर का सुप्रसिद्ध सूक्ति-संग्रह, जो 'तामिल वेद' कहा जाता है, इसी युग की उत्पत्ति है। इसका समय १०० ई० के लगभग है। 'अमि लेखना' और 'शीलपतिकारम्' नामक महाकाव्य इसमें १०० वर्ष बाद के हैं। इसी समय तामिल का 'तोटकप्पियम्' नामक व्याकरण भी बना।

विदेशी प्रभाव—इस युग में भारत के उत्तरी तथा पश्चिमी प्रदेशों पर चिरकाल तक ईरानी, तुमानी, यवन, पल्लव, कुषाण आदि विदेशी जातियों का शासन

रहा। कुशाण साम्राज्य के समय (ईसा की पहली दो शतियों) में रोमन साम्राज्य ने भारत का प्रतिष्ठ व्यापारिक सम्पर्क था। यद्यपि भारतीय सम्प्रदाय पर इन विदेशी सत्कृतियों का प्रभाव पहना स्वाभाविक था। इनमें ईरानी, यूनानी और रोमन ही अधिक सम्प्र थे। अतः उनके प्रभाव की ही यहाँ विशेष चर्चा की जायगी।

ईरानी प्रभाव—भारत का उत्तर-पश्चिमी प्रदेश लगभग सौ वर्ष तक ईरान के हथामनी सत्ताओं के विदेशी साम्राज्य का भूग रहा। सत्ताद् द्वारा (५२१-४८५ ई० पू०) ने ५१६ ई० पू० में अपने एक जलमेनापति स्कुलावस को सिन्धु नदी का रास्ता जीतने के लिए भेजा था। उसके बाद ईरान द्वारा कम्बोज (पामीर नदियों), गन्धार का पश्चिमी भाग (पेशावर) तथा सिन्धु प्रदेश (देरा इस्मालख़ा, देरा साचीख़ा तथा सिन्धु सागर) का होमाव जीत लिया गया। सत्ताद् द्वारा ने यहाँ अपना एक प्रांतीय शासक (क्षत्रपातन या क्षत्रप) नियत किया। इस प्रांत से उसे लगभग एक करोड़ रुपये का सोता प्रतिवर्ष प्राप्त होता था, जो उसके अन्य सब प्रांतों से अधिक तथा एशियायी प्रांतों से प्राप्त होने वाले कुल सोने-चांदी का तृतीयांश था। ईरानी साम्राज्य अपने जमाने (५२१ से ४८५ ई० पू० तक) का सबसे बड़ा एवं सुव्यवस्थित साम्राज्य था। द्वारा ने साम्राज्य के विभिन्न भागों को परस्पर जोड़ने के लिए सड़कों का निर्माण कराया, अपनी राजधानी पत्थरी पर सुपवाई थी, राज्य की विदेशी व्याप का उपयोग अपनी राजधानी पर्सिपोलिस में भव्य महल बनवाने में किया था।

अनेक पाश्चात्य ऐतिहासिकों को यह कल्पना है कि मीर्म साम्राज्य पर ईरानी सम्प्रदाय का निम्न प्रभाव पड़ा है—

(१) मीर्म राजाओं ने पाटलिपुत्र (पटना) में अपने महल ईरानी राजाओं के अनुकरण पर बनाये। मीर्म कला पर ईरानी कला का प्रभाव पड़ा। यह कहा जाता है कि अशोक ने ईरान से पत्थर का प्रयोग सीखा, उससे पहले भारतीय लकड़ी की इमारतें बनाते थे। अशोक के स्तम्भों के शीर्ष व उनकी पालिस ईरानी शम्भों से मिलती है। अशोक के पण्डाकृति स्तम्भ-शीर्षों को ईरान से ग्रहण किया बताया जाता है।

(२) अश्वगुप्त मीर्म के राज-दरबार में अग्नि-पूजा तथा राज्याभिषेक के उत्सव की कुछ बातें ईरान से ग्रहण की गई।

(३) अशोक को चट्टानों पर अपने लेख तथा चर्म-लिपियाँ खुदवाने की प्रेरणा हथामनी सत्ताद् द्वारा के अभिलेखों से मिली।

(४) भारत ने लेखन-कला का ज्ञान ईरान से प्राप्त किया।

गम्भीरता पूर्वक विचार करने पर ये चारों बातें ठीक नहीं जान पड़ती। ईतिवत आदि यूनानी लेखकों ने मीर्म राजाओं के महलों को ईरान के मुसा और एककटावा के राजमहलों से अधिक भव्य बताया है। ईरान और भारत की कला-चौधियों का महुरा अध्ययन करने वाले कला-भारमंज भारतीय कला पर ईरानी कला

का कोई प्रभाव स्वीकार नहीं करते। अग्नि-युजा और अग्निषेक की पद्धति भारत में वैदिक काल से प्रचलित थी। उसके लिए उसे ईरान का ऋषी होने की आवश्यकता नहीं थी। दारा प्रथोक से २०० वर्ष पूर्व हो चुका था; सम्भवतः उसका प्रशोक को ज्ञान भी न रहा होगा। उस जैसे प्रतिभाशाली राजा को धर्मलिपियों खुदवाने का विचार महज ही स्फुरित हो सकता है। सेलन-कला के लिए भी भारत को ईरान का ऋषी होने की आवश्यकता न थी। ब्राह्मी लिपि का आविष्कार वैदिक युग में हो चुका था, अतः सीर्य युग में ईरान से भारत को लिपि लेने की जरूरत नहीं थी।

किन्तु ईरान के सम्पर्क के दो प्रभाव प्रयत्न हुए। उत्तर-पश्चिमी भारत में खरोष्ठी लिपि का प्रचार हुआ, जो उर्दू की भांति दाईं ओर से लिखी जाती थी। अभी तक इसकी उत्पत्ति अनिश्चित है, किन्तु एक चीनी ग्रन्थ में कहा गया है कि भारत के पड़ोसी खरोष्ठी देश की वह भाषा थी। कुछ धार्मिक विद्वानों ने इसको प्राचीन पारस (ईरान) की सरमइक लिपि से उत्पन्न हुआ माना है। किन्तु यह लिपि दूसरी शती ई० के लगभग समाप्त हो जाती है। दूसरा प्रभाव क्षत्रप शब्द है। ईरानी इसका प्रयोग प्रान्त के शासक के लिए करते थे। भारत में अनेक बक राजाओं ने इस पदवी को धारण किया और चौथी शती ई० तक इस शब्द का व्यवहार होता रहा।

यूनान का प्रभाव—सिकन्दर के समय से ईस्वी सन् के आरम्भ होने तक भारत का यवनों (यूनानियों) के साथ निरन्तर सम्पर्क रहा। सीर्य युग में चन्द्रगुप्त ने सेल्युकस की कन्या से विवाह किया, उसका बेटा सीरिया के सम्राट से यूनानी दार्शनिक मॅनाने को उरमुक था। अशोक ने यूनानी राज्यों में कर्मरूत भेजे थे तथा अपने पश्चिमी प्रान्त का शासन भी एक यूनानी शासक तुषास को सौंपा था। सीर्य शक्ति के क्षीण होने पर यवनों ने उत्तर-पश्चिमी भारत पर आक्रमण किए तथा सागंधार, पंजाब और सिन्ध में शासन भी किया। इस प्रकार तीन सौ वर्ष तक इस युग में यूनानियों से अनिच्छ सम्पर्क रहा।

पाश्चात्य जगत में यूनान सभ्यता का आदिमूल समझा जाता था। सर हेनरी मेन का तो यहाँ तक दावा था कि प्रकृति की शक्तियों के सिवाय अन्य कोई ऐसी जंजम वस्तु जगत में नहीं जिसकी उत्पत्ति यूनान में न हुई हो। इस प्रकार यूनान में अनन्य प्रभित रखने वाले अनेक विद्वानों ने भारतीय सभ्यता पर गहरा यूनानी प्रभाव पड़ने की बात सिद्ध की है और यह बताया है कि भारत में सब कलाओं की उत्पत्ति यूनानी सम्पर्क से ही हुई है। उदाहरणार्थ संस्कृत-नाटकों में धाएँ, यवनिका शब्द के आधार पर यह कल्पना की गई थी कि भारत ने नाट्य-कला यूनान से ग्रहण की है। बाद में यह पता लगा कि जिस यवनिका (पर्दे) के आधार पर यह कल्पना की गई है, यूनानी नाटकों में उसका प्रयोग ही नहीं होता था। अब यूनान का प्रभाव फला, फूटा और स्पेलिण के क्षेत्र में ही स्वीकार किया जाता है।

(१) कला—पचास ई० पूर्व से तीन सौ ई० तक उत्तर-पश्चिमी भारत में गान्धार-शैली का विकास हुआ। जूझे, विन्सेण्ट स्मिथ तथा सर जान मार्शल का मत है कि पञ्जाब में बसे तथा सीरिया से बुलाये गए यूनानी शिल्पियों ने गान्धार अथवा उत्तर-पश्चिमी भारत में सर्व प्रथम बुद्ध की प्रतिमा का निर्माण किया। इनसे भारतीयों ने अपने देवताओं की मूर्तियाँ बनाने की कला सीखी और गान्धार कला ने भारतीय मूर्ति-कला पर गहरा प्रभाव डाला। हेलन, लायसबाल तथा डॉ० कुमारस्वामी यह मत स्वीकार नहीं करते। इनका विश्वास है कि भगवान् बुद्ध की मूर्ति न तो पहले-पहल यूनानियों ने बनाई और न गान्धार कला में पाई जाने वाली मूर्ति यूनानियों की ही कृति है। इस कला का भारतीय कला पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। भारतीय शिल्पियों को बुद्ध की मूर्ति बनाने के लिए यूनानी कलाकारों की सहायता की कोई आवश्यकता न थी; जैन तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ पहले से ही बनी आ रही थीं। जब महायान सम्प्रदाय तथा भक्ति के सिद्धान्त की प्रचलता हुई और बुद्ध की मूर्ति की आवश्यकता हुई तो उसे जैन मूर्तियों के आधार पर तैयार कर लिया गया। यदि यूनानी कलाकार बुद्ध की मूर्ति तैयार करते तो इसमें वास्तविकता और यथार्थता होती, किन्तु ऐसा नहीं है। पद्मासन-स्मिता बुद्ध के चरण वास्तविक दृष्टि से एक मरल रेखा में नहीं होने चाहिये थे। समाधि-मुद्रा में "एक पर एक रहे दोनों हाथ यदि वास्तविक बनाये जाते तो उनकी कुहनी जोड़ों तक न पहुँचकर बहुत ऊपर पसली की सोप में रहती।" केशों का दक्षिणावर्त गुहाओं (पुंघरों) में बना होना भी सर्वथा अस्वाभाविक है। ऐसी मूर्ति यूनानी कलाकारों की कल्पना नहीं हो सकती। इनका परवर्ती कला पर भी कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

(२) मुद्रा—मीमें युग तक भारत की पुरानी मुद्राएँ साहस सिक्के होते थे। चाँदी और तंबू के टुकड़ों पर सूर्य, चन्द्र, बैल्य, चक्र आदि कुछ निशान ठण्डे से धक्कित किये जाते थे। इन पर कोई राजा की मूर्ति या कोई लेख नहीं होता था। ये सिक्के पुराण या कार्यालय कहलाते थे। यूनानी राजाओं ने सर्वप्रथम राजा की मूर्ति तथा नाम वाले सिक्के चलवाए। शुरू में ये सिक्के यूनानी तोल के अनुसार थे तथा इन पर यूनानी लिपि थी, किन्तु बाद में इन पर खरोष्ठी प्राकृत में लेख लिखे जाने लगे। इसके बाद भारतीय सिक्के भी इसी शैली में बनने लगे। यूनानी सिक्के ड्रैकम (Drachm) का शब्द संस्कृत में द्रम्म तथा बाद में दाम के रूप में अपना लिया गया।

(३) ज्योतिष—अपने अध्याय में यह बताया जायगा कि भारतीय यूनानी ज्योतिषियों को बड़ी बड़ों की दृष्टि से देखते थे। उन्होंने बहुत-से शब्द और काले यूनान से सीखी थी। यहाँ इतना ही लिखना पर्याप्त है कि यहाँ तथा उनके आधार पर सप्ताह के सात वारों की कल्पना पहले यूनानियों से ग्रहण की गई समझी जाती थी। प्लूट का यह मत था कि पौषवीं श० ई० में भारतीयों द्वारा यूनानी ज्योतिष

अरबाने पर वहाँ का ज्ञान और वारों की गिनती भारत में आई। यह विचार उस समय तक ठीक था जब तक पाश्चात्य जगत् में वहाँ के विचार के आविष्कार का श्रेष्ठ पुनर्निर्माण को दिया जाता था, किन्तु अब यह माना जाता है कि वहाँ और राजस्थानों की खोज बाबुली लोगों ने की थी और वारों की कल्पना सुमेरों ने। अतः यह भणित का ज्ञान न पुनर्निर्माण में पैदा हुआ और न वहाँ से आया। संभवतः उत्तर वैदिक युग में यह वैदिकीय ने भारत में पहुँचा।

रोमन प्रभाव—रोम ने सन् ६० ई० पू० में आगस्टस पहला सम्राट् बना। लगभग उसी समय सातवाहन सम्राट् के स्वामी बने। तत्कालीन भारतीय राजाओं ने सम्राट् के पास अनेक दूत-मण्डल भेजे। पैतालीस ई० में एक पुनाबी नाविक हिप्पलस द्वारा मानसून हवाओं के निर्माण बहने की खोज से भारतीय महासागर पैतालीस दिनों में पार किया जाने लगा और भारत से रोम केवल सोलह सप्ताह में पहुँचा जाने लगा। इससे दोनों देशों में अनिष्ट व्यापारिक सम्पर्क स्थापित हुआ। रोमन साम्राज्य की सीमा जब कलकत्ता नदी पर पहुँच गई तो वह भारतीय सीमान्त में कुछ छः मील भी रह गया। ईसा की पहली चार शतियों में दोनों देशों में खूब सम्बन्ध रहा। इसका प्रमाण मुद्रा एवं ज्योतिष के क्षेत्र में ही विशेष पड़ा। कुशाणों ने रोम के रोम के सिक्कों के अनुकरण पर अपने सोने के सिक्के चलाने, संस्कृत का स्वर्ण-मुद्रावाची धीनार शब्द भी मूलतः रोमन है। ज्योतिष के पाँच सिद्धान्तों में रोमक सिद्धान्त भारत में रोम से ही आया प्रतीत होता है।

गुप्त युग का समाज, साहित्य और विज्ञान

गुप्त युग की विशेषताएँ — गुप्त युग भारतीय इतिहास का एक महत्वपूर्ण काल है और अपनी अनेक विशेषताओं के कारण इसे भारत का स्वर्ण युग कहा जाता है।

इसकी पहली विशेषता चार सौ वर्ष के विदेशी शासन के बाद देश का स्वतन्त्र होना, तथा एकछत्र शासन के नीचे संगठित होना था। १०० ई० के लगभग उत्तरी भारत में संयुक्त प्रान्त तक और पश्चिमी भारत में उत्तरी महाराष्ट्र, काठियावाड़, गुजरात और अधिकांश राजपूताने में कुशाणों और शकों का शासन था। सांस्कृतिक दृष्टि से भारतीय रम में रमे जाने पर भी, जातीय दृष्टि से वे विदेशी थे। कुशाणों की संयुक्त-प्रान्त से मगध और नाग राजाओं ने अदेडा तथा पूर्वी-पंजाब में बौद्धों और कुनिन्दों ने; तीसरी शती में सामानी साम्राज्य के उत्कर्ष से कुशाण शक्ति बिल्कुल क्षीण हो गई। शकों की शक्ति का महाराष्ट्र में सातवाहनों ने और राजपूताना में मालवगण ने उच्छेद किया। तीसरी शती के अन्त तक संयुक्त भारत विदेशी दासता के पाश से मुक्त हो गया। किन्तु उस समय तक यह अनेक छोटे-बोटे राज्यों में बंटा था। गुप्तों ने चौथी, पाँचवीं शतों में (३६० ई०-५६० ई०) इस देश के बड़े भाग में एकछत्र शासन और शान्ति की स्थापना की। काफी समय तक गुप्तों के दौलत खट्टे करके भारत की रक्षा की।

इन युग की दूसरी विशेषता अमृतपूर्व-समृद्धि है। इन दिनों भारत का विदेशी व्यापार बहुत उत्थत था। हमने पहले सातवाहन युग में ही रोम का भारत से इतना माल भेजा जाता था कि उसका मूल्य चुकाने के लिए उसे कई करोड़ सोने के सिक्के भारत भेजने पड़ते थे। उस समय एक रोमन लेखक ने यह निष्कर्ष निकाला कि "भारत रोम से प्रतिवर्ष साढ़े पाँच करोड़ का सोना खींच लेता है और यह कीमत हमें अपनी विलासिता और अपनी स्त्रियों की क्षातिर देनी पड़ती है।" इस युग में व्यापार अपने चरम उत्कर्ष तक पहुँच गया और मुद्राओं से मिले सोने के सिक्कों से यह प्रतीत होता है कि अन्य देशों का सोना यहाँ बड़ा बला भा रहा था।

तीसरी विशेषता चीन, मध्य एशिया, जावा, सुमात्रा, कोचीन, चीन, अरबम और कोरिया तक भारतीय धर्म और संस्कृति का विस्तार-व्यापार प्रसार है। यदि आज

चीन, जावा, और भारत में सांस्कृतिक एकता है तो इसका कारण गुप्त युग के कुमारजीय और गुणवर्मा-सदृश प्रचारक है।

चौथी विशेषता भारतीय प्रतिभा का सर्वतोमुखी विकास तथा अमृतपूर्व बौद्धिक उत्कर्ष है। इसी युग में संस्कृत-साहित्य में कालिदास-जैसे महाकवि हुए, 'मृच्छकटिक' और 'मुद्राराक्षस' नाटक बने, पौराणिक साहित्य ने अपना बहुत-कुछ वर्तमान रूप धारण किया। दर्शन में महामान के भाष्यभिक और विज्ञानवादी सम्प्रदाय, तथा वसुबन्धु, धर्मग, भार्यदेव आदि बौद्ध तथा आचार्य सिद्धसेन दिवाकर, समन्त मद्र-जैसे जैन दार्शनिक उत्पन्न हुए और भारतीय दर्शन को इन्होंने अपने सर्वथा नवीन और मौलिक विचार प्रदान किये। विज्ञान के क्षेत्र में दशाश गणना-पद्धति और शिल्लो की लोहे की कीली इसी युग की देन है।

पंचवीं विशेषता ललित कलाओं की चरम सीमा तक उन्नति है। भजन्ता के जगत्-प्रसिद्ध चित्र इसी युग में बने। इस काल की मूर्तियाँ अगले युगों के चित्रकारों के लिए आदर्श का काम करती रहीं।

छठी विशेषता यह है कि इस युग ने हिन्दू धर्म को वर्तमान रूप प्रदान किया। गुप्त सम्राटों के प्रबल प्रोत्साहन से वैष्णव धर्म का उत्कर्ष हुआ। सर्वोच्च सांस्कृतिक समुन्नति की दृष्टि से भारतीय इतिहास का कोई अन्य युग इस युग की समता नहीं कर सकता।

गुप्त युग के धर्म, शासन-प्रणाली और कला का विवेचन छठे, तेरहवें और चौदहवें अध्यायों में हुआ है। यतः यहाँ केवल सत्कालीन समाज, साहित्य और विज्ञान का विवेचन ही किया जायगा।

१. सामाजिक दशा

धर्म-व्यवस्था—भारतीय समाज का मूल आधार वर्ण-व्यवस्था समझी जाती है, किन्तु गुप्त युग तक यह बहुत क्षीयी थी। जात-पात का विचार परिपक्व नहीं हुआ था। खान-पान, विवाह और पेशे विषयक वर्तमान कठोर व्यवस्थाएँ लागू नहीं हुई थी। इस खान की स्मृतियों में केवल शूद्रों के साथ ही खान-पान का निषेध है, किन्तु इनमें भी अपने कृषक, नार्द, ध्वज और पारिवारिक मित्र को अपवाद माना गया है। शूद्र होने पर भी इनके साथ खान-पान में कोई दोष नहीं है। उस समय समाज में प्रायः सबर्ण विवाह होने लगे थे किन्तु अगवर्ण विवाहों को भी रोक रखा जाता था। धनुनीय (उच्च वर्ण के पुरुष के साथ निम्न-वर्णों की स्त्री का सम्बन्ध) और प्रतिनीय (निम्न वर्णों के घर के साथ उच्च वर्णों की कन्या का सम्बन्ध) दोनों प्रकार के विवाह प्रचलित थे। वाकाटक राजा कदमेन ने कट्टर ब्राह्मण होते हुए भी प्रभावती मुण्डा का विवाह वैश्य जातीय गुप्त कुल में किया। ब्राह्मण कदम्बों ने भी अपनी कन्याएँ मुर्तों को दी थीं। विभिन्न वर्णों के अतिरिक्त विभिन्न जातियों में भी विवाह

होता था। शान्ध के शास्यन इक्ष्वाकु राजाओं ने उज्जयिनी के शक राज-परिवार की कन्या स्वीकार की थी।

गुप्त युग में येशों की दृष्टि से जो वर्ण-व्यवस्था के नियम सर्वमान्य नहीं हुए थे। शास्यन धम्मन-धम्मपण आदि स्मृति-प्रतिपादित छः कर्मों के प्रतिरिक्त व्यापार, शिल्प और नौकरी के प्रवेश करते थे। वे शक्तियों का काम करने, खुदा छोड़कर तलवार चकड़ने में भी संकोच नहीं करते थे। बाकाटक और कदम्ब वंशों के संस्थापक विन्यवशक्ति और भगुर शर्मा शास्यन थे। गुप्त-सम्राट वैश्य थे। अनेक प्रथम व्यापार और व्यवसाय करते थे। इस युग में शूद्रों का काम तीनों वर्णों की सेवा करना नहीं था। वे व्यापारी, शिल्पी और कृषक का काम कर सकते थे। उनमें अनेक सेवा में ऊँचे पदों तक पहुँचते थे।

इस काल में यद्यपि स्मृतिकार सबरां विचारों पर बल दे रहे थे, किन्तु उनकी व्यवस्था सर्वमान्य नहीं हुई थी। इसीलिए इस समय हिन्दू समाज में बाहर से आने वाली विदेशी जातियों को अपने में पचा लिया।

विदेशियों को हिन्दू बनाना—गुप्त युग से पहले मौर्य तथा सातवाहन युगों में भारतीय समाज में यूनानी, शक, पहलव और कुषाण अपने में विलीन कर लिये थे। १४० ई० तक मज्राव के कुषाण और पश्चिमी भारत के शक भारतीय बन चुके थे। तीसरी शताब्दी में शान्ध के इक्ष्वाकु राजा शक-कन्याओं के पाणिग्रहण में दोष नहीं समझते थे। गुप्त युग में भी हिन्दू समाज की पावन-शक्ति बड़ी जबरदस्त थी, वे एक पौड़ों में ही विदेशियों को भारतीय बना लेते थे। गुप्त आकाश तोरमाण का बेटा निहिरकुल पक्का शक था। इसी समय आका, मुनावा, बोनिया आदि जायुषों में तथा ईराक और सीरिया में हिन्दू धर्म फैला हुआ था। यह सम्भव है कि इन सब प्रदेशों में काफी विदेशियों को हिन्दू बनाया गया हो। इन सब उदाहरणों से स्पष्ट है कि इस समय तक वर्तमान काल का यह विचार दृढ़मत नहीं हुआ कि हिन्दू समाज में प्रवेश केवल जन्म द्वारा हो सकता है। हिन्दू धर्म से जो भी प्रभावित हो, वह हिन्दू आचार-विचार और संस्कार ग्रहण करके एक ही पीढ़ी में शादी-ब्याह द्वारा हिन्दू-समाज का अभिन्न अंग बन जाता था। कट्टर शास्यन भी विदेशियों के साथ विशाह नुरा नहीं समझते थे। इस प्रकार हिन्दू-समाज में दूसरी जातियों को अपने में विलीन करने की सामर्थ्य गुप्त युग तक प्रचुर मात्रा में विद्यमान थी। यह शक्ति मध्य युग में बिलकुल नष्ट हो गई।

असुश्रुता—किन्तु वर्तमान छुल-छात इस समय थोड़ी-बहुत मात्रा में अव्यवस्था थी। साहित्यन के वर्णन से स्पष्ट है कि जाण्डाल मुख्य बस्ती में बाहर रहते थे और बस्ती में आने पर सड़क पर लकड़ी पीटते हुए चलते थे ताकि उसके शब्द से सब लोगों को उनकी उपस्थिति का ज्ञान हो सके और वे उनके सम्पर्क से दूषित होने से बचे रहें।

विवाह—गुप्त युग में बाल-विवाहों का प्रचलन काफी हो गया था। इससे पहले युगों के मनु आदि स्मृतिकार उपयुक्त वर न मिलने पर कन्या के पिता का उसे अधिवाहित रखने की अनुमति देते हैं, किन्तु इस युग की राजपक्ष्य और नारद-जैसी स्मृतियाँ बहुत काल से पहले कन्या की दास्यी न करने वाले अभिभावक को तरकगामी बताती हैं। उस समय विधवा-विवाह की प्रथा भी प्रचलित थी। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने सन्मवतः ३७५ ई० में प्रुत्तेवी में इसी प्रकार का विवाह किया था। कुछ व्यवस्थाओं में स्त्री अपना पहला पति छोड़कर दूसरे पुरुष से विवाह कर सकती थी। दूसरा विवाह न करने वाली विधवाएँ प्रायः ब्रह्मचरिणी रहती थीं। सती-प्रथा का स्थापक प्रत्तार और धार्मिक महत्त्व न था। इस युग में सती होने का केवल एक ही ऐतिहासिक प्रमाण मिलता है; भानुगुप्त के सेनापति गोपराज की मृत्यु के पश्चात् उसकी पत्नी चिता पर चढ़ी थी।

स्त्रियों की स्थिति—उच्च वर्गों में इस समय स्त्रियों की स्थिति बड़ी उन्नत थी। वे शासन-प्रवर्ण में प्रमुख भाग लेती थीं। कुछ प्रान्तों में, विशेषतः कन्नड़ प्रदेश में, वे प्रान्तीय शासक और राज के मुखिया का भी काम करती थीं। दक्षिण में स्त्रियों की पूज्य पदों में रखने की परिपाटी नहीं थी। वहाँ के राज-परिवारों की स्त्रियाँ धर्मलेखों में न केवल संगीत और नृत्य में श्रवीण बताई गई हैं किन्तु वे सार्वजनिक रूप से इन कलाओं में अपने जैवपुत्र का भी प्रदर्शन करती थीं। कुलीन स्त्रियाँ उच्च शिक्षा प्राप्त करती थीं।

किन्तु यह उन्नत स्थिति उच्चवर्ग की नारियों की ही थी। साधारण स्त्रियों को दशा मिर रही थी। बाल-विवाह प्रचलित होने से उनका उपनयन प्रसम्भव हो गया। शाक्यवर्ण ने उन्हें उपनयन और वेदाध्ययन का अनुधिकारी माना। वैदिक शिक्षा न देने जाने पर भी स्त्रियों को कला और साहित्य की शिक्षा दी जाती रही। इस युग में चीन भट्टारिका आदि अनेक स्त्री-लेखिकाएँ और कवयित्रियाँ हुईं। स्त्रियों के पुराने धार्मिकी और समाजता के धारणों में इस युग में परिवर्तन आने लगा। स्त्रियों पर पति की प्रभुता बढ़ने लगी। कालिदास ने लिखा है—“पति ही स्त्री का स्वामी है, वह जो चाहे कर सकता है।”

जीवन का धारण—गुप्त युग की एक बड़ी विशेषता यह है कि इस समय तक भारतीयों का सामाजिक और वैयक्तिक जीवन बड़ा समुचित था। धर्म, धर्म, काम, मोक्ष नामक चारों पुरुषार्थों का उचित उपयोजन जीवन का धारण समझा जाता था। बाद में भारतीय जीवन में धर्म की प्रधानता हो गई। परलोक के लिए इहलोक की उपेक्षा की जाने लगी, अधिकांश समय बत तथा पूजा-पाठ की दिशा जाने लगा, संन्यास की उच्च और काम की ह्य दृष्टि से देखा जाने लगा, किन्तु गुप्त युग तक ऐसा नहीं था। धर्म और काम की धर्म और मोक्ष के समान महत्ता थी। समाज चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति के लिए समान रूप से बल करता था। गुप्त युग

की चौमुखी उत्पत्ति का मूल कारण यही है। इस काल में जहाँ धर्म और दर्शन में उत्पत्ति हुई, वहाँ साहित्य, ललित एवं उपयोगी कलाओं और विज्ञानों का भी उत्कर्ष हुआ।

२. साहित्य

गुप्त-काल में संस्कृत-साहित्य का अमूलपूर्व उत्कर्ष हुआ। संस्कृत के परम धनुरागी गुप्त राजाओं की अंतर्गत छत्र-छाया उसकी सर्वाङ्गीण समुन्नति में सहायक सिद्ध हुई। इसके प्रचार का इतना जत्साह था कि राजवैश्वर के कथनानुसार इन्होंने अपने अन्तर्पुर में भी संस्कृत के प्रयोग का आदेश दे रखा था। यह स्मरण रखना चाहिए कि केवल इस युग में ही संस्कृत राष्ट्रभाषा बनी। इससे पहले के शातवाहन और इक्ष्वाकु राजा कट्टर ब्राह्मण होते हुए भी प्राकृत के पोषक थे। जैन और बौद्ध भी पाली तथा प्राकृत भाषाओं का व्यवहार करते थे। किन्तु संस्कृत के विद्याल शब्दकोष तथा सर्वविध अभिव्यक्तक सामर्थ्य के कारण वे इस और आकृष्ट हुए। बौद्धों ने पहली-दूसरी शती में संस्कृत को अपनाया। महायान सम्प्रदाय के आचार्यों ने अपनी अग्रज रचनाएँ इसी भाषा में कीं। संस्कृत उस समय भारत के समूचे शिक्षित वर्ग की भाषा थी। गुप्तों को इस बात का गौरव है कि उन्होंने इसे राज-भाषा बनाया। पहले जो स्थान प्राकृतों को मिला था, वह अब संस्कृत ने पाया। सारे देश के दार्शनिकों, कवियों, वाचकों की भाषा होने में संस्कृत भारत की राष्ट्र-भाषा के पद पर आसीन हुई। भारत ही नहीं बृहत्तर भारत में, मलया, जावा, सुमात्रा, बांग्ला, बोर्नियो और चीन तक उसका प्रसार हुआ। केवल गुप्त युग में संस्कृत की यह स्थिति रही है। इससे पहले प्राकृतों का प्रचार था, छठी शती ई० से दक्षिण में द्रविड़ भाषाएँ राजकीय क्षेत्रों में इसका स्थान ले लेती हैं। संस्कृत-साहित्य की अनेक श्रेष्ठ कृतियाँ इसी काल में रची गईं।

संस्कृत के कवि और नाटककार—संस्कृत-साहित्य के अनेक प्रसिद्ध कवि इसी युग में हुए। महाकवि कालिदास इसी काल के माने जाते हैं। 'रघुवंश', 'कुमार-सम्भव', 'मिथुन' नामक काव्य और 'मालविकाग्निमित्र', 'विक्रमोर्वशी' तथा 'अभिज्ञान शाकुन्तल' नामक नाटक उनकी अमर कृतियाँ हैं, इनमें भारतीय धार्मिक जिस पूर्णता से प्रसट हुए हैं, वैसे आपस ध्यान तक किसी अन्य रचना में नहीं हुए, वे संस्कृत के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। विद्याभट्ट का 'मुद्राराक्षस', भारवि का 'किराताकुसुम' मर्यादित के 'नीति, शृङ्गार और वैराग्य अतक' इसी काल की कृतियाँ हैं। समुद्रगुप्त की विधिवन का वर्णन हरिवंश ने अपनी प्राञ्जल और प्रसाद युक्त पुस्त संस्कृत में किया है। संस्कृत-काव्य-साहित्य का एक अमर रत्न विश्वामित्र का 'अनन्त' इसी युग की देन है, संसार की पंचम से अधिक भाषाओं में इसके दो सी के समभग अनुवाद हुए हैं।

शास्त्रीय साहित्य—काव्य-साहित्य के अतिरिक्त इस युग में व्याकरण आदि शास्त्रों से सम्बन्ध रखने वाला साहित्य विकसित हुआ। हिन्दुओं में पणिनि, कात्यायन और पतंजलि के ग्रन्थों का आदर था, किन्तु ब्रिह्म, चन्द्रगोपी नामक बज्जाती बौद्ध

भिक्षु द्वारा विरचित 'चन्द्र व्याकरण' बड़ा लोकप्रिय हुआ। इसका आधार पाणिनि की 'षष्ठाध्यायी' है, किन्तु वैदिक स्वर-प्रक्रिया और व्याकरण छोड़ दिया गया है। इसका समय छोटी शती ई० का पूर्वार्ध है। 'धम्मकोश' एक बौद्ध धम्मसिंह की कृति है। छन्दःशास्त्र का विवेचन इस समय 'भूतबोध' तथा बराहमिहिर की 'ब्रह्म संहिता' तथा 'धम्म पुराण' में हुआ। विजयवा का प्रतिपादित 'विष्णु धर्मोत्तर पुराण' में किया गया। 'कामन्दकीय नीतिसार' और कात्स्यायन का 'कामशास्त्र' भी इसी युग की रचना है।

धार्मिक साहित्य—पुराण भारत में वैदिक युग से चले आ रहे थे। उनका एक प्रधान अंग प्राचीन वंशों का वर्णन था। गुप्त युग के प्रारम्भ में इनका नवीन संस्करण हुआ, इनमें ३५० ई० तक की घटनाएँ जोड़ दी गईं। ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश के माहात्म्य का वर्णन किया गया, किन्तु व्रतों और अनुष्ठानों को महत्त्व देने वाला भाग अभी तक इनमें नहीं जुड़ा था।

मातृवल्क्य, नारद, कात्स्यायन, पराशर और बृहस्पति की स्मृतियाँ इसी युग में बनीं। इनमें मातृवल्क्य स्मृति बड़ी मुख्यस्थिति और कमबद्ध है। इसमें साधार, व्यवहार (दीवानी कानून) और प्रायश्चित्तों का तीन भागों में पृथक् वर्णन है। इस समय के दीवानी कानून के विकास की सूचना नारद और कात्स्यायन से मिलती है।

शास्त्रीय साहित्य—गुप्त काल में यहाँ भारतीय दर्शनों पर भाष्यों और प्रामाणिक ग्रन्थों का निर्माण हुआ। ईश्वर कृष्ण ने 'शांख दर्शन' के सबसे सुन्दर और प्रामाणिक ग्रन्थ 'शांख-कारिका' का प्रणयन किया। 'न्यायभाष्य' के लेखक कात्स्यायन और इस भाष्य पर 'न्यायवातिक' नामक विद्वत्तापूर्ण टीका लिखने वाले उद्योतकर इसी काल की विभूति हैं। 'वैशेषिक' का प्रसिद्ध ग्रन्थ, प्रवस्तपाद-कृत 'पदार्थ संग्रह', 'योगशास्त्र' के 'साधार' तथा 'योग दर्शन' के 'व्यास भाष्य' इसी काल में बने। बौद्ध दर्शन के धर्माचार्य श्रेष्ठ धर्माचार्य गुप्त युग में हुए। विज्ञानवाद के संस्थापक मेनेन, इस सम्प्रदाय के प्रथम धर्माचार्य समुच्यु, भाष्यविक न्याय के जगन्नाथ दिङ्नाग की उत्पत्ति करने का श्रेय इसी युग को है। महाभारत के अन्य गुप्तकालीन भाषाओं में निरुद्धमति, शंकरकामी, परमेश्वर, स्वविर दुर्जयानित आर्षदेव (२००-२५०), भाष्यविक, चन्द्रकोटि, वैभाषिक सम्प्रदाय के संनन्द, स्वविरवाद सम्प्रदाय के बुद्ध-योग, बुद्धदत्त, परमेश्वर उत्तरेखनीय हैं। इनके महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का विस्तृत अध्ययन में निर्देश किया जा चुका है।

जैन साहित्य के विकास की दृष्टि से गुप्त काल असाधारण महत्त्व रखता है। इस युग में सर्वप्रथम जैन-धर्म के ग्रन्थों (आगमों) को २५३ ई० में बलभी में विविधित किया गया, यह कार्य देवाधिपण के सम्राजित्व में हुई जैन महायभा ने किया। इसके प्रतिरिक्त इस काल की दो अन्य बड़ी घटनाएँ जैन न्याय का स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में विकास और 'जैनेन्द्र व्याकरण' की रचना हैं। जैन न्याय के संस्थापक

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर (पाँचवीं शती का उत्तरार्द्ध या छठी शती का पूर्वार्द्ध) थे। 'स्वाध्यायतार' की रचना भारते उन्होंने जैन न्याय को जन्म दिया। इसके अन्य ग्रन्थ 'समन्ति तर्क सूत्र' तथा 'तत्त्वार्थ टीका' हैं। ये केवल नीरस विषय पर लिखने वाले शुष्क दार्शनिक ही नहीं थे, किन्तु 'कल्याण मन्दिर' आदि अनेक सरल स्तोत्रों के निर्माता भी हैं। 'जैनेन्द्र व्याकरण' के प्रणेता पूज्यपाद देवनन्दि थे। जिस प्रकार चन्द्रगोभी ने बौद्धों के संस्कृत-ग्रन्थयन के लिए 'चान्द व्याकरण' बनाया, वैसे ही उन्होंने जैन धर्मावलम्बियों के लिए 'जैनेन्द्र व्याकरण' की रचना की। यह 'पाणिनि व्याकरण' का ही संक्षिप्त संस्करण है। इसके छोटे और बड़े दो रूप हैं, छोटे में लगभग ३,००० सूत्र हैं और बड़े में ३,७२०। मुक्त युग के अन्य जैन आचार्य जिनभद्र गणि, सिद्धसेन गणि और समन्तभद्र उल्लेखनीय हैं। समन्तभद्र अपने समय (पाँचवीं श०) के प्रकाष्ठ जैन दार्शनिक थे। उन्होंने 'मुमुक्षुशास्त्र' में जैन दर्शन के भिन्नान्तों की विवेचना की है। 'स्वाहाद' की प्रतिष्ठ विचारधारा का जन्म इसी काल में हुआ।

उपबुद्ध बर्णन से यह स्पष्ट है कि मुक्त युग न केवल हिन्दू धर्म और साहित्य की उन्नति का काल था, अपितु बौद्ध और जैन संस्कृत-वाङ्मय का भी चरम उत्कर्ष इसी काल में हुआ था। यह तीनों धर्मों के साहित्य का समान रूप से स्वर्ण युग है।

३. वैज्ञानिक उन्नति

मुक्त युग में भारत में वैज्ञानिक क्षेत्र में प्रमाधारण प्रगति की और अनेक नवीन आविष्कार किये। प्राचीन काल में इससे पहले या इसके बाद किसी अन्य युग में उपयोगी धित्य तथा विज्ञानों का इतना उत्कर्ष नहीं हुआ। इसीलिए भारत उस समय वैज्ञानिक दृष्टि से संसार का नेता और सश्रेष्ठ देश बना। प्रायः यह कहा जाता है कि भारतीय सदा धाव्यात्मिक तत्त्व-चिन्तन में ही रूके रहते थे; किन्तु मुक्त युग में प्रायः सभी भौतिक विज्ञानों का उच्चतम विकास इस भारत का लक्षण करता है।

गणित—यंकगणित के क्षेत्र में मुक्त-युग की सब से बड़ी शोख और देन इस-मुशोत्तर अंक लेखन-पद्धति थी। चौथी शती ई० में भारत ने इसका आविष्कार किया। इसमें पहले नौ संकों और शून्य द्वारा सब संख्याएँ प्रकट की जाती हैं, नौ संक समाप्त होने पर एक के आगे शून्य बढ़ाकर दस बना लिया जाता है, दस और शून्य जोड़कर दहाई, सैंकड़ा, हजार आदि संख्याएँ प्रकट की जाती हैं, संकों का मान उनकी स्थिति पर होता है। अब हमारे लिए यह पद्धति इसी स्वाभाविक हो गई है कि हम यह कल्पना नहीं कर सकते कि हमारे पूर्वजों को इस प्रणाली के आविष्कार से पहले १११ लिखने के लिए कितना भ्रमट करना पड़ता था। उन दिनों नौ संकों के प्रतिरिक्त दस, बीस, तीस, चालीस, पचास, सौ, हजार आदि के लिए पुनः चिह्न थे, उपबुद्ध संख्या लिखने के लिए उन्हें एक, दस और सौ के संकों को जोड़कर लिखना पड़ता था, ठीक वैसे ही जैसे पड़ियों पर रोमन संकों में छः या स्याह के

लिए कमरा: पाँच और एक के सूचक बी (V) तथा आई (I) और इस तथा एक के चिह्न एक्स (X) तथा आई (I) जोड़ने पड़ते हैं। इस भारतीय आविष्कार से पहले विभिन्न संस्थाओं के सूचक चिह्न जोड़कर अर्थों को बनाया जाता था। यह पद्धति बहुत ही जटिल थी। यूरोप में बारहवीं शती तक इसी का प्रयोग होता था। भारत में दशगुणोत्तर संक-लेखन अरबों ने सीखा और उन्होंने इसे यूरोप वालों को सिखाया। यूरोपियन इसीलिए इन्हें अरबी संक कहते हैं और स्वयं अरब वाले भारत (हिन्द) से ग्रहण करने के कारण इन्हें 'हिन्दभा' का नाम देते हैं। इन खजिया (सबों सती) अरममुरी (असरी शती), अल्लेकनी (ग्यारहवीं शती) इस संक-लेखन की खोज का श्रेय भारतीयों को देते हैं। यह अब तक ठीक तरह ज्ञात नहीं हुआ कि भारत में इसका आविष्कार किसने, कब और कैसे किया? किन्तु पाँचवीं शती के धार्मभट (४६६ ई०) के ग्रन्थों में इसका स्पष्ट उल्लेख है, अतः उससे कम-से-कम एक शती पहले इसका आविष्कार हो चुका होगा। इससे गणित की गणनाओं में बड़ी सुविधा हुई, अतः इसे सब गणितज्ञों ने ग्रहण किया। धार्मभट ने वर्गमूल और घनमूल निकालने की पद्धति इसी विधि के आधार पर दी है। साधारण जनता में इसका प्रयोग प्रचलित होने में काफी समय लगा। ६६५ ई० के सलेह अभिलेख में सर्व प्रथम इसका व्यवहार किया गया है।

गुप्त युग के गणित पर प्रकाश डालने वालों केवल दो रचनाएँ हैं—'ब्रह्मगोषो' और धार्मभट का 'धार्मभटीयम्'। गैवाकर शहर के पाग कच्चाली गाँव में जर्मन खोजते हुए एक किसान को १८८१ ई० में पहली पोथी मिली थी, यह बड़ी खोजित दशा में है। दूसरी पुस्तक प्रसिद्ध ज्योतिषी धार्मभट की ४६६ ई० में धादलिपुत्र में लिखी गई है। इनमें न केवल भिन्न, वर्गमूल, घनमूल आदि प्रारम्भिक नियमों का वर्णन है, किन्तु साधारण संख्याओं, वर्गों और घनों की संक-गणितीय श्रेणी, घात किया, मूल किया आदि जटिल विधियों का भी विवेचन है। ज्यामिति के क्षेत्र में कुछ छोटे-छोटे विषयों की महत्वपूर्ण विशेषताओं का संकेत होने से यह स्पष्ट है कि भारतीय-गणित की ज्यामिति की पहली बार पुस्तकों के अधिकांश साध्यों का ज्ञान एकत्रित है। धार्मभट के ग्रन्थ में प्रत्यक्षतः ज्यामिति के प्रयोगों का विवेचन है तथा पाई को (1) मान भी उस समय तक निकाले गए धन्य मानों से अधिक बुद्धि है। बीज-गणित में चार अज्ञात राशियों के समकालिक समीकरणों तथा एककालिक अभिव्यक्ति युक्तों का हल देकर दिया गया था।

सब विद्वान् इस बात को स्वीकार करते हैं कि भारतीय इस युग में गणित की नींव में से दो शाखाएँ—संक-गणित और बीजगणित में अपने सामयिक पूर्णतया से आगे बढ़े हुए थे।

ज्योतिष—गुप्त युग का सबसे बड़ा ज्योतिषी धार्मभट ४०६ ई० में धादलिपुत्र में जन्म हुआ। २३ वर्ष की आयु में अपने अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ 'धार्मभटीयम्' लिखा। यह भारत के महान् वैज्ञानिकों में से है। उसने सिकन्दरिया के यूनानी ज्योतिषियों के

सिद्धान्तों का भी महारा सम्मन किया था। वह यह ज्ञात करने वाला पहला भारतीय था कि धूम्रों अपने धर्म के चारों ओर घुमती हैं। उसने सर्वप्रथम ज्योतिष में जीवा का उपयोग ज्ञात किया, यहाँ तथा प्रहरी सम्बन्धी अनेक गणनाएँ कीं। अपने जी वर्ण मान निकाला, वह ज्योतिषी टालमी द्वारा निकाले गये काल में अधिक शुद्ध है। यह सत्काशीन भारतीय ज्योतिष की उत्कृष्टता का पर्याप्त एवं पुष्ट प्रमाण है। इस काल का दूसरा ज्योतिषी बराहमिहिर छठी शती के उत्तरार्द्ध में हुआ। उसने अपने 'पंच सिद्धान्तिका' में तीसरी-तीसरी शतियों में भारत में प्रचलित विभिन्न सिद्धान्तों का परिचय दिया है। इस समय भारत पर यूनानी ज्योतिष का भी प्रभाव पड़ा। संस्कृत ने केन्द्र, हारिज, त्रैकाण आदि शब्द यूनानी भाषा से ग्रहण किए। ज्योतिष के प्राचीन पाँच सिद्धान्तों में एक रोमक (रोमदेशीय) भी है। भारतीय यूनानी ज्योतिषियों का बड़ा आदर करते थे किन्तु यह सब होते हुए भी यूनान का प्रभाव अत्यल्प और मर्याद था। भारतीय स्वतन्त्रतापूर्वक गणनाओं द्वारा जिन परिणामों पर पहुँचे थे, वे यूनानियों के परिणामों की अपेक्षा अधिक शुद्ध थे।

घातुर्वेद—चरक और सुश्रुत दूसरी शती ई० तक बन चुके थे, इस युग में छठी शती ई० में इन दोनों संहिताओं का सार भाग्यदत्त ने 'अष्टांग संहार' में दिया। इस युग का दूसरा प्रसिद्ध ग्रन्थ 'भावनीतकम्' है। यह १-६० ई० में पूर्वी तुर्किस्तान के कूचा में मिला था। इसमें भेल, चरक, सुश्रुत संहिताओं के उपयोगी सूत्रों और योगों का संग्रह है। जो बौद्ध प्रचारक मध्य एशिया में प्रचार करने जाते थे, वे सम्भवतः इस ग्रन्थ का प्रयोग करते थे। इसमें सहस्रगुण के गुणों का इतना तथा अपने विष का प्रभाव दूर करने के मंत्र हैं। घातुर्वेद में प्रधान रूप से चिकित्सा के लिए वानस्पतिक औषधियों का प्रयोग होता था, किन्तु पारे तथा अन्य धातुओं के योग का प्रयोग प्रचलित हो रहा था। पशु-चिकित्सा पर भी इस युग के पिछले प्राण में पालकाप्य का 'हस्त्यायुर्वेद' लिखा गया। इसके १६० अध्यायों में हाथियों की प्रधान बीमारियों, उनके लक्षण तथा उनका औषध एवं शल्योपचार दिया हुआ है।

रसायन और घातुशास्त्र—दूसरी शती ई० में आचार्य नागार्जुन ने न केवल साध्यात्मिक सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्तों को जन्म दिया, किन्तु रसायन और घातुशास्त्र का भी महारा सम्मन करके इन शास्त्रों की उन्नति का श्रीगणेश किया। वे 'सौह शास्त्र' के प्रणेता माने जाते हैं। इस युग में उनके शिष्यों ने इसकी शीघ्र चारों रक्ती होगी। हमें उसका भिन्न ज्ञान नहीं, किन्तु इस युग के सौह शास्त्र की उन्नति का अत्यन्त प्रमाण कुतुब मोनार के पास की सौहे की कीली है। ३४ की० ऊँची और ६॥ उन भारी इस साठ के पाश्चात्य विद्वानों की आश्चर्य में डाला हुआ है। पश्चिम में सौहे के इतने बड़े स्तम्भों की इताई पिछली शती से हो जाने लगी है, जंग-रहित सौहा इस सदी की शीघ्र है। किन्तु यह कीली १,२०० वर्ष की गणना भेलने के बाद भी शीघ्र ही लड़ी हुई है। इसे किस प्रकार बताया गया, यह रहस्यमयी गुल्मी आज तक नहीं गुलफ सकी। छठी शती के अन्त में सातवा में २० फुट ऊँची

बुद्ध की ताम्र-प्रतिमा थी, इस काल की ७॥ फुट ऊँची एक बुद्ध-प्रति वरमिषम में है । ये मूर्तियाँ भी धातु शिल्प की उन्नति सूचित करती हैं ।

शिल्प तथा ग्रन्थ विज्ञान—शिल्प-शास्त्र का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'मानसार' इसी युग की रचना मानी जाती है । बराहमिहिर की 'बृहत्संहिता' से ग्रन्थ अनेक विज्ञानों पर प्रकाश पड़ता है । यह ग्रन्थ एक प्रकार का विद्व-कोश है और बराहमिहिर प्रायः सब विज्ञानों में प्रवेश रखने वाले व्यापारण विद्वान् थे । वे न केवल धातु-शास्त्र तथा रत्न विद्या का उल्लेख करते हैं, किन्तु वनस्पति-शास्त्र, भवन-निर्माण एवं स्थापत्य और श्रुत-विज्ञान का भी वर्णन करते हैं । यदि बराहमिहिर विविध विज्ञानों के अध्ययन के लिए सम्प्रदाय स्थापित कर जाते और उनकी शिष्य-परम्परा गुरु की भाँति वैज्ञानिक शोध में तत्पर रहती तो भारत मध्य एवं वर्तमान काल में भी विज्ञान की उन्नति में बहुत सहायक सिद्ध होता ।

गुप्तयुगीन उन्नति के कारण—गुप्त युग में भारत की जो सर्वांगीण सांस्कृतिक समुन्नति हुई उसके प्रेरक कारण क्या थे ? इस काल में भारतीय प्रतिभा का सर्वतो-मुणी विकास क्यों हुआ ?

इसका पहला कारण गुप्त सम्राटों का प्रबल विद्यानुराग और विद्वानों का संरक्षण था । चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की सभा में 'नवरत्न' विद्यमान थे, समूहगुप्त की कलाप्रियता उसके सिक्कों से स्पष्ट है, नागन्दा-विश्वविद्यालय की स्थापना का श्रेय कुमारगुप्त (४१४-४४ ई०) को है ।

दूसरा कारण इस काल की शांति और समृद्धि थी । नाहिय और कलाओं की उन्नति इन्हीं अवस्थाओं में होती है, 'सम्पूर्ण रक्षिते राष्ट्रं शास्त्र-विन्ता प्रवर्त्तते' ।

तीसरा कारण विदेशों से सम्बन्ध और संपर्क था । चीन और रोमन साम्राज्य से भारत के सांस्कृतिक और व्यापारिक सम्बन्ध थे । इतिहास में प्रायः यह देखा गया है कि दो विभिन्न संस्कृतियों का संपर्क या संघर्ष बौद्धिक एवं कलात्मक क्रियाशीलता को प्रोत्साहित करता है । हम ऊपर देस चुके हैं कि इस युग में हिन्दू और बौद्ध दार्शनिकों के विचार-विमर्शोत्पन्न वाचातप्रत्याभात से उच्चकोटि का दार्शनिक साहित्य पैदा हुआ । यही दसा संस्कृतियों के संघर्ष में होती है ।

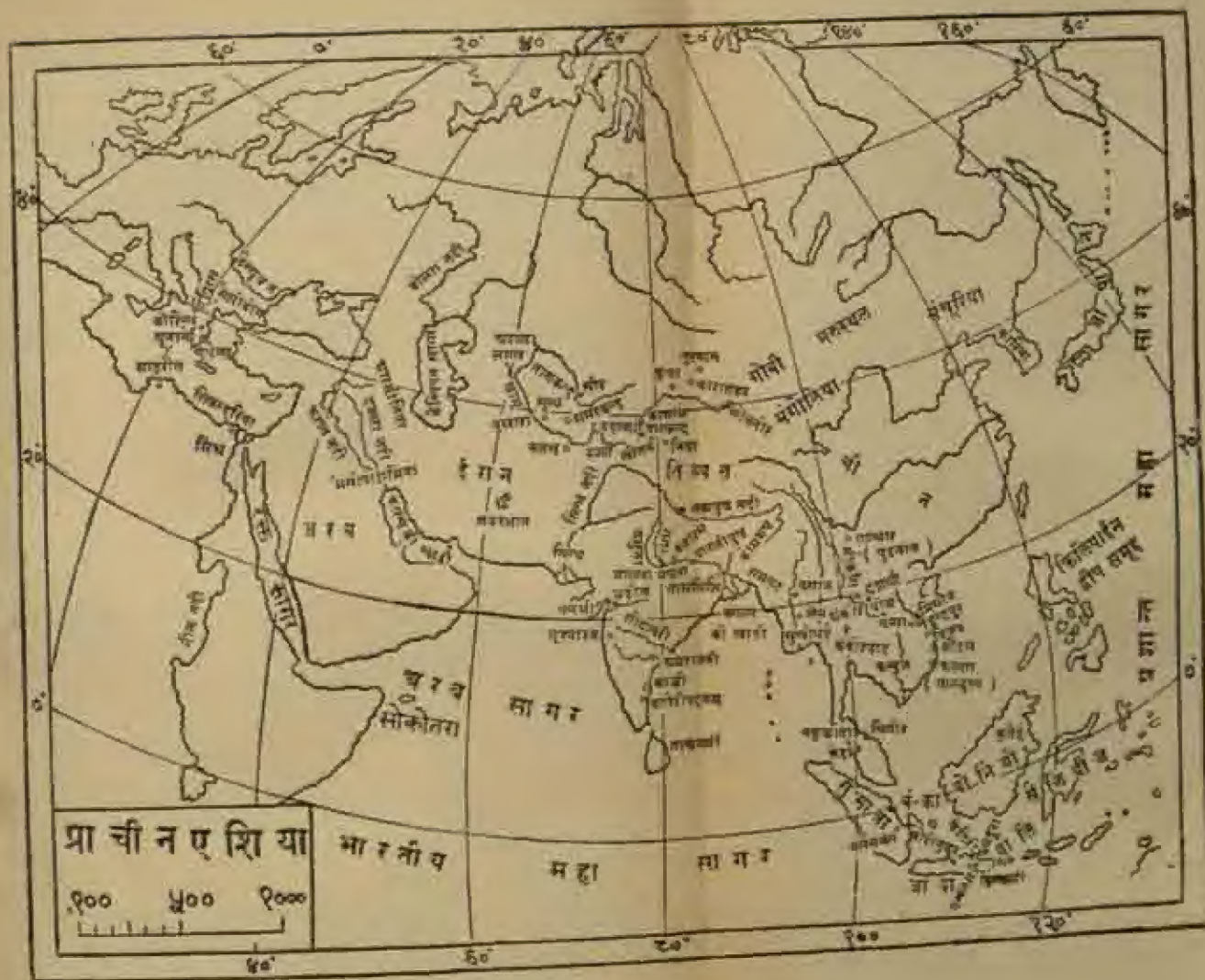
चौथा कारण भारतीयों के दृष्टिकोण की विशालता, आत्मानिमान का प्रभाव, ज्ञान का व्यापारण अनुराग और नम्रता थी । वे अत्येक जाति से ज्ञान और सचाई लेने को उत्सुक रहते थे । बराहमिहिर ने लिखा है कि 'यवन (यूनानी) म्लेच्छ हैं, पर उनमें (ज्योतिष) शास्त्र का ज्ञान है, इस कारण वे श्रमियों की तरह पूजे जाते हैं ।' सार्वभट्ट ने म्लेच्छ यूनानियों के ज्योतिष का अध्ययन किया था ।

गौडवाँ कारण स्वतन्त्रतापूर्वक ज्ञान और विज्ञान के अन्वेषण की प्रवृत्ति थी। बौद्धों ने किसी शास्त्र से बंधे बिना दर्शन के क्षेत्र में ऊँची-से-ऊँची उड़ानें लीं। आर्यभट्ट ने यद्यपि अपने से पूर्ववर्ती भारतीय और ग्रीक दार्शनिकों के ग्रन्थ पढ़े, किन्तु उसने उनको परम प्रमाण नहीं माना, उनका अन्धानुसरण नहीं किया। उसका कहना था—
‘ज्योतिष के सूत्रों और भू-सिद्धांतों के समुद्र में मैंने गहरी डुबकी लगाई है, अपनी बुद्धि की नौका से मैं सत्य-ज्ञान के बहुमूल्य मोती निकाल लाया हूँ।’

बृहत्तर भारत

बृहत्तर भारत का स्वल्प और क्षेत्र—प्राचीन काल में भारतीय संस्कृति भारत की सीमाओं को पार करके बिल विशाल प्रदेश में फैली, उसे बृहत्तर भारत कहते हैं। इसमें साइबेरिया से सिहल (चीनका) और ईरान तथा अफगानिस्तान से अरब सागर के बोनियो और बालि टापुओं तक का विशाल भू-खण्ड है। पुराने जमाने में महत्वाकांक्षी भारतीय राजा अपनी विशाल सेनाओं द्वारा भीषण रक्तपात करके चारों दिशाओं के भूपरिवर्तों को परास्त कर दिग्विजय किया करते थे। किन्तु भारतीय संस्कृति ने रक्त की एक भी बुँद बहाये बिना भारत के साहसी साम्राज्यों, भिक्षुओं, धर्मदूतों और व्यापारियों द्वारा एक विशिष्ट दिग्विजय की। सबसे पहले दक्षिण में लंका को भारतीय संस्कृति के रंग में रंगा गया। पूर्व दिशा में बर्मो, स्वाम, चम्पा (अनाम), कम्बोज (कम्बोडिया), मलाया, जावा, सुमात्रा, बालि, बोनियो तक के मुख्य भारतीय साम्राज्यों ने इसमें, यहाँ अनेक अन्तिमाली हिन्दू राज्य और साम्राज्य स्थापित हुए, यहाँ के मूल निवासियों ने भारतीय संस्कृति का पाठ पढ़ा। प्राचीन काल में दक्षिण-पूर्वी एशिया का यह भू-भाग भारत का ही अंग समझा जाता था। उस समय मुगली इसे 'गंगापार का हिंद' कहते थे, बादकाल यह 'बरता हिन्द' कहलाता है। उत्तर दिशा में सम्पूर्ण मध्य एशिया और अफगानिस्तान में—जहाँ आजकल प्रधान रूप से इस्लाम की तुती बोलती है—भगवान् बुद्ध की उपासना होती थी। मध्य एशिया से भारतीय सम्प्रदाय के इतने अधिक प्रवेश मिले हैं कि भारत के उत्तर में बसे इन प्रदेश को 'उत्तरी हिन्द' का नाम दिया जा सकता है। पश्चिम में ईरान की भारतीय छाया के सजातीय पारसियों ने आवाद किया, पश्चिमी देशों से व्यापारिक सम्बन्ध होने के कारण मिस्र, सुनानी और अरब संस्कृतियों पर भारत ने पराजित प्रभाव छोड़ा।

सांस्कृतिक प्रसार के प्रेरक कारण और साधन—सांस्कृतिक प्रसार के दो प्रधान प्रेरक कारण थे। (१) प्रापिक—वितरण और व्यापार मनुष्यों की दूर-दूर के देशों में जाने और भीषण संकट उठाने के लिए प्रेरणा देता था। हिन्द महासागर में भारत की केन्द्रीय स्थिति होने से, वह पुरानी दुनिया के सम्म देशों के समुद्री रास्तों के बीच बीचों-बीच पड़ता था। यहाँ के निवासी पश्चिम में माल्दिविया और





पूर्व में चीन के समुद्र तट व्यापार के लिए जाते थे। उन दिनों यह समझा जाता था कि चर्म, मल्लामा, जावा, सुमात्रा में सोने की खानें हैं और इस प्रदेश को सुवर्ण भूमि और सुवर्णद्वीप कहा जाता था। अन्य वहाँ भी कहीं सोने की या सम्पत्ति की आशा होती, भारतीय व्यापारी वहाँ जाते थे। इनका जिन घनेचर और असम्भ्य जातियों से सम्पर्क होता, उनपर इनकी संस्कृति का स्वाभाविक रूप से गहरा असर पड़ता।

(२) दूसरा कारण भौक-कल्याण की कामना और धर्म-प्रचार की भावना थी। इनसे अनुप्राणित होकर क्षत्रि-भूमि और बौद्ध निक्षु विदेशों की जंगली जातियों में जाते और भीषण बाधाओं के बावजूद उन्हें सम्भ और उन्नत बनाते। अशोक द्वारा प्रचलित धर्म-विज्ञान की नीति से संप्रदित रूप से भिक्षुओं को दूसरे देशों में बौद्ध-मत का प्रचार करने के लिए भेजा जाने लगा। इस प्रकार सांस्कृतिक प्रसार के तीन मुख्य साधन व्यापारी, उपनिवेशक और धर्मदूत थे। व्यापारी वहाँ जाते, वहाँ प्रभाव-कर्मण उनके साथ भारत का सांस्कृतिक प्रभाव भी पहुँचता था। उपनिवेशन का साधन दूसरे देशों में भारतीयों का स्थायी रूप से बस जाना था। यह कार्य या तो औपनिवेश्य और अगस्त्य-जैसे क्षत्रि-भूमि विदेशों में अपने साम्राज्य और तपोवन स्थापित करके करते या क्षत्रि राजकुमार हिन्दू राज्यों की नीज डालकर। सुवर्णद्वीप में इस प्रकार के घनेचर भारतीय राज्य स्थापित हुए थे। व्यापारी विदेशों में भारतीय संस्कृति का बीज डालते और हिन्दू राज्य इसे वहाँ सुदृढ़ करते थे। किन्तु चीन और अंगोलिया-जैसे देशों ने धर्मदूतों और प्रचारकों के अनभक्त अल्पवसाय और अगोचर प्रयत्न से बौद्ध-धर्म ग्रहण किया।

सांस्कृतिक प्रसार का क्रम—भारत की सीमाओं से बाहर भारतीय संस्कृति सर्वप्रथम चीनका में फैली। दक्षिण दिशा में बृहत्तर भारत की वही सीमा थी, क्योंकि 'इसके बाद बड़े समुद्र प्रारम्भ होता है जिसका भ्रमण्डल की समाप्ति के साथ भी अन्त नहीं होता।' उपरान्त हिन्द में तीसरी शती ई० पू० में भारतीयों ने मध्य एशिया में उपनिवेश बनाने शुरू किये, पहली श० ई० में भारतीय संस्कृति चीन पहुँची, वहाँ से कोरिया और छठी श० ई० में कोरिया से जापान। सातवीं शती में इससे तिब्बत में प्रवेश किया और तिब्बती धर्मदूतों ने इसे तेरहवीं श० में मंगोलों तक पहुँचाया। इनसे यह मंगोलिया, मंगूरिया और साइबेरिया तक फैल गई। 'परन्तु हिन्द' में ईसा की पहली शतियों में हिन्दूधर्म, मल्लामा प्रायद्वीप, जावा तथा सुमात्रा आदि टापुओं में हिन्दू राज्य स्थापित हुए और भारतीय संस्कृति का प्रसार हुआ। ये राज्य लगभग के० हजार वर्ष तक बने रहे। सोलहवीं श० में इस्लाम ने इनका अन्त किया और इनकी समाप्ति के साथ वहाँ से हिन्दू संस्कृति का भी जोष हो गया। पश्चिम दिशा में भारत का दक्षिण, उत्तर और पूर्वी दिशाओं का-सा गहरा प्रभाव नहीं पड़ा, किन्तु लघु एशिया, ईरान, ईसाइयत तथा इस्लाम पर बौद्ध-मत असर पड़ा। इन सबका अत्यन्त संक्षेप से सारांश वर्णन किया जाएगा।

श्रीलंका—भारतीय अनुभूति के अनुसार श्रीलंका में सर्वप्रथम भारतीय संस्कृति का सन्देश से जाने वाले श्री रामचन्द्र थे। किन्तु मिथुनी इतिहास यह बताते हैं कि छठी श० ई० पू० में काठियावाड़ के राजकुमार विजय के नेतृत्व में भारतीयों ने इस टापू का उपनिवेश स्थापित किया। तीसरी श० ई० पू० के मध्य में सम्राट् अशोक ने लंका में बौद्ध-धर्म के प्रचार के लिए अपने पुत्र महेंद्र को भेजा। लंका का राजा देवानाम्पिय तिस (२४७—२०७ ई० पू०) उसका विषय बना। राजा अनुत्ता भी भिक्षु बनना चाहती थी, अतः लिस्त से पछीक के पास दूत भेजकर यह प्रार्थना की कि वह स्त्रियों को भिक्षुनी बनाने के लिए अपनी पुत्री संभविषा को तथा बोधि वृक्ष की एक शाखा लंका भेजे। अशोक द्वारा भिक्षुवाई बोधि वृक्ष की शाखा अनुराधपुर के एक विहार में रोप दी गई, उससे उगा पेड़ आज भी विद्यमान है और वह संसार के प्राचीनतम वृक्षों में गिना जाता है। इसके साथ ही महेंद्र और संभविषा द्वारा लंका में लगाई गई बौद्ध-धर्म की शाखा आज बोधि वृक्ष की भाँति विद्यमान बन गई है।

तीसरी शती ई० पूर्व से लंका में बौद्ध-धर्म का तेजी से प्रसार होने लगा। राजाश्री ने उसे पुरा संरक्षण प्रदान किया। उस समय में वह उस देश का राष्ट्रीय धर्म है। उसे इस बात का भय है कि उसने बौद्ध-धर्म की ज्योति को पिछले २,००० वर्षों में प्रतिकूल परिस्थितियों के प्रचल भ्रमजाल में भी धनबलिष्ठ रूप से प्रदीप्त रखा है। महात्मा बुद्ध की जन्मभूमि-भारत में उनके धर्म का सीप हूँ गया, अतः जब अन्य देशों को इसका धालोक-पाने की आवश्यकता हुई तो लंका ही उनका गुरु बना। यह स्मरण रखना चाहिए कि प्राचीन काल में संस्कृति का मूल आधार धर्म ही था, उसी के साथ वर्तमानता, नाश, माहिस्य, कला, विज्ञान आदि मनुष्य की सुसंस्कृत और सम्य बनाने वाली कलाएँ स्वयः पैदा होती थीं। बौद्ध-धर्म ने लंका को बाहरी विभिन्न तथा पार्श्व भाषा-प्रधान की, वहाँ वास्तु, चित्र, मूर्ति कलाओं का श्रीमंतोष, विकास और परिष्कार किया, परस्पर संघर्ष करने वाली विविध जातियों में सांस्कृतिक एकता उत्पन्न करके उन्हें एक गुथ में पिरोया। लंका में धर्म, साहित्य और कला आदि का ऐसा कोई भेद नहीं है, वहाँ भारत ने अपना प्रभाव स्पष्ट रूप से प्रकट न किया हो।

उपरला हिन्द

मध्य-एशिया—तीसरी शती ई० पूर्व में अशोक के समय से भारतीयों ने मध्य एशिया (चीनी बुकिस्तान या किचिक्क) में भारतीय बस्तियाँ बनाना शुरू कर दिया था। काहिमान के नाश-विचरण तथा इस प्रदेश की प्रागुत्तिक खोजों से यह प्रतीत होता है कि ईसा की पहली शतियों में भारतीय वहाँ फैल रहे थे और पाँचवीं शती तक समूचा मध्य एशिया भारतीय बन चुका था। काहिमान के शब्दों में सोबनोर भील के परिचय की सब जातियों ने भारतीय धर्म और भाषा को ग्रहण कर लिया

था। चीनी मुस्लिमान का अधिकांश भाग मस्जिद है, केवल दक्षिण और उत्तर में तदियों के बिना कुछ शाही प्रदेशों में बस्तियाँ बसी हुई हैं। दक्षिण में काश्मीर और बालूचिस्तान तथा खोतन; उत्तर में कुचा, कश्मीर और तुरकान प्रभाग बस्तियाँ थीं। इनमें खोतन तथा कुचा ने चीन तक भारतीय संस्कृति के प्रसार में बड़ा महत्वपूर्ण भाग निभाया, दक्षिण में खरोष्टी लिपि और ब्राह्मण का प्रचार था; उत्तर में ब्राह्मण लिपि और संस्कृत का।

तीसरी शती ई० तक खोतन बौद्ध-धर्म का प्रसिद्ध केन्द्र बन चुका था। खोतन में तथा निचा, जर्चन आदि अन्य दक्षिणी बस्तियों में उत्तर-दक्षिणी भारत से इतने अधिक भारतीय धर्म थे कि यहाँ को राजाभासा ब्राह्मण और राजलिपि खरोष्टी ही गई, चीन की सीमा तक इसका प्रयोग होता था। इस प्रदेश में मिले ८०० के लगभग लेख इस बात के हैं और वे यहाँ पर भारतीय संस्कृति के गहरे प्रभाव को सूचित करते हैं। यहाँ से मिले पत्रों में न केवल भीम, धान्यसेन, बुद्धसेन आदि भारतीय नाम हैं किन्तु मेसहरक, दूत, चर, दिबिर (सेनक) आदि भारतीय सरकारी पद और खजाएँ भी मिलती हैं। राजा को महाराज, देवपुत्र, प्रियदर्शन, देवमनुष्य से पूजित के विशेषण दिये गए हैं। राजाभाषा प्रायः इस वाक्य से प्रारम्भ होती है— महाराजः तिरुति (महाराजः तिरुति)। मूर्ति और चित्रकला के सब समूचे भारतीय आदर्श पर हैं।

उत्तरी बस्तियों में कुचा प्रधान थी। इसे बौद्ध धर्म का केन्द्र बनाने का बहुत बड़ा श्रेय कुमारजीव नामक बौद्ध भिक्षु को है। यह एक भारतीय राजा के मंत्री कुमारसेन का बेटा था और माता ने इसे काश्मीर के महान् बौद्ध आचार्यों से शिक्षा दिलवाई थी। ३८३ ई० में चीनियों ने कुचा पर आक्रमण किया, वे कुमारजीव को पकड़कर ले गए, चीन के राजा ने इसका बड़ा सम्मान किया, इसे संस्कृत धर्मों का चीनी अनुवाद करने का कार्य सौंपा। ४१२ ई० में अपनी मृत्यु तक ये ६८ वर्षों का भागलतर कर चुके थे। कुचा तथा अन्य उत्तरी बस्तियों ने महामान सम्प्रदान के बौद्ध धर्म धर्मों के प्रतिरिक्त प्रसिद्ध बौद्ध आचार्य उपवर्ण के दो नाटकों के भी कृष्ण धर्म मिले हैं। कुचा आदि बस्तियों के राजा बौद्ध धर्म के भक्त थे, वे हरिकुण्ड, सुकलपुत्र आदि भारतीय नाम रखते थे। चौथी शती ई० में कुचा में ही बौद्ध धर्मियों की संख्या दस हजार के लगभग थी।

चीन—चीन जनसंख्या की दृष्टि से दुनिया का पहला और खूबसूरत की दृष्टि से दूसरा देश है। भारत ने इतनी अधिक जनसंख्या और इतने विस्तृत भू-भाग को अपनी संस्कृति के रंग में रंगा, यह वास्तव में उसके लिए बड़े अभिमान की बात है। चीन में बौद्ध धर्म का संदेश के जाने का श्रेय स्वयं मातंग और अमररत्न नामक बौद्ध भिक्षुओं को दिया जाता है। सन्नाह मियादी (१३-१६ ई०) ने इनके लिए राजधानी में चीन-ची नामक विहार बनवाया। इन धर्मदूतों ने यहाँ रहते हुए बौद्ध धर्मों के

चीनी अनुवादों से इस महादेश की सांस्कृतिक विजय प्रारम्भ की। २१४ ई० तक बौद्ध भिक्षुओं द्वारा ३५० पीढ़ियों का अनुवाद हो चुका था। १२०० वर्षों तक भारतीय विद्वान् अपार कष्ट भोगते हुए चीन जाकर संस्कृत ग्रन्थों का चीनी भाषान्तर करने रहे। जापानी विद्वान् गानजियो के मिगवशीय शिपिटक की प्रसिद्ध सूची में चीनी में अनुवित १६६२ संस्कृत ग्रन्थों का वर्णन है। इस सूची के छपने के बाद चीनियों ग्रन्थ तरे ग्रन्थ मिले हैं। 'सुत्तावली स्यूठ', 'बुद्धजोदिका' आदि अनेक ऐसे ग्रन्थ हैं जो भारत में लुप्त हो चुके हैं, इनका उद्धार चीनी अनुवादों से हो रहा है। अरब-चीन, नागार्जुन आदि प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिकों की जीवनियों का ज्ञान भी हमें चीनी साहित्य से हुआ है।

२६५ ई० तक चीन में बौद्ध-धर्म का शून्य-शून्य प्रचार हुआ, तीसरी से छठी शताब्दी ई० तक यह वहाँ बड़ी तेजी से फैला। छठी शताब्दी ई० के प्रारम्भ में चीन के प्रसोक कहे जाने वाले सुन्ती (५०२-५४२ ई०) ने बौद्ध-धर्म को प्रबल राज-मरक्षण दिया। कुछ बातों में यह मोनो सत्ताई से भी आगे बढ़ गया। उसने अपने राज्य में न केवल प्राणि-यण बन्द कराया; किन्तु कण्डों पर गानवरों के चिह्नों की दुर्गाई तथा कड़ाई भी राजावा द्वारा निषिद्ध ठहराई; क्योंकि कण्डों की कटाई होने पर उनकी हरपा की सम्भावना थी। ऐसे कट्टर बौद्ध सत्ताओं के प्रबल संरक्षण का यह फल हुआ कि छठी शताब्दी में चीन में बौद्ध मन्दिरों की संख्या ३० हजार हो गई और २० लाख व्यक्ति बौद्ध पुरोहित बने। एक चीनी इतिहासकार के शब्दों में उस समय तक प्रत्येक घर बौद्ध बन चुका था। इतने शक्ति-व्यक्ति भिक्षु बनते थे कि मजपूरों के समाव में जैतों का काम उपेक्षित हो रहा था। तांगवंश का समय (६१०-९०७ ई०) चीन में बौद्ध-धर्म का स्वर्ण-युग था। तांगवंशी सत्ताओं की इस धर्म के प्रति भक्ति पराकाष्ठा तक पहुँची हुई थी। इसी वंश के समय में बुध्दान-ज्वांग भारत आया और यहाँ से ६५७ पुस्तकें ले गया, उससे पहले काहियान आदि तथा बाद में इतिहास प्रभृति संकड़ों अड्डानु चीनी भारत की तीर्थ-यात्रा करने आये। ६६४-६७६ के बीच में इनकी संख्या ३०० थी।

तेरहवीं शती में मंगोल सत्ताओं ने बौद्ध-धर्म स्वीकार किया। मंगोलों द्वारा इसका प्रचार मंगोलिया, अनुरिया और साइबेरिया में हुआ।

कोरिया तथा जपान—बौद्ध-धर्म चीन से कोरिया पहुँचा, पौनवीं शती तक मारा कोरिया बुद्ध का उपासक बन चुका था। छठी शताब्दी में कोरिया के एक राजा ने जापानी सत्ताई के साथ मित्रता स्थापित करने के लिए उसे कुछ उपहार भेजे (५२२ ई०); इनमें बौद्ध-धर्म के ग्रन्थ तथा मूर्तियाँ भी थीं। इसके साथ ही एक पक्ष में बौद्ध-धर्म स्वीकार करने का अनुरोध था। शुरू में जापान में इसका कुछ विरोध हुआ; किन्तु बौद्ध ही इसे राज-संरक्षण मिलने लगा। सत्ताई गोम्मु (७२४-७५६ ई०) ने अपार धन-राशि का व्यय करके बुद्ध की एक बहुत बड़ी फाँस

प्रतिमा बनावाई। यह दुनिया की विशालतम प्रतिमा है, इसकी ऊँचाई ५३३ फीट है। मथुरे मन्वाकाल से बौद्ध-धर्म को राजाओं का समर्थन मिलता रहा। १=६७ ई० तक क्षाणन की शक्तिपूर्ण उत्पत्ति का क्षेत्र बौद्ध-धर्म और भारतीय संस्कृति को ही था।

तिब्बत—सातवीं शती में थोमबन गम्पो ने छोटी-छोटी रियासतें जीतकर शक्तिशाली तिब्बत राष्ट्र का निर्माण किया। तिब्बत में बौद्ध-धर्म के प्रवेश कराने का क्षेत्र इसी राजा को है। इसने चीन तथा नेपाल के राजाओं की कन्याओं से विवाह किया। दोनों राजकुमारियाँ बौद्ध थीं और इन विवाहों का सांस्कृतिक परिणाम तिब्बत और बौद्ध-धर्म का धार्मिकत्व था। तिब्बत को सर्वोच्चता की आवश्यकता थी, वह चीन समूह नामक तिब्बती विद्वान् को काश्मीर भेजकर भारत की गई, इसके बाद भारतीय धर्मों के अनुवाद में बड़ी प्रायोगिक संस्कृति का आलोक फैलने लगा। सातवीं शती में तिब्बती राजाओं ने भारतीय विद्वानों को अपने देश में बुलाना शुरू किया। बौद्ध-धर्म के महार भक्त सिमोह (७४३-७५२ ई०) ने नागदा के साचार्य सांस्तरजित को भिगनित किया (७४७ ई०)। साचार्य की यात्रा उस समय ७५ वर्ष की थी। इस अवस्था में उन्होंने धर्म-प्रचार के उत्साह में १६ हजार फीट ऊँच दर्रे और दुर्गम पारिर्ता पार की। उदयपुरी (बिहार शरीफ) के अनुकरण पर तिब्बत में समस्त नामक पहाड़ विहार बनवाने वाले बड़ी थे, उन्होंने सर्वप्रथम कुछ तिब्बतियों को शिक्षा बनाया तथा बौद्ध धर्मों का अनुवाद किया। इसी समय काश्मीर के साचार्य परमार्थ ने भारतीय उत्तवाद द्वारा तिब्बत में बौद्ध-धर्म को लोकप्रिय बनाया। १०२० ई० में साचार्य दीपकर श्रीशान तिब्बत गए, इन्होंने बज्रयान का प्रचार किया। मन्वाकाल में तिब्बत में राजाओं की शक्ति शीघ्र हो गई और उनका स्थान विहारों ने ले लिया। १४०० ई० से तिब्बत में सामावाद का उत्कर्ष हुआ।

तिब्बत को सतम्भ और क्वेर दशा से निकालकर सम्बत का पाठ पढ़ाने वाला भारत ही था।

परला हिन्द

परले हिन्द अथवा दक्षिण-पूर्वी एशिया में भारत ने न केवल अपना सांस्कृतिक प्रसार किया, किन्तु अनेक शक्तिशाली राज्यों और साम्राज्यों की भी स्थापना की। वहाँ पहले इस प्रदेश के हिन्दु उपनिवेशों और दक्षिणों का उन्मेष किया जायेगा और बाद में सांस्कृतिक प्रभाव का।

हिन्द-चीन के राज्य—हिन्द-चीन के प्रायद्वीप में भारतीयों के दो शक्तिशाली राज्य मीकांग नदी के मुहाने पर वर्तमान कम्बोडिया प्रान्त तथा अनाम में स्थापित हुए। कम्बोडिया प्रान्त में पहले तीसरी से सातवीं शती तक धुमान नामक हिन्दु राज्य प्रबल रहा और बाद में कम्बुज का उत्कर्ष हुआ। अनाम प्रान्त के हिन्दु राज्य का

प्राचीन नाम चम्पा था। इसे सम्पत्त हुए सभी कुल सवा सौ वर्ष हुए हैं। ये सभी राज्य बहुत-बहुत वर्षों में भी अधिक काल तक टिके रहे।

फुनान—चीनी ग्रन्थों में ज्ञात होता है कि फुनान में पहले जंगली जातिवासी रहती थीं, स्त्री-पुरुष नंगे धूमते थे। उन्हें सम्पत्ता का पाठ पढ़ाने वाला हुआ-तीन था कौण्डिन्य नामक भारतीय ब्राह्मण था। इसने वहाँ की सोमा नामक नागी (नागों की पूजने वाली आग्नेय जाति की कन्या) से विवाह किया और अपना राज्य स्थापित किया। १०० वर्ष तक इसके वंशज नदी पर बैठते रहे। इसके बाद अन्तिम राजा का मेतापति फन-ये-मन राजा बना (२०० ई०)। इसने शक्तिशाली नौसेना द्वारा अनेक पड़ोसी राज्य जीत और स्वाम, लघोस और मलाना प्रायद्वीप के कुछ भागों पर प्रभुता स्थापित करके इस प्रदेश में पहला भारतीय साम्राज्य स्थापित किया। चौथी स० ई० के अन्त में या पाँचवीं शताब्दी के प्रारम्भ में कौण्डिन्य नाम का दूसरा ब्राह्मण भारत से आया और प्रजा ने इसे राजा चुना। इसके एक वंशज जयवर्मा ने ४८४ ई० में नाससेन नामक परिहाजक को राजदूत बनाकर चीन भेजा। उस समय फुनान में सैव-चर्म की प्रधानता थी और बौद्ध-धर्म का भी बौद्ध-बहुत प्रचार था। छठी शताब्दी के पूर्वार्ध में कम्बुज के आक्रमणों से फुनान का अन्त हो गया।

कम्बुज—कम्बुज राज्य का मूल स्थान कम्बोडिया के उत्तरपूर्व में था। यह पहले फुनान के अधीन था, छठी शताब्दी के प्रारम्भ में इसे श्रुतवर्मा ने स्वाधीन किया। स्वतन्त्र होने के बाद यह शक्तिशाली बना, किन्तु कम्बुज के ६७४ ईस्वी में ८०२ ईस्वी तक के इतिहास पर अभी तक अन्वेषण का पर्दा पड़ा हुआ है। इसके बाद कम्बुज का स्वर्णगुप्त शुरू हुआ। इन्द्रवर्मा (८७७-८८६ ई०) का यह दावा था कि 'चम्पा प्रायद्वीप और चीन के सातक उसकी आत्माओं का पालन करते हैं।' अन्ततः राजा यशोधरमा (८८६-९०८ ई०) कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। राजाशक्तियों के शब्दों में वह 'द्वितीय मनु', परमुराम से भी अधिक उदार, धर्मज्ञ, भीम-जैसा और, सुभूत-सा विद्वान्, शिष्य, भाषा, लिपि और नृत्य-कला में पारंगत था। यह यशोधरपूर (धक्कोर सोम) का संस्थापक था। इसने भारतीय तपोवनों और मुक्तियों के उग पर कम्बुज राज्य में आश्रमों की स्थापना की थी। इनका अन्त्यस्त कुलपति कहलाता था। इसका मुख्य कार्य अन्त्यस्त-अन्त्यस्त तथा ज्ञान की ज्योति को सदैव प्रज्वलित रखना था। कम्बुज में वे आर्यम हिन्दू-संस्कृति के प्रधान गढ़ थे।

ग्यारहवीं शती में कम्बुज का अनुत्पूर्व उत्कर्ष हुआ। जब भारत में महमूद गजनवी और बहाबुद्दीन गोरी के आक्रमणों से हिन्दू राज्य विध्वस्त हो रहे थे, उस समय कम्बुज का साम्राज्य बंगाल की खाड़ी से चीन सागर तक विस्तीर्ण हो रहा था। जिस समय उत्तर भारत में मुस्लिम आक्रान्ताओं द्वारा मन्दिरों का विनाश हो रहा था, उस समय कम्बुज में धक्कोर के विश्व-विख्यात मन्दिर बन रहे थे। सूर्यवर्मा द्वितीय (११४३-४५) ने धक्कोरपत्त का तथा जयवर्मा सातम (११८१-

१२०० ई०) ने अङ्गकोर थोम का निर्माण कराया। इसके बाद कम्बुज का ह्रास होने लगा, पहले वह स्थान से पद-दलित हुआ और उधोसवी शती में फांल के अधीन हुआ।

चम्पा—वीतनाम (हिन्दू-चीन) में दूसरा हिन्दू राज्य चम्पा था। यह पितली शती में १८२२ ई० तक बना रहा। १८०० वर्ष तक आर्यप्राण चम्पा निवासी प्रथमी स्वतन्त्रता के लिए चीनियों, अनामियों, मंगोलों तथा कम्बुजवासियों से लड़ते रहे। इनका पहला ऐतिहासिक राजा श्रीमार माना जाता है। इनका राज्य-काल दूसरी शती ई० का अन्तिम भाग है। इसके आरम्भिक राजाओं में धर्ममहाराज श्री भद्रवर्मा (३८०-४१३ ई०) और मंगाराज (४१३-४१५ ई०) हैं। पहला राजा शिव का परम भक्त तथा 'चतुर्वेदजाता' था; उसने भद्रेश्वर स्वामी के नाम से मिथोन में शिव का मन्दिर बनवाया। दूसरे राजा के समय आन्तरिक भगड़े काफ़ी बढ़ गए और वह राज-पाट छोड़कर अपना अन्तिम जीवन गंगा के तट पर बिहारे के लिए भारत चला गया। भद्रवर्मा का चारों वेदों का ज्ञाता होना तथा मंगाराज की तीर्थ-यात्रा श्रीषी-पांचवीं श० में चम्पा पर गहरे भारतीय प्रभाव की सूचित करते हैं। दसवीं शती तक चम्पा पर कम्पा: मंगाराज के वंशजों तथा पाण्डुरंग (७५०-८६० ई०) और भृगुवंश (८७०-९७२ ई०) के राजाओं ने शासन किया। ये सब हिन्दू-धर्म के कट्टर भक्त थे, नये-नये मन्दिरों की स्थापना करके, उन्हें खुब दान देते थे। चम्पा में भारतीय साहित्य का गम्भीर अध्ययन होता था। इन्द्रवर्म तीर्थी (९११-९७२ ई०) को एक अभिलेख में पट्ट दर्शन, बौद्ध दर्शन, काशिकाकुलि सहित पाणिनीय व्याकरण, शाक्यान तथा जीवों के उत्तरकल्प का प्रकाण्ड पण्डित बताया गया है। दसवीं शती में चम्पा पर उत्तर से अनामियों के आक्रमण शुरू हुए तथा इनका ह्रास होने लगा। लगभग आठ-सी वर्ष तक चम क्षय हो स्थायीनता के लिए लड़ते रहे। १८२२ ई० में जब अनामी आक्रमणों का दौर तक अतिरिक्त असम्भव हो गया तो अन्तिम चमराजा स्वदेश छोड़कर कम्बुज चला गया और इस प्रकार मातृभूमि भारत में सैकड़ों मील दूर, भारत में कुछ भी सहायता न पाते हुए डेढ़ हजार वर्ष तक प्रतिकूल परिस्थितियों और भीषण आक्रमणों में स्वतन्त्रता की मुष्ण-पताका को सदा ऊँचा रखने वाले गौरवपूर्ण हिन्दू राज्य का अन्त हो गया।

मलया द्वीप समूह (सुवर्ण द्वीप)—छठी श० ई० पू० में भारतीय व्यापारी इस प्रदेश में घाने लगे थे। पहली श० ई० से हमें भारतीय ग्रन्थों तथा विदेशी यात्रियों के विवरणों में इस बात के निश्चित संकेत मिलते हैं कि कलिंग-जट के दन्तपुर आदि बन्दरगाहों से विदेश जाने वाले भारतीय सुवर्णद्वीप का आवास करने लगे थे। कनै-थनै: इन्होंने मलया, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो तथा बालि में हिन्दू राज्य स्थापित किये। हजार वर्ष तक इनकी सत्ता बनी रही। इन महासागरी में दो ऐसे दक्तर भी पाये जब सारा सुवर्ण द्वीप एक शासन-भूज में संगठित हुआ—पहली बार जीवेन्दवर्क के अधीन और दूसरी बार विस्वविक्रम (मज्जहित) साम्राज्य के रूप में।

पन्द्रहवीं, सोलहवीं शती में इस्लाम ने यहाँ हिन्दू राज्यों का अन्त तथा भारतीय संस्कृति की समाप्ति की।

शैलेन्द्र—मलया प्रायद्वीप में पहली शती ई० में त्रिगौर में एक हिन्दू राज्य स्थापित हुआ, ईसा की पहली शतियों में हमें कलशपुर (उत्तरी मलया वा दक्षिणी बर्मा), कट्टाह (केट्टाह), कम-गोली (कटार मापेरक) आदि मलया के कई हिन्दू राज्यों का बौद्ध ग्रन्थों में वर्णन मिलता है। किन्तु इनका प्रत्यक्ष इतिहास ज्ञात नहीं है। आठवीं शती से यह प्रदेश शैलेन्द्रों के विस्तृत साम्राज्य का अंग बना। ये सम्भवतः भारत के कश्मिर-प्रान्त से आये थे, पहले इन्होंने दक्षिणी बर्मा और उत्तरी मलया जीता, फिर मलया से सारे सुवर्ण द्वीप में अपनी प्रभुता विस्तारी की। इनका उरकर्म ७७५ ई० से शुरू हुआ, बारहवीं शती तक वे इन प्रदेश की प्रधान शक्ति थे। धर्मशास्त्रियों ने उनके साम्राज्य की विद्यालता और वैभव के गीत गाए हैं। मयकरी (६४६ ई०) के शब्दों में 'यहाँ का महाराजा बर्मी साम्राज्य पर शासन करता है।.....अभिषेकम शीघ्रमाभी बहाव उसके बराबरों दोनों की परिणमा दो वर्ष में भी पूरी नहीं कर सकते।' इन्हें क्षुदीपदेह (८४०-४८ ई०) के कथनानुसार राजा की दैनिक आय २०० मन सीना थी। बारहवीं शती ई० में शैलेन्द्रों का दक्षिण भारत के चोलों के साथ संघर्ष हुआ। इससे इनकी शक्ति क्षीण हो गई। चौदहवीं शती में उत्तर से स्वामियों तथा दक्षिण-पूर्व से जावा वालों ने हमले करके इस साम्राज्य का अन्त कर दिया। जिन शैलेन्द्रों की विजय-वैजयन्ती सुवर्णद्वीप के पैकड़ों टापुओं पर फहराती थी, जिनके चरणों में जावा, सुमात्रा, मलया के राजाओं के मुकुट साँटते थे, उनका शासन मलया के छोटे-से प्रदेश में ही रह गया। इनके अन्तिम अवशेष कटार (पेरक) के राजा ने १४७४ ई० में इस्लाम स्वीकार कर लिया।

जावा—इस द्वीप की स्थानीय अन्त-काषाई इसके उपनिवेशन का अंग पराक्षर, व्याप्त, पाण्डु आदि भारतीयों की देती है। चीन इतिहासों के अनुसार यहाँ दूसरी शती ई० में भारतीय राज्य स्थापित हो चुका था। १३२ ई० में जावा के राजा देववर्मा ने एक वृत्तमण्डल चीन भेजा। छठी शती ई० में पश्चिमी जावा में शासन करने वाले राजा पुगोंवर्मा के बाद संस्कृत अभिलेख मिले हैं। इनसे प्रतीत होता है कि जावा उस समय तक भारतीय संस्कृति की पूर्ण रूप से अपनी चुका था। जावा में पुगोंवर्मा के परिवर्तित अन्त अनेक छोटे हिन्दू राज्य भी थे। आठवीं शती में शैलेन्द्रों का उरकर्म होने पर, वे सब उनके अधीन हो गए, किन्तु ग्यारहवीं शती में उनकी शक्ति क्षीण होने पर जावा में पहले कछिरी (११०४-१२२२) और फिर सिहसरी (१२२२-१२६२ ई०) का राज्य प्रबल हुआ। चौदहवीं शती में विस्तारित साम्राज्य ने शैलेन्द्रों की भाँति समुद्र सुवर्णद्वीप पर शासन किया, किन्तु पन्द्रहवीं शती में इस्लाम के प्रसार से इसका अन्त हुआ। १५२२ ई० में जावा का राजा स्वयं की रक्षा के लिए बाग के टापू में चला गया।

बालि—बालि द्वीप इस दृष्टि से विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि सुवर्णद्वीप के अन्य भागों में तो इस्लाम द्वारा भारतीय संस्कृति का अन्त हो चुका है किन्तु बालि में यह आज भी जीवित रूप में है। इस टापु में भारतीयों के अपने तथा राज्य स्थापित करने का श्रृङ्खलाबद्ध इतिहास नहीं मिलता। छठों तथा सातवीं शताब्दी में यहाँ कौण्डिन्य नामक अन्तिम राजा राज्य करते थे और ओड़ों के मूल संवर्गितवादी सम्प्रदाय की प्रधानता थी। दसवीं शताब्दी में उपमेन, कैसरी आदि भारतीय नामधारी राजाधारी ने शासन किया। जावा के साथ होने से यह प्रायः जावा के अधीन रहा। जब जावा के राजा अपने देश को मुस्लिम आक्रमणों से रक्षा न कर सके तो वे बालि चले गये और यहाँ हिन्दु-धर्म की परम्परा आज तक यथापूर्व बनी हुई है।

बोनिफो—सकुलपुर या वाण्डु द्वीप (बोनिफो) के सुदूरकर्णी टापु को हिन्दु आवासक चौथी शताब्दी ई० तक बसा चुके थे। इस द्वीप के कुतरे नामक स्थान से उपलब्ध आर धर्मिलेखों से यह बात हुमा है कि उस समय पूर्वी बोनिफो में सुलवनों नामक भारतीय राजा शासन करता था। यह हिन्दु संस्कृति का परम भक्त था। उसने 'बहुमुखर्गक' नामक यज्ञ करके ब्राह्मणों को बीस हजार मोर्चे तथा अन्य बहुत सा दान दिया था। १२२५ ई० में मध्य तथा पूर्वी बोनिफो में पुरातत्त्वीय अनुसन्धान से महादेव, नन्दी, कातिकेय, मण्डित, धर्मस्य, ब्रह्मा तथा स्कन्द की मूर्तियाँ मिली हैं। बोनिफो के निकटवर्ती सेन्जीबीज टापु में कुछ की सुविशाल विस्तृत प्रतिमा पाई गई है। ये सब अवशेष इन द्वीपों में भारतीय संस्कृति के गहरा और व्यापक प्रभाव को सूचित करते हैं।

सांस्कृतिक प्रभाव—जब भारतीयों ने दक्षिण-पूर्वी एशिया में प्रवेश करके अपने उपनिवेश और राज्य स्थापित किये, उस समय यह भूखण्ड बर्बर जातियों द्वारा आबाधित था। यहाँ के निवासी जंगली, धर्मस्य और बर्बर कुक्षार थे। हिन्दु आवासकों ने इन्हें अपने धर्म, वर्णमाला, भाषा, साहित्य, सामाजिक नीति-निर्वाण, व्याचार-विचार, नैतिक व राजनैतिक आदर्श, मुक्ति, वास्तु आदि कलाओं की शिक्षा देकर सभ्य बनाया। जीवन का आनन्द ही कोई पहलू ऐसा बचा ही, जो उनके प्रभाव से प्रभूता रह पाया हो।

सुवर्ण द्वीप के आवासन का श्रेष्ठ हिन्दु राजकुमारों और ब्राह्मणों को है, यतः यहाँ सब और वैष्णव धर्मों की प्रधानता रही। बोनिफो से मिली हिन्दु-देवताओं की प्रतिमाओं का ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। जावा से शिव, विष्णु, लक्ष्मी, गणेश की संकटो मूर्तियाँ मिली हैं। प्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञ काफोर्ड ने जावा के सम्बन्ध में लिखा था कि पुराणों का ज्ञान ही कोई ऐसा देवता हो, जिसकी प्रतिमा जावा में न पाई गई हो। इस समय भी बालि के विष्णु इन्द्र, विष्णु, कृष्ण की मूर्तियाँ बनती हैं। यहाँ के निवासी भारतीय विधि से कुर्मा तथा शिव की पूजा करते हैं। कर्म-कण्ड और

पूजा-पड़ात विलकुल हिन्दू है। इसमें जल-पात्र, माता, पुत्रा, तिल, पुत्र, मधु, यक्ष, पुत्र, दीप, पण्डी और मन्त्रों का प्रयोग होता है; जातकर्म, नामकरण, विवाह, अन्तेष्टि आदि हिन्दू संस्कारों का प्रचार है। वर्ण-व्यवस्था, मन्त्रों विवाह तथा सती प्रथा की पद्धति प्रचलित है। वर्तमान समय में बालि में दिखाई देने वाला यह हिन्दू प्रभाव प्राचीन काल में समुद्र सुवर्ण-द्वीप में विस्तीर्ण था।

इस प्रभाव की पुष्टि साहित्य और कला से भी होती है। सुवर्ण-द्वीप में सर्वत्र बाह्यी वर्णमाला और संस्कृत भाषा का प्रचार था। कम्पा से ७० तथा कम्बुज से ३०० के लगभग संस्कृत के शिलालेख मिले हैं। ये संस्कृत काव्यों की शैली का अनुसरण करते हुए, निर्दोष, सज्जित, प्रौढ़ तथा प्राञ्जल भाषा में लिखे हुए हैं। इससे बात होता है कि इनके लेखकों का संस्कृत भाषा, व्याकरण, पुराणों, काव्यों से प्रगाढ़ परिचय था। मन्दिरों में प्रतिदिन रामायण, महाभारत और पुराणों के अन्तर्गत पाठ तथा कर्माग होता था। धार्मिक साहित्य के साथ-साथ वैदिक साहित्य का भी अनुशीलन होता था। कम्बुज के राजा मर्षीवर्मा ने पातञ्जल महाभाष्य पर टीका लिखी थी।

भारतीय धर्म और साहित्य के साथ सुवर्ण-द्वीप में भारतीय कला का भी प्रसार हुआ। कम्बुज की मूर्ति-कला गुप्तयुगीन कला से प्रादुर्भूत हुई थी। किन्तु शनैः-शनैः अम्बाल से मिली इस कला में होने प्रवीण हो गए कि उन्होंने 'पाषाणों में अमर काव्यों' की रचना कर डाली। कम्बोदिया तथा जावा के मन्दिरों में रामायण, महाभारत और हरिवंश पुराण के दृश्यों की मूर्तिकारों ने अपनी छेनीयों से पत्थरों पर बड़ी सफाई और सज्जता के साथ कोटा है। वास्तु कला का उत्कृष्टतम विकास बङ्गाल तथा बर्मादेश के मन्दिरों में मिलता है। इस प्रकार के देवालय न भारत में पाये जाते हैं और न किसी दूसरे देश में। वे विश्व की अद्भुत वस्तुओं में गिने जाते हैं तथा इन प्रदेशों में भारतीय संस्कृति के अमर स्मारक हैं।

पश्चिमी जगत—पश्चिमी जगत में भारतीय संस्कृति का दक्षिण-पूर्वी एशिया-जैसा अधिक प्रभाव नहीं पड़ा। सम्भवतः अशोक द्वारा पश्चिमी एशिया की भेजे गए बौद्ध-प्रचारकों ने जंगलों में जाकर उपस्था करने वाले वैराग्य और तपस्या पर बल देने वाले ब्रह्मचर्य व्रत के वास्तविक ऐतनीय और वैराग्य सम्प्रदायों पर प्रभाव डाला। निकन्दरिया में होने वाली हर्षोवाद, धर्मिकानवाद और नव प्लेटोवाद नामक विचारधाराओं ने भारतीय प्रदर्शनों से कुछ बाले ग्रहण की। दूसरी शती ई० पूर्व में कृष्ण के व्यासक भारतीयों ने करात नदी के उपरले हिस्से में हिन्दू-मन्दिर स्थापित किये। चौथी शती ई० में ईसाई-प्रचारकों ने इनका विध्वंस किया। इस्लाम के मुत्तीवाद पर बौद्ध-धर्म और वेदांत का प्रभाव है। अम्बाली कर्माकाओं के प्रोत्साहन से बगदाद में आबुलक, गजिल, ज्योतिष आदि विविध विज्ञानों के संस्कृत ग्रन्थों का

भरबी अनुवाद हुआ, भरबी ने भारत की दशगुणोत्तर धन-लेखन-व्यवस्था के साथ इन विज्ञानों की यूरोप पहुँचाया। सत्य-कर्म की बहुत-सी बातों के लिए पश्चिमी जगत भारत का ऋणी है।

उपसंहार—बृहत्तर भारत हमारे प्राचीन इतिहास की सबसे सुनहली कृतियों में से है। वेद हजार वर्ष तक भारतीय विश्व के बड़े भाग की जंगली जातिघों के बीच में बसाकर उन्हें सभ्यता और संस्कृति का पाठ पढ़ाते रहे। संसार में हजारों निर्दोष व्यक्तियों का तुल्य बहाकर दिव्यजय करने वाले तथा विशाल साम्राज्य बनाने वाले सिकन्दर, सीजर, चंगेज़खाँ, तैमूर और नैपोलियन-जैसे विजेताघों की कमी नहीं। किन्तु विश्व के इतिहास में भारत की सांस्कृतिक विजय से अधिक शान्तिपूर्ण, स्थायी, व्यापक और हितकर कोई दूसरी विजय नहीं हुई। “भारत ने उस समय धार्मिक और सांस्कृतिक साम्राज्य स्थापित किए थे। जब कि सारा संसार बर्बरतापूर्ण कृत्यों में डूबा हुआ था। यद्यपि ध्यान के साम्राज्य उनसे कहीं अधिक विस्तृत है पर उन्नयन की दृष्टि से वे इनसे कहीं बढ़-चढ़कर थे; क्योंकि वे वर्तमान साम्राज्यों की भाँति तोपों, वायुयानों और विद्युत्‌गैसों द्वारा स्थापित न होकर सत्य और प्रेम के साधार पर खड़े हुए थे।”

मध्यकालीन संस्कृति

भवनति का प्रारम्भ—गुप्त युग भारतीय इतिहास की सर्वोच्च सांस्कृतिक समुन्नति का स्वर्ण युग था, किन्तु राजपूत युग अथवा मध्य-काल (५४०-१४२९ ई०) में सर्वतोमुखी भवनति शुरू हो जाती है। हमारे जातीय जीवन के सभी क्षेत्रों में प्रगति-शीलता, नवीनता, मौलिकता और दृष्टिकोण की विचलनता समाप्त हो जाती है, इनके स्थान पर मन्दता, प्रतिगमिता, क्षिपिलता और संकोचता की प्रकृतियाँ प्रकट होने लगती हैं। प्राकृतिक नियम के अनुसार दो हजार वर्ष तक निरन्तर प्रगति करने के बाध, हमारा राष्ट्र यकाम और बुझने का अनुभव करता है। शनैः-शनैः जीवन की क्रियाशीलता, उत्साह, साहस और पराक्रम लुप्त हो जाने हैं, बुढ़ावस्था की कटुता, धर्म-श्रेय, रुढ़ि-प्रियता और समुदायता के गुण प्रकट होते हैं। धार्मिक क्षेत्र में धर्म का कर्मकाण्ड बढ़ता और परलोकवाद की प्रधानता मध्य युग की मुख्य विशेषता थी। गुप्त युग तक भारतीय जीवन में 'धर्म' और 'काम' तथा 'धर्म' और 'मील' में समतुल्यता, अन्य विश्वासों की प्रभावता नहीं थी, सामान्य हिन्दू का दैनिक जीवन व्रत, उपवास, पूजा-पाठ के नियमों में जटिल नहीं बना था। तिथि, वार, व्रतच, ग्रहों की बहुत कम महत्ता थी, जीवन की धार्मिक और मनुष्य मानकर उसमें उपेक्षा नहीं की जाती थी। ६०० ई० के बाद के सैकों में प्रायः सामारिक ऐश्वर्य और समृद्धि की निःसारता पर बहुत बल दिया गया है, किन्तु गुप्त-युग तक ऐसी बात नहीं थी। राजनीतिक क्षेत्र में पहले युगों में भारतीय युवानियों, शकों, बुधार्थों तथा हूणों को पराभूत करते रहते थे, किन्तु इस युग के अन्त में विदेशी आक्रमताओं को हरा देने की बात तो दूर रही, उत्तर भारत पर उनकी प्रभुता स्थापित हो जाती है। सामाजिक क्षेत्र में भी यही भवनति दिखाई देती है, पहले युगों में विदेशी आक्रियों को पचाने तथा आत्मसात् करने वाला हिन्दू-समाज इस समय तक अपना प्राचन-मानव्य भी खोता है, तुर्क और मंगोल उसका धर्म नहीं बन पाते। धौडिक क्षेत्र में धन्येयण और मौलिकता की प्रगति समाप्त हो जाती है, दार्शनिक प्रवृत्ति सारा धार्मिक पुराने धर्मों की दीक्षाओं में तथा बाल की बाल निकालने में व्यय करते हैं। साहित्यिक क्षेत्र में पुरानों प्रवाद-गुण-सम्पन्न कवितासमाधि महाकवियों की रचना का स्थान नाथ और धीहर्ष की धन्येयण-प्रधान काव्य-शैली से लेती है। इस प्रकार सांस्कृतिक

जीवन के सभी पहलुओं में नवीनता और प्रगतिशीलता का स्थान क्षीयता और ह्रास के लेते हैं।

किन्तु यह क्षीयता सहसा ही प्रारम्भ नहीं हो गई; जवानों से युवाओं का परिवर्तन कई बरसों में होता है, हमारे राष्ट्र को इसमें कई क्षतियाँ लगीं। पूरे हजार वर्ष बाद ह्रास की प्रकृतियाँ प्रधान हुईं। किन्तु इस सहस्राब्दी के पूर्वार्ध में संस्कृति के प्रत्येक क्षेत्र में उत्कृष्ट कृतियों का निर्माण हुआ। मध्यकाल की कला में गुप्त-युग की नवीनता नहीं, किन्तु जातिगत और मजबूती की दृष्टि से वे अगुयम हैं। शंकर का अद्वैतवाद भी इसी युग की देन है। यहाँ मध्यकालीन समाज, साहित्य और वैज्ञानिक उन्नति पर ही विशेष प्रकाश डाला जानेगा। संस्कृति के अन्य धर्मों—धर्म, शासन तथा कला का वर्णन छोड़े, तबहवें तथा चौदहवें शताब्दियों में हुआ है इसके साथ ही प्रत्येक क्षेत्र में सांस्कृतिक ह्रास के कारणों की भी विवेचना की जायगी।

१. सामाजिक दशा

वर्ण-व्यवस्था—मध्यकाल के सामाजिक जीवन की सबसे बड़ी विशेषता प्राचीन वर्ण-व्यवस्था का वर्तमान जाति-नैतिक रूप ग्रहण करना था। नदी का प्रवाह बन्द हो जाने से जैसे छोटे-छोटे जोहड़ बन जाते हैं, वैसे ही भारतीय समाज में प्रगति बन्द होने से विभिन्न जातियाँ बन गईं। सामाजिक ऊँच-नीच के जितने दरजे थे उन्होंने अपने कुल गिव लिये, इनमें शादी-ब्याह का दायरा हमेशा के लिए सीमित कर लिया गया। इस प्रकार जातियों के बन जाने से हिन्दू-समाज को पुरानी पावन शक्ति और साम्बोकरण (Assimilation) की प्रवृत्ति लगभग समाप्त हो गई। जैसे पहले उसमें विदेशी जातियाँ आकर मिलती रहीं थीं, अब वैसा सम्भव न रहा। मध्य-युग में दो ऐसे बड़े उदाहरण हैं जिनमें हिन्दुओं ने विदेशियों को अपने में मिलाया। ११७७ ई० में सहानुदौल गौरी को हराते के बाद सुजरातियों ने उसकी फौज का बड़ा घेरा बंद कर लिया। कैदियों को हिन्दू बनाकर अपनी जातियों में मिला लिया। तेरहवीं सदी में मंगोल-वर्षाओं सहोम पाचाम में आये, वे धीरे-धीरे हिन्दू-समाज में पुनर्-मिल गए। यह सब पुराने पावन-सामर्थ्य से हुआ, किन्तु साधारण रूप से हिन्दू-समाज जाति के बन्धन कड़े करके उसमें नये उत्त्यों का प्रवेश रोक रहा था। वे बन्धन प्रधान रूप से खान-पान, पेशे और विवाह के थे। पहले दो बन्धनों में अभी तक काफी लचकोलापन था और तीसरा बन्धन तेरहवीं सदी से सुदृढ़ होने लगा। राजकन अपनी जाति और बिरादरी में खान-पान होता है किन्तु 'व्यास-स्मृति' के अनुसार ताई, दान, खाले वर्ण-परम्परागत भिन्न के सुदृढ़ होने पर भी इनके साथ जाने में कोई दोष न था। पेशे की आजादी भी इस समय तक काफी बनी हुई थी, स्त्रियों में बाह्यता को कुंभित करने तथा विशिष्ट पक्षों पर बाह्यता तथा वैश्य को उत्तम ग्रहण करने का भी अधिकार दिया गया है। शक्ति केवल उत्तम ही नहीं बनाते थे, किन्तु जेसती द्वारा गृहस्थपूछी नवीन रचनाएँ भी प्रस्तुत करते थे। चौहान राजा विजयराज

का 'हरकोसि नाटक' मिखासों पर खुदा हुआ आज भी उपलब्ध है, राजा भोज की निद्रता जगतप्रसिद्ध है, पूर्वोक्त चालुक्य राजा विजयादित्य गणित का बड़ा प्रकाण्ड पण्डित था, इसीलिए उसे गणक कहते थे। वैश्य भी इस समय कृति-कार्य छोड़कर अन्य काम करते थे। उनके राज-कार्य करने, राज-मन्त्री होने, सेनापति बनने और मुर्तियों में लड़ने के अनेक उदाहरण मिलते हैं। वैश्यों ने दलकर्तरी, कारीगरी आदि के साथ सभी कार्य छोड़ दिए। हाथ के सब काम धूर्तों के पास चले गए।

जाति-भेद का सबसे बुराईस्त वर्गस्त अपनी ही जाति में विवाह का नियम है, यह इस युग में शर्म-शर्म: कठोर हुआ। प्रारम्भ में सवर्ण विवाह श्रेष्ठ समझा जाने पर भी अन्य वर्णों से विवाह का नियम प्रचलित था। पहले यह बताया जा चुका है कि ब्राह्मण के लिए क्षत्रिय वैश्य-कन्याओं के विहित होते हुए भी ब्रूह-कन्या से पाषिपहण निषिद्ध समझा जाता था, किन्तु फिर भी समाज में इसका प्रचलन था। सातवीं शती में महाकवि वाण ने ब्रूह स्त्री से उत्पन्न हुए ब्राह्मण के पुत्र अपने गारुड भाई का उल्लेख किया है। इस समय के अभिलेखों में अनेक प्रतिशोम (उच्च वर्ण के पुत्र का हीन वर्ण की स्त्री के साथ सम्बन्ध) विवाहों का वर्णन मिलता है। ब्राह्मण-रवि राजसेखर ने मोहान-कन्या शक्यति मुन्दरी से विवाह किया था। बारहवीं शती तक ऐसे विवाह बहुत होते थे। तेरहवीं शती से निबन्धकारों ने असत्य विवाह की कलियार्थ (कलियुग में निषिद्ध) कहकर उसकी निंदा करनी शुरू की। 'स्मृति-चन्द्रिका' (१२००-१२२५) ने इसमें पकड़ की। 'हिमाद्रि' (१२६०-७७) ने भी इनका विरोध किया। बाद में रघुनन्दन व कमलाकर ने भी इसे कलियार्थ में निषिद्ध उल्लेख करके यह व्यवस्था हिन्दू-समाज में सर्वमान्य हो गई।

किन्तु यह बात ध्यान देने योग्य है कि बाद में हिन्दू-विवाह में वर्णों की ही नहीं, किन्तु उपजाति की समानता भी आवश्यक समझी जाने लगी। बारहवीं में इसका कहीं उल्लेख नहीं। इनमें प्रचलन रूप से वर्णों तथा कुछ संकर जातियों का वर्णन है किन्तु ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य की अन्तर्गत जातियों का कहीं उल्लेख नहीं। ६०० ईस्वी से १००० ई० तक ब्राह्मण विभिन्न जातियों में गहरी बँट वे, उनके शाखा और गोत्र का ही भेद था। बारहवीं श० में इनके प्रदेश तथा पेड़ के आधार पर भेद किए जाने लगे। द्विवेदी, चतुर्वेदी, पाठक, उपाध्याय आदि पेड़ों के तथा मामूर, मोड़, मारस्यत, क्षीरीन्ध आदि प्रादेशिक भेदों को सूचित करने वाली ब्राह्मण उपजातियाँ बनने लगी। इनका अनुकरण क्षत्रियों और वैश्यों ने भी किया। उपजातियाँ बनाने और उनके अन्तर जादो करने का नियम संवामक रीति की तरह समाज के सब वर्गों में फैल गया। उत्तर भारत के प्रसिद्धों में ही इस समय १,३५६ उपजातियाँ ऐसी हैं जो चापल ने विवाह नहीं करती। हिन्दू समाज ५,००० उपजातियों में बँट गया। इस अर्थ में जाति-पति के पुन-दीर्घ की विवेचना उचित जान पड़ती है।

धर्म व्यवस्था का उद्देश्य तथा गुण—प्राचीन काल की वर्ग-व्यवस्था उसके प्राथमिक रूप जाति-पति से सर्वथा भिन्न थी। यह समाज के विभिन्न वर्गों में सामंजस्य और समन्वय स्थापित करने का सुन्दर उपाय था। प्राचीन भारतीय समाज में उच्च प्राध्यात्मिक तत्त्व-चिन्ताओं में तरलता रहने वाले ब्राह्मणों से लेकर निचला वर्ग, जंगली जातियों तक—सभी प्रकार की विभिन्न संस्कृतियों वाले वर्ग थे। भारतीय देशों में विचारकों ने जिस प्रकार सदैवतत्त्व द्वारा बहुत्व में एकत्व ढूँढ़ा था, उसी प्रकार उन्होंने समाज के लाना-वर्गों में एकता का ठरान ढूँढ़ने के लिए वर्ग-व्यवस्था की कल्पना की। समाज के छोटे-बड़े सभी वर्ग एक ही किराट्ट पुरुष के विभिन्न प्रग माने गए, ब्राह्मण उसके मुख थे, क्षत्रिय भुजाएँ, वैश्य बंधारें तथा शूद्र पैर। यह विभाग कार्यपरक था, जन्मभूतक नहीं था। यह भी समझ लेना चाहिए कि यह शासकवर्गों की एक सारथी कल्पना ही थी, वास्तविक स्थिति नहीं। किन्तु इस कल्पना द्वारा उन्होंने प्राचीन भारत के पूरक भाषार-विचार, विभिन्न प्रजा-व्यवस्था, धर्म-कर्म तथा नस्ल वाले विविध वर्गों को एक विशाल समाज का घंग बसाकर उनमें सहरी सांस्कृतिक एकता का बीजारोपण किया, उनमें एकानुभूति की भावना उत्पन्न करके उन्हें एक सूत्र में पिरोया। सार्यों के सामने विविध जातियों का प्रश्न हल करने के तीन उपाय थे। पहला तो यह कि इन्हें विकास के लिए बिलगुल स्वतन्त्र छोड़ दिया जाता। इससे भारत की सांस्कृतिक एकता न बनने जाती। यूरोपीय राष्ट्रों की भाँति यहाँ भी जातीय विद्वेष से कलुषित रक्त-रहित भीषण गृह-युद्ध होने रहते। यूरोप में धर्म और संस्कृति की समानता होने से यूरोपियन एकता का आधार निश्चयान है, फिर भी वह मोड़ा राष्ट्रों का समूह-मान है। भारत की विभिन्न जातियों में एकता लाने का दूसरा उपाय शक्ति का प्रयोग, दमन और विरोधी तत्त्वों का उन्मूलन था। भारतीय विचारक स्वभावतः सहिष्णु थे, उन्हें यह जिसका उपाय पसन्द नहीं था। अतः उन्होंने ऐसा तीसरा उपाय ढूँढ़ा, जिसमें प्रत्येक वर्गों और व्यक्ति को पूरी वैयक्तिक स्वतन्त्रता देते हुए उसे किराट्ट समाज का घंग माना गया। शुरु में वर्ग-व्यवस्था का संगठन बहुत ही लचकीला था सब घपने को एक ही समाज का घंग मानते थे; अतः उनमें उग्र वर्ग-सघर्ष नहीं हुए। अतः एक ही शरीर के घंग हाथ, पैर और घेट सापन में कैसे भड़कते थे? इसमें कोई संदेह नहीं कि 'घपने सबी-कष्ट रूप में वर्ग-व्यवस्था एक विशाल देश में निवास करने वाले तथा विभिन्न विचार, विश्वास और नस्ल रखने वाले विविध वर्गों की एक सूत्र में पिरोने का सफलतम प्रयत्न था।'

जाति-पति की हानियाँ—किन्तु जब वर्ग-व्यवस्था ने कर्म-भूतक के स्थान पर जन्म-भूतक रूप धारण किया, उसमें पुराना लचकीलापन न रहा था वह घलतोलमता देश के लिए बरदान की अपेक्षा अभिशपण अधिक मिष्ट हुई। प्रारम्भ में यह सबकुछ कुल-व्यवस्था की। मध्यकाल में इसका प्रभाव कर्म हिन्दू-धर्म और समाज की रक्षा था। पुस्तकें साकनियों में इतने अवर्द्धित डाल का काम किया। भारत के अतिरिक्त

मिस्र, ईराक, ईरान आदि जिन देशों में इस्लाम गया, उसने सर्वत्र पुरानी जातियों और संस्कृतियों को धातनसात् करके उन्हें हजरत मुहम्मद का अनुयायी बना वाला, किन्तु भारत में उसे ऐसी सफलता नहीं मिली। इसका प्रधान कारण जाति-भेद की कठोर व्यवस्था थी। जाति-भेद का यह उन्मूलनतम पक्ष है कि उसने हिन्दू जाति को नष्ट होने से बचा लिया।

जाति-धर्म के दुष्परिणाम—किन्तु इसके साथ ही हमें जाति-धर्म द्वारा होने वाले दुष्परिणामों और हानियों से भी अपनी दृष्टि ओझल नहीं करनी चाहिए।

इसका पहला दुष्परिणाम हिन्दू जाति को निर्बल तथा राष्ट्रीय एकता को अशक्त बना देना है। हमने हिन्दू-समाज को तीन हजार हिस्सों में बाँटकर बिलकुल दुर्बल बना दिया है, यह जातीय एकता और संगठन के मामले में अबर्दस्त बाधा है। संयुक्तराज्य का एक बाह्यतम अंगने गाँव के किसान या चमार को अपेक्षा बिहार या बंगाल के हिन्दू से अधिक एकात्मकता और सहानुभूति रखता है। बिरादरियों और जातियों प्रायः अपने शत्रु संगठनों से ऊपर नहीं उठ सकती।

दूसरी हानि देश की धर्म प्रतिभा का उपयोग न होना तथा कला-कौशल का ह्रास है। जन्म-मूलक वर्ग-व्यवस्था में निचली जातियों के ऊपर उठने का कोई अवसर नहीं रहता, वे उठने का प्रयत्न ही नहीं करती। न जाने, इससे देश की कितनी प्रतिभा भूल में भिलसी रही है। दूसरे देशों में एक किसान का लड़का मारफील्ड समरसेका के राष्ट्रपति पद पर पहुँच सकता है, अपनी तूलिका द्वारा रैफल और साइकल एज्जलरी की पालि उच्चतम सम्मान पा सकता है, "निम्नतम शिल्पी अपनी प्रतिभा और अत्यवधान के बल पर वाद या स्टीक्मैन बन सकता है, किन्तु भारत में वह लड़ि की सौह शृङ्खलाओं से बंधा हुआ है।" इसलिए गुप्त युग के बाद मिलिषों ने कोई नया आविष्कार या कल्पना नहीं की, केवल पुरानी सीक ही पीढ़ते रहे। हाथ के कार्यों की वज से नीची जातियों का पैदा माना जाने लगा, हस्त-कौशल की अवनति होने लगी।

तीसरा दुष्परिणाम बृहत्तर भारत में सांस्कृतिक प्रसार के गौरवपूर्ण कार्य का अन्त था। जाति-धर्म ने विदेश तथा समुद्र-वाधा को पाप बना वाला। जिनके पूर्वजों ने विशाल महासागर पार करके दक्षिणपूर्वी एशिया की जंगली जातियों के बीच बैठकर और उनसे वैवाहिक सम्बन्ध करके भारत का सांस्कृतिक प्रसार किया था, वही अब अपने घर से निकलने में डरने लगे।

चौथा दुष्परिणाम दृष्टिकोण की संकीर्णता और मिथ्याभिमान था। मध्य युग में प्रत्येक जाति अपने को सर्वोच्च समझती थी; उसकी दृष्टि सदैव अपने हित-साधन की ही होती थी। अन्य जातियों को वह विरस्कार और घृणा की दृष्टि से देखती थी। मारहवी घाटी में अलमहेस्नी ने हिन्दुओं की संकीर्ण मनोवृत्ति का एक सुन्दर चित्र खींचते हुए लिखा था—“हिन्दुओं की सारी कटुता का धिकार विदेशी जातियों होती

हैं। वे उन्हें स्नेच्छ और घपविष कहते हैं। उनके साथ किसी प्रकार का विवाह या उल्टे-बैठने, बाने-पीने का कोई सम्बन्ध नहीं रखते, वे समझते हैं कि इससे वे भ्रष्ट हो जायेंगे।”

हिन्दुओं की इस संकीर्ण भवोपृति का योचनी परिणाम यह हुआ कि अन्य देशों से उनका सम्बन्ध-विच्छेद हो गया, वे दूसरे देशों के वैज्ञानिक संसार-रण-कला-सम्बन्धी शोधकार्यों और प्रगति से अपरिचित रहने लगे और मध्य युग में वे मुस्लिम आक्रमणों का शक्ति-प्रतिरोध नहीं कर सके। संकीर्णता ने न केवल उनके बौद्धिक विकास में ही बाधा डाली, किन्तु उनमें महत्वाकांक्षा और उत्साह बिलकुल समाप्त कर दिया। पहले वे शत्रुओं से पराभूत होने पर भी उन्हें अपने देश के बाहर भेजते देते थे, अब उनके बार-बार हमला करने पर भी उन्होंने उनके देश पर आक्रमण नहीं किया। कुमारगुप्त वक्षु (शामु) के तौर पर हूणों से लड़ा था, किन्तु पुम्बीराज के लिए मुहम्मद मोरी की राजधानी और पर आक्रमण करना अचिन्तनीय कल्पना थी। अपने देश के बाहर कदम रखते ही स्नेच्छों के सम्पर्क से जाति और धर्म भ्रष्ट होने का डर था।

जाति-भेद का छद्म दुष्परिणाम असुखता थी। उच्च जातियों ने वारधमिमान के कारण असुख जातियों का और उत्पीड़न किया, उन्हें मानवीय अधिकारों से वंचित रखा, उनके साथ भीषण दुर्व्यवहार किया। इससे उन्होंने अपनी जाति को ही मुक्तान पटु बनाया।

जाति-पात का सातवीं दुष्परिणाम अपनी को पराया बनाया गया अपनी जाति को लौं करना था। जिससे एक बार कोई भूल हो गई, वह हिन्दू समाज से भद्र के लिए बहिष्कृत कर दिया गया। विधवा प्रचारकों ने इसका पूरा लाभ उठाया, उच्च वर्णों से पीड़ित दलित जातियों को भुक्तभार और ईसाई बनाया। पहले इस देश में १०० प्रतिशत हिन्दू थे, बीसवीं शती में ६५ प्रतिशत हो रहे गए। इस धार्म-सन्तोष के लिए भले ही यह दावा करें कि भारत में हिन्दुओं की बहुसंख्या है, किन्तु यह बिलकुल थीवी और धान्त शर्कोषित है। “भारत में हिन्दू समाज भाष्य में बढ़ते हुए अल्पसंख्यक समुदायों का कोई ठीक इजाज जातियों और उग्रजातियों का—बो भव भोजन और विवाह के विषय में एक दूसरे को असुख समझती है—एक प्रतिक्षण विरोधमान डेर है। वर्तमान रूप में जाति-भेद के रहते हुए भारत में अच्छी राष्ट्रीय एकता, समानता और प्रजातन्त्र की भावना उत्पन्न नहीं हो सकती।”

स्त्रियों की स्थिति—गुप्त युग की भांति मध्य काल में भी उच्च कुलों की स्त्रियों की स्थिति अतोपजनक थी, किन्तु साधारण कुलों में उनकी दया निरन्तर प्रबल हो रही थी। कुलों परिवारों की स्त्रियाँ वैवाहिकन से वंचित होने पर भी लौकिक चाहित और देश का प्रच्छा धम्माम करती थी। हर्ष की बहम राज्यपरी की बौद्ध-सिद्धान्तों की शिक्षा देने के लिए दिवाकर मित्र नामक पंडित नियुक्त किया गया था। नरन मित्र की प्रकाण्ड विदुषी पत्नी ने दार्शनिक निरोमणि की शंकराचार्य की भी

निरस्तार कर दिया था। प्रसिद्ध कवि राजशेखर की पत्नी भवमिन्दरी भी प्रसिद्ध पंडिता थी। उसने प्राकृत कविता में प्रयुक्त होने वाले देशी शब्दों का कोश बनाया, इसमें प्रापेक्ष शब्द के प्रयोग के उसने स्वरचित उदाहरण दिये हैं। उस समय सरस्वती के क्षेत्र में नर-नारी की योग्यता मुख्य मानी जाती थी। राजशेखर के शब्दों में—
 “पुरुषों की तरह स्त्रियाँ भी कवि होती हैं। संस्कार की आत्मा में होता है, वह स्त्री या पुरुष के भेद की अपेक्षा नहीं करता। राजा भी और भजियों की पुत्रियाँ, वैशाख, कौतुकियों की स्त्रियाँ, शास्त्रों में विष्णुवादी और कर्मियों देखी जाती हैं।”
 इस समय की स्त्री संस्कृत-कवियों में कुछ के नाम ये हैं—इन्दुलेखा, माकला, मोरिका, बिज्जिका, दीप्ता, सुभद्रा, पद्मिनी, मदानसा और लक्ष्मी। स्त्रियों को गणित-जैसे विविध विषयों की भी शिक्षा दी जाती थी। भास्कराचार्य (बारहवीं शती का अन्तिम भाग) ने अपनी पुत्री लीलावती को गणित का सम्पूर्ण कराते के लिए लीलावती ग्रन्थ लिखा। स्त्रियों को सज्जित कलाओं की शिक्षा तो विशेष रूप से दी जाती थी। राज्यश्री को संगीत, नृत्य सिखाने का प्रयत्न किया गया था। हर्ष द्वारा लिखित ‘रत्नावली’ में रानी का भक्तिका (वृत्त) से रंगीत चित्र बनाने का वर्णन है, इसी नाटक में रानी को नृत्य, गीत, वाद्यदि के विषय में परामर्श देने वाली बताया गया है।

सज्जित कलाओं के प्रतिरिक्त, कुछ स्त्रियों ने उन समय शासन-प्रबन्ध तथा रण-कला-जैसे पुरुषोचित कार्यों में भी अपनी पटुता प्रदर्शित की। दक्षिण के पश्चिमी सीमांकी राजा विक्रमादित्य की बहन भक्तदेवी तीव्र प्रज्ञा की थी और राज-कार्य में प्रवीण थी, वह बार प्रदेशों की शासिका थी, एक अभिलेख में उल्लेख होता है कि उसने मौर्या (संस्कृत लि० केलाडि) के किले पर घेर रक्ता था। स्त्रियों में यही-उपा का व्यापक प्रकार नहीं था।

समाज में विधवाओं का विवाह जनी-जनैः बन्द हो रहा था। सत्यवती ने लिखा है कि एक स्त्री दूसरी बार विवाह नहीं कर सकती। विधवाएँ उस समय या तो तपस्विनी या-या जीवन-व्यतीत करती थीं या सती हो जाती थीं। गुप्त युग में स्त्री होने की केवल एक ही ऐतिहासिक घटना मिलती है, किन्तु इस युग में इसके अनेक उदाहरण हैं। हर्ष की माता यशोवती ने चित्तारीहण किया था, हर्ष की बहन राज्यश्री भी अग्नि में कूबने के लिए तैयार थी, किन्तु भाई ने उसे रोक लिया। इस काल के अन्तिम भाग में सती-प्रथा का प्रसार अधिक तेजी से होने लगा।

साधारण स्त्रियों की पराधीनता और परव्रजता इस काल में निरस्तार बढ़ती चली गई, सामन्त अधिकारों में विषमता आने लगी और नारी का दर्जा गिरता गया। राज-विवाह का प्रचलन और स्त्रियों की वैवाह्यवन का अधिकार न होने से दुर्गों के समान समझा जाना इस दुरवस्था के प्रधान कारण थे। इसी समय यह सिद्धान्त सर्वमान्य हुआ कि स्त्री सर्वत्र परतन्त्र रहनी चाहिए, उसे दुर्भीष और काम-वृत्त पीड़ की भी सेवा करनी चाहिए, मौर्यकाल में पति पत्नी की तीन बार से अधिक

हाम या खज्जी से नहीं पीठ सकता था। किन्तु अब यह चारपा प्रबल हुई—'कोल, गवार, सूद, गजु, तारी ; ये सब ताइन के अधिकारी ।'

२. साहित्य

इस समय संस्कृत साहित्य के समस्त सभी धर्मों की उल्लंघि हुई। अनेक प्रसिद्ध दार्शनिकों, कवियों तथा लेखकों ने इस काल को असंस्कृत किया, किन्तु दार्शनिकों में परमकीर्ति, शान्तराजित और संकर के बाद पहले की-सी मौलिकता और प्राकृषी समाप्त हो जाती है। नये विचार के स्थान पर ज्ञान की ज्ञान निकालने की प्रवृत्ति प्रबल होती है। कविता में बहुत सौन्दर्य की बजाय अलंकारों की कृत्रिम शैली प्रधान हो जाती है। कानून के क्षेत्र में नई स्मृतियों का निर्माण बन्द हो जाता है। इस काल में पहले तो स्मृतियों के भाष्य होते हैं और अन्त में पुराने धर्म-ग्रन्थों के आधार पर निबन्ध ग्रन्थ बनने लगते हैं। इस काल की एक प्रधान विशेषता प्राचीन भाषाओं के साहित्य का सम्युत्थान और विकास है।

काव्य—मध्यकाल में संस्कृत साहित्य के प्रायः सभी धर्मों—काव्य, नाटक, वस्तु (मन-न्यायत्मक काव्य), अलंकार शास्त्र, व्याकरण, कोष, दर्शन आदि का विकास हुआ। इस समय के काव्यों में भट्टि का 'राज्य-वर्ण' (छठी शती का उत्तरार्ध), माघ (लगभग १७५ ई०) का 'शिशुपालवध' तथा श्रीहर्ष का 'नैषधीय चरित' (बारहवीं शती का उत्तरार्ध) उल्लेखनीय हैं। इन सबने प्रायः भारवि द्वारा प्रवर्तित पद्धति का अनुसरण करके काव्य को रसमय बनाने की अपेक्षा उसे धार्मिक-से-धार्मिक अलंकारों से सिम्पित करने का यत्न किया है। अलंकृत शैली का चरम विकास श्रीहर्ष के काव्य में है, उसके एक-एक श्लोक में अनेकों अलंकार हैं तथा कई श्लोकों में अनेकापेक्षक शब्दों का इतना अधिक प्रयोग हुआ है कि एक ही पद के कई धर्म किये जा सकते हैं। इनके कथालोक प्रायः रामायण तथा महाभारत की कथाओं से लिए गए हैं। इस समय कुछ कवियों ने अपने प्राञ्जयदाताओं के चरित्र को रोकक, काव्यमयी भाषाओं में लिखकर उन्हें अमर करने का प्रयत्न किया तथा संस्कृत में ऐतिहासिक काव्यों की परम्परा डाली। इनमें पद्यगुप्ता परिभल (अन्त रचनाकाल १००५ ई०) का 'महाराष्ट्रक चरित' (राजा भोज के पिता शिशुपाल का चरित्र) और विष्णु का 'विजयानंदक चरित' (आनुनायक विजयानंद का १०७७-११२७ ई० का वर्णन), जयानक का 'गृध्रीराज-विजय' और हेमचन्द्र का 'कुमारपाल-चरित' प्रसिद्ध हैं। किन्तु सबसे प्रसिद्ध ऐतिहासिक काव्य कल्हण रचित 'राजतरंगिणी' है। इसकी रचना कारनोदी राजा जयसिंह (११२७-११४६ ई०) के समय में हुई, इसमें बारहवीं शती तक के काश्मीरी इतिहास का बड़ा सरस वर्णन है।

नाटक—मध्यकाल के प्रसिद्ध संस्कृत नाटक हैं—हर्ष की 'रत्नावली', 'प्रियदर्शिका' और 'नागानन्द', मट्टनारायण का 'विभीषणहर्ष', भवभूति (आठवीं शती का पूर्वार्ध) के 'उत्तर रामचरित', महावीर-चरित और 'मातंगी-मामक', मुद्ररि का 'अनर्थ दासक',

राजशेखर (नवीं श० का उत्तरार्ध), के 'बाल रामायण', 'बाल भारत', 'कर्पूर मञ्जरी'। इनमें भवभूति की कृति 'उत्तररामचरित' सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है।

संस्कृत के भुक्तक और गेय कालों की सर्वाधिक प्रसिद्ध रचनाएँ इसी युग की हैं। सात बार संन्यास और गृहस्थ के बीच में डोलने वाले भृगुहरि के शृङ्गार और वैराग्य कृतकों में दोनों जातों का सुन्दर चित्रण है और नीतिशास्त्र में नीति-विषयक उत्तरों का उदात्त बरतण है। शृङ्गार रस का सर्वश्रेष्ठ मुक्तक 'प्रमदक-शतक' है। इसका एक-एक पद्य संस्कृत साहित्य का चमकीला हीरा है। ग्यारहवीं शती में महाकवि जयदेव ने कोमल कान्त पदावली में 'गीत-गीतिका' की रचना की।

यद्यपि—संस्कृत में पद्य की अपेक्षा गद्य बहुत कम लिखा गया। सबसे बड़े गद्य-लेखक 'वासुदेवता' के प्रणीता मृचमु, 'कादम्बरी' और 'हर्ष-चरित' के रचयिता बाण (सातवीं शती) और 'दशकुमार-चरित' के लेखक इषी (सातवीं शती का उत्तरार्ध) हैं। इषी पद-नामित्य की तथा बाणमट्ट बरतण-कोशल की दृष्टि से अनुपम हैं। गद्य-व्यक्तिवित रचना चम्पू कहलाती है। चम्पुओं में विविध भट्ट (दसवीं शती का प्रारम्भ) का 'नलचम्पू' सर्वश्रेष्ठ है।

मध्ययुग में अन्तर्कार-शास्त्र के विकास द्वारा काव्य के विभिन्न भागों-रस, ध्वनि, गुण, दोष और अलंकारों का सूक्ष्म विश्लेषण किया गया। इसके पहले आचार्य भामह छठी शती के मध्य में हुए, इन्होंने इसके मौलिक सिद्धान्तों का 'काव्यालंकार' में सुस्पष्ट प्रतिपादन किया। उनके बाद इषी, वासत (आठवीं शती का अन्तिम भाग); आनन्दवर्धन (नवीं शती), अभिनव गूढ, सम्प्रदा आदि विद्वानों ने इस शास्त्र को प्रौढ़ता तक पहुँचाया।

इस युग में कथा-साहित्य भी काफी लिखा गया। पहली या दूसरी श० ई० में गुणार्जुन ने 'बृहत्कथा' लिखी थी। यह सुन्य हो चुकी है, इसके आधार पर ग्यारहवीं शती में जैमिन्द ने 'बृहत्कथा-मञ्जरी' तथा सोमदेव ने 'कथा-सरित्सागर' लिखा। विद्वत्ता अन्य बहुत बड़ा है और आकार में महाभारत का चतुर्थांश है। इस प्रकार के अन्य ग्रन्थ 'विज्ञान-धर्म-विज्ञान', 'विज्ञान-दान-विज्ञान' और 'शूद्र-संज्ञान' हैं।

धर्मशास्त्र के क्षेत्र में इस काल में नई स्मृतियों का निर्माण बन्द हो गया, पुरानी स्मृतियों पर टीकाएँ और भाष्य लिखे गए। 'मनुस्मृति' की पहली और प्रसिद्ध टीकाएँ मेघातिथि (नवीं श०) और गोविन्दराज (ग्यारहवीं श०) ने लिखी। विज्ञानेश्वर की 'साधनसूत्र-स्मृति' की प्रसिद्ध व्याख्या 'मिताक्षरा' भी ग्यारहवीं शती की रचना है। कर्त्तव्य-हिन्दू कानून का यह प्रधान आधार है। बारहवीं शती से पुराने धर्मशास्त्रों के आधार पर निबन्ध-ग्रन्थ लिखे जाने लगे। इस प्रकार का पहला ग्रन्थ अमीन के राजा गोविन्दचन्द्र (१११४-४५) के संतो जगदीश्वर का बरामा हुआ 'कृत्यमालावत' था।

इस काल के दार्शनिक साहित्य का परिचय पहले दिया जा चुका है। व्याकरण में जयशित्य और वायस ने ६६२ ई० के लगभग पाणिनीय सूत्रों पर 'काशिका-वृत्ति' के नाम से भाष्य लिखा। भर्तृहरि ने 'वाक्यपदीय', 'महामाध्य-दीपिका' और 'महामाध्य त्रिपदी' नामक ग्रन्थों की रचना की। साहित्य में विष्णु शन्ध व्याकरणों में इस काल में सर्वप्रथम का 'वाल्मीकि' बड़ा लोकप्रिय था। बृहत्तर भारत में मध्य एशिया से आने तक इसकी पुरानी पोखियाँ मिली हैं। जैन भाषा में हेमचन्द्र ने अपनी तथा अपने शिष्य-दादा नरेम सिद्धराज की स्मृति सुरक्षित रखने की दृष्टि से 'सिद्धहेम' नामक प्रसिद्ध व्याकरण का निर्माण किया। संस्कृत कोषों में 'धम्म कोष' इतना लोकप्रिय हुआ कि इस पर ५० के लगभग टीकाएँ लिखी गईं। इनमें १०५० ई० के लगभग होने वाले औरस्वामी की टीका सर्वप्रथम प्रसिद्ध है। मुद्रपोतमदेव ने 'धम्म कोष' के परिशिष्ट रूप में 'विकाराष्ट्र शेष' की रचना की, हारासमी में नवे कठिन शब्दों का अर्थ दिया गया। ग्रन्थ कोषों में हेमचन्द्र का 'धम्मिधान चिन्तामणि', 'धर्मेकार्य संग्रह', वादव का 'वैजयन्ती', हनुमन्त का 'धम्मिधान रत्नमाला' उल्लेखनीय हैं। राजनीति शास्त्र में इस काल की प्रसिद्ध रचना 'शुक्र नीति' है। कामशास्त्र में कालिदास के 'कामसूत्र' पर टीकाएँ लिखी गईं, इस विषय के स्वतन्त्र ग्रन्थ कोका पंडित का 'कोकशास्त्र' और बौद्ध पण्डितों का 'तामर सर्वस्व' है। संगीत का प्रसिद्ध ग्रन्थ बाह्यदेवकृत (१५वीं श०) 'संगीत रत्नाकर' है। ज्ञान तथा कला की संबंधतः कोई शाखा ऐसी नहीं थी, जिस पर संस्कृत में ग्रन्थ न लिखे गए हों। यहाँ तक कि कोरी की कला पर भी साहित्य था। दुर्भाग्यवश, प्राचीन साहित्य का बहुत बड़ा हिस्सा लुप्त हो चुका है।

प्राकृत साहित्य—संस्कृत बाह्यमय की भांति इस काल में प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य की भी बड़ी उन्नति हुई। प्राकृतों का विकास-काल पहलों से छठी श० ई० तथा प्रथमशतक का उन्नति युग ६००-१००० ई० समझा जाता है। वैदिक भाषा के वन-साधारण में प्रचलित रूप के अवान्तर मेंवी की दृष्टि से, पहले प्राकृतों का जन्म हुआ और बाद में अधिक अन्तर बढ़ने पर अपभ्रंशों का। यही प्रथमशतक आधुनिक भारतीय भाषाभाषाओं—हिन्दी, मराठी, गुजराती, बंगला आदि का पूर्व रूप है। प्रधान प्राकृतें मागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री और पंचाशी हैं। इनमें साहित्यिक दृष्टि से महाराष्ट्री सर्वश्रेष्ठ है। इसी में सातवाहन राजा ह्यल की 'भाषा गल्पशतौ' है। यैनों ने इसका बहुत विकास किया। मागधी और शौरसेनी के मिथिल ग्रंथमागधी में उनके प्राचीन भागम ग्रन्थ हैं। नातवी शती में अपभ्रंशों का प्रयोग प्रारम्भ हुआ। पुरानी हिन्दी इसी से निकली है। इसमें दोहा प्रधान छन्द है। इस भाषा का सबसे प्रसिद्ध और कुल्लु ग्रन्थ दसवीं श० ई० में शनपाल द्वारा लिखा 'भक्तिसप्तकह' है। प्राकृत साहित्य का विकास होने पर इनके अनेक प्रामाणिक व्याकरण और कोष लिखे गए।

बलिषी भाषाएँ—दक्षिण की प्रधान भाषाएँ—तामिल, केतल और कन्नड में इस युग में काफी साहित्य बचने लगा था। तामिल का साहित्य जो ईसा की पहली

ष० से बनते लगा था। इसका साक्ष्य मध्ययुग में उल्लेख हो चुका है। मलय-युग में इसकी प्रसिद्धतम रचना कम्बन कृत 'रामायणम्' थी। तैलपूर में सोमकी राजा मलय-राज ने तानिममट्ट से महाभारत का अनुवाद कराया। इन सब भाषाओं पर संस्कृत का गहरा प्रभाव है।

३. वैज्ञानिक उन्नति

इस समय ज्योतिष, आयुर्वेद आदि सभी विद्याओं का साहित्य विकसित हुआ; किन्तु उसमें सर्वोच्च अनुसन्धान और मौलिकता का ह्रास हो गया। इस काल के प्रधान ज्योतिषी ब्रह्मगुप्त और भास्कराचार्य थे। ब्रह्मगुप्त ने ६२८ ई० के आस-पास 'ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त' और 'खण्डखाद्य' ग्रन्थों में प्रायः प्राचीन साधार्यों के सिद्धान्तों का समर्थन किया। भास्कराचार्य (जन्म-काल १११४ ई०) ने 'सिद्धान्त शिरोमणि' के पहले दो भागों—'लीलावती' तथा 'बीजगणित' में गणित-विषयक तथा 'ब्रह्मगणिताभ्यास' और 'सोलाह्याय' में ज्योतिष-सम्बन्धी नियमों का प्रतिपादन किया। इसमें उसने पृथ्वी के घोल होने तथा उसकी आकर्षण-शक्ति के सिद्धान्तों की बड़ी सुन्दर व्याख्या की है। इसी काल में भारतीय ज्योतिषियों की खगोलाज्ञान-शक्ति और धलधाम्युन ने बगवाद में कुलापा, उनके ग्रन्थों का धरती अनुवाद कराया। धरती द्वारा भारतीय ज्योतिष का ज्ञान यूरोप पहुँचा। गणित के सभी क्षेत्रों में भास्कराचार्य ने अपने पूर्ण निरिष्ट ग्रन्थ में पुराने साधार्यों के सिद्धान्त दिए हैं। त्रिकोणमिति का इस समय अच्छा विकास हुआ था। भारतीयों ने ज्या और उत्क्रम ज्या की सारनियाँ बना ली थीं। गणित में स्फुटन (१२४२-१७२७) ने पाँच शती बाद जिस गुरुत्वाकर्षण नियम का और चलन गणित का आविष्कार किया, भास्कराचार्य पाँच शती पहले भारत में उसकी खोज कर चुके थे। इनकी राशियों की रचना गूगल ज्योतिषी आर्किमिडिस से अधिक शुद्ध है, प्रष्ट की खण्डिक गति के हिमाक्ष में उन्होंने एक सैकण्ड के २३७५ वें भाग की गति का भी उल्लेख किया है।

आयुर्वेद—मध्य काल में आयुर्वेद के कई प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखे गए। चाग्मट्ट ने ८०० ई० के लगभग 'अष्टांगहृदय' और भास्कर ने 'माधव निदान' लिखे। 'माधव निदान' में रोगों के निदान अर्थात् उत्पत्ति-कारणों पर विचार के विचार है। १०६० ई० में बंगाल के जलधामिदल ने बरन, मुद्रा पर टीकाओं के अतिरिक्त 'चिकित्सा-सार-संग्रह' की रचना की। १२०० ई० के लगभग 'माहू' परसंहिता' लिखी गई। इसमें अजीर्ण, पाच आदि बीषधियों के रोगों के अतिरिक्त सादी-विज्ञान के भी विवरण दिए गए हैं। जनसन्धि-शास्त्र के कोषों में 'अष्ट-वर्दीय' और 'सिध्द' प्रसिद्ध हैं। हमारे यहाँ खरीर और आर्यविद्या काही उद्भव थी। प्राचीन भारतीय दृष्टिमान रोगों के बताने, लगाने तथा कुष्ठिमा नाक की बनावट जोड़ने की कला भी जानते थे, भीतिषा विन्द की आधरेपन से दूर करते थे। पयरी, मन्थशुद्धि (हनिषा), अतंवर, नाडी-वर्ण एवं अर्ध की टीक कर देते थे। रोगों के रोगों के गुरुत्व-विमूर्धन आधरेपन, मन्थ-विद्या द्वारा गर्भ-विमोचन की विधि भी उन्हें सुपरिचित थी। खगोला धलधाम्युन

ने आठवीं शती में भारत के कई वैदिक ग्रन्थों का शरबी अनुवाद कराया था। हाफे रघोद में समेक भारतीय वैदिक बमबाद बुलाये। शरबी द्वारा भारतीय आयुर्वेद यूरोप पहुँचा।

विश्व में सर्वप्रथम चिकित्सालय सम्भवतः भारत ही में बने। यूरोप में इसकी श० में पहले औपचारिक की स्थापना हुई, किन्तु भारत में इनका सर्वप्रथम उल्लेख तीसरी श० ई० पु० के ग्रन्थों के अभिलेखों में है, पाँचवीं श० में 'काहिमाय' तथा सातवीं श० में मुद्रास-स्वर्ग में पाटलिपुत्र, तथाशिला और मधुरा आदि की धृष्ण-ज्ञानार्थों का उल्लेख किया है, जहाँ निर्धनों तथा विधवाओं की भोजन और घर के अतिरिक्त मुक्त औषधि भी दी जाती थी।

धनु-चिकित्सा भी कम उन्नत नहीं की। हाथियों और घोड़ों की सगर की दृष्टि से बड़ी महत्ता थी। अतः इन पर संस्कृत साहित्य में बहुत ग्रन्थ बने। इनमें निम्न उल्लेखनीय हैं—'पाशकाय' की 'गज-चिकित्सा', 'गजामुर्वेद', 'गज दर्पण', 'गज परीक्षा', 'गज लक्षण'; जयदत्त-कृत 'अश्व-चिकित्सा'; नकुल का 'शालिहोत्रशास्त्र'; अजयतन्त्रमण-रचित 'अश्वामुर्वेद', 'अश्वलक्षण', 'हम जीवावती'। इनमें अधिकांश सुष्ठु ही बूके हैं, दूसरे ग्रन्थों में उद्धृत वाक्यों से ही इनका ज्ञान होता है। धनु-विज्ञान तथा कुम्भ-शास्त्र का प्राचीन ग्रन्थों में सूक्ष्म-वर्णन है। बंन पण्डित हंसदेव के 'मृग-पञ्चशास्त्र' में सिंह आदि पशुओं तथा शारस, उल्लु, तोता आदि पक्षियों का विस्तृत विवरण है।

इस समय विभिन्न उपयोगी शिल्पों—वास्तु, मूर्ति, हथि, रत्न-परीक्षा, धातु-विज्ञान पर बहुत पुस्तकें लिखी गईं। भूमि-मापन के सम्बन्ध में 'क्षेत्रपण्डित शास्त्र' उपलब्ध होता है और नौ-निर्माण पर 'नौ-शास्त्र' आदि ग्रन्थ मिलते हैं। इन प्रकार के साहित्य में 'मयकिल्प', राजा भोज-कृत 'समसंगण सूत्रधार' और 'मुनिकलासक' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

वैज्ञानिक अवलोकन के कारण—किन्तु हमारे पूर्वजों की यह उन्नति धीरे धीरे जारी नहीं रही, मध्यकाल में हमारा सांस्कृतिक अवनत हो गया। इसके दो प्रधान कारण थे। पहला कारण धार्मिक प्रभाव की अत्यधिक शक्ति थी। पहले यह कहा जा चुका है कि गुप्ता युग तक भारतीय जीवन में एक और धर्म तथा भीम तथा दूसरी और काम और धर्म में संतुलन और सामंजस्य था। मध्यकाल में धर्म का प्रकाश मारी होने लगा। इसका पहला परिणाम हो यह हुआ कि हमारे सामाजिक विषयों की धार्मिक धार्मिक विषयों की अधिक महत्त्व देना शुरू किया, लौकिक एवं वैज्ञानिक विषयों का अध्ययन उपेक्षित होने से उनकी प्रगति अवरुद्ध होने लगी। धर्म की अत्यधिक प्रशंसा का दूसरा परिणाम यह हुआ कि धर्म-प्रवर्तकों की धर्म प्रमाण माना जाने लगा। इससे स्वतन्त्र चिन्तन तथा अन्वेषण की प्रवृत्ति समाप्त हो गई। वैज्ञानिक विषयों में भी पुराने प्रमाण माने जाने लगे। जनता उनमें अन्ध-विश्वास और बड़ा रखाती थी। भारतीय वैज्ञानिकों ने लोकप्रियता प्राप्त करने के लिए इन सिद्धान्तों

को गलत होते हुए भी स्वीकार किया और इससे स्वाधीन तर्क और अनुसन्धान समाप्त हो गए। एक उदाहरण से यह बात भर्त्सनीय भाँति स्पष्ट हो जायेगी। पुराणों के वर्णनानुसार सूर्य-ग्रहण और चन्द्र-ग्रहण का कारण राहु और केतु है। किन्तु ज्योतिषी यह मानते हैं कि पृथ्वी की छाया पड़ने से ये ग्रहण होते हैं। पुराने भारतीय ज्योतिषियों को यह अच्छी तरह भाद था कि इनका वास्तविक कारण छाया है, राहु द्वारा बना जाना नहीं। किन्तु वे अपने को इस लोक-प्रचलित पुराणानुमोदित धार्मिक धारणा का सख्तन करने में समर्थ पाते थे। यदि इतना ही होता तो भी गनीमत थी, किन्तु कुछ ज्योतिषियों ने लोकप्रियता प्राप्त करने के लिए सुलभ-मूलता यह कहना शुरू किया कि वास्तवों में कहीं बात भट्ठी नहीं हो सकती। अतः वैज्ञानिकों की पृथ्वी की छाया वाली बात गलत है। ब्रह्मगुप्त ने ब्रह्मसिद्धान्त में इन व्यक्तियों की भर्त्सना की है जो ग्रहण का कारण राहु को नहीं मानते। उसकी मुख्य बुद्धि यह है कि वेद और स्मृति की बात कंठे मिथ्या हो सकती है। यूरोप में जब तक बादर्शन की वैज्ञानिक विधियों ने प्रामाणिक माना जाता रहा, विज्ञान की उन्नति नहीं हो सकी। भारत में जिस समय से वास्तव-प्रामाण्य का प्राधान्य हुआ, स्वतन्त्र वैज्ञानिक अनुसंधान बन्द हो गया। इससे न केवल विज्ञान किन्तु धर्म सभी क्षेत्रों में सातक प्रभाव डाला। पुराने ग्रन्थ और भाषाओं मुख्य समझे गए, सारी प्रतिभा और विद्वत्ता उनकी रचनाओं के भाष्य और वृत्ति बनाने में व्यय की जाने लगी। ८०० ई० के लगभग कादसीरी दार्शनिक जगन्नाथ भट्ट ने इस युग की भावना का परिचय देते हुए ठीक ही लिखा था—“हममें तर्क वस्तु की कल्पना करने की शक्ति कहाँ है।” सांस्कृतिक ह्रास का दूसरा बड़ा कारण संकीर्ण मनोवृत्ति का प्रबल होना था। पुराने जमाने में भारतीय दूसरे देशों से उपयोगी कलाएँ और विज्ञान ग्रहण करने में कोई संकोच नहीं करते थे। भारतीय कला और ज्योतिष ग्रीकों प्रभाव से समृद्ध हुई थी। पिछले शताब्दी में इस विषय में बराहमिहिर का एक वाक्य उद्धृत किया जा चुका है कि यद्यपि ग्रीकों से अच्छे हैं किन्तु ज्योतिषी होने के कारण बादरणीय हैं। सलवेस्की के समय भारतीयों में संकीर्ण मनोवृत्ति तथा भ्रम्याभिमान बहुत बड़ चुके थे। वे समझते थे कि उन-जैसे कोई देश नहीं, उन-जैसे कोई जाति नहीं, उनके प्रतिनिधत् किसी जाति को विज्ञान का कुछ भी ज्ञान नहीं है। उनका अभिमान इतना अधिक है कि यदि धार्य उनसे पुरातन या फारस के किसी विज्ञान या विद्या का उल्लेख करेंगे तो वे साक्ष्यों प्रस्तुतों और मुँठा दोनों समझेंगे। सलवेस्की इसका प्रधान कारण भारतीयों का दूसरी जातियों से न भिन्नता-ज्ञानता और विदेश-भाषा न करना समझता है। पापों का प्रवाह स्कन्दे पर उसमें सहीद पैदा हो जाती है, भारतीय विचार में भी जब प्रगतिशीलता न रही, विकार वाला शुरू हुआ तब २,००० वर्ष की किमानीयता के बाद स्वाभाविक तत्त्व, वास्तव-प्रामाण्य और संकीर्णता से उत्तम ज्ञान धारण अना और सांस्कृतिक अपकर्ष प्रारम्भ हुआ।

इसी समय भारत में इसलाम का प्रवेश हुआ, उसके सम्पर्क और संघर्ष से भारतीय संस्कृति में जो परिवर्तन हुए, उनका समस्त प्रभाव में वर्णन होता।

इस्लाम और हिन्दू धर्म का सम्पर्क तथा उसके प्रभाव

इस्लाम का उदय—सातवीं शती ई० में अरब प्रायद्वीप में एक नये धर्म और नई शक्ति का भस्मस्थान हुआ। उस समय तक अरब की मरुभूमि माना देवी-देवताओं के उपासक, सामाजिक कुरीतियों से दूरे हुए, सदा परस्पर लड़ते-झगड़ते वाले जंगली सरबों और व्यापारियों का देश था। हजरत मुहम्मद (५७०-६३२ ई०) ने उसमें एक निराकार ईश्वर (अल्लाह) की पूजा का प्रचार किया, बालिका-वध, ब्रूत तथा मदिरा-सेवन आदि बुराइयों तथा हानिकारक रुढ़ियों का अन्तन किया। उनके उपदेशों ने अरबों में नवजीवन का संचार किया। शीघ्र ही समूचा अरब जगत् उनके नेतृत्व में संगठित हो गया। ७५० ई० तक पूर्व में मध्य एशिया की पामीर पर्वत-माला और सिन्ध से पश्चिम में पिरेनीय पर्वत-माला (प्रायः) और स्पेन तक के विशाल भू-खण्ड में इस्लाम की विजय-वैजयन्ती फहराने लगी।

भारत में इस्लाम के प्रचार के ढंग

(१) अरब व्यापारी—इस्लाम की विश्व-व्यापी सहर छोड़ ही सोमान्ती से भारत में प्रवेश करने लगी। इस देश में इनका प्रचार दो ढंग से हुआ, मान्तिपूर्वक और शक्तिपूर्वक। प्रथम तरीके से प्रचार करने वाले अरब व्यापारी, मुस्लिम पत्नीर और दरवेश थे। दूसरे के माध्यम से—अरब, तुर्क और मुगल शासकता। प्रायः यह समझा जाता है कि इस्लाम तत्त्वार के जोर से फैला, किन्तु यह बात सर्वथा में सत्य नहीं है। भारत में सर्वप्रथम इसका प्रसार मान्तिपूर्वक ही हुआ। अरबों और भारतीयों का सम्बन्ध हजरत मुहम्मद के जन्म से पहले कई सदियों से जाता आता था। वे नाविकों तथा व्यापारियों के रूप में भारत के पूर्वी तथा पश्चिमी तटों के बन्दरगाहों पर आते थे। विशेषतः पश्चिमी तट पर चीन, कल्याण और गुजरात तथा मलाबार में इनकी धनेक बस्तियाँ थीं। इस्लाम के प्रचार के बाद ये कट्टर मुसलमान होकर भारत आने लगे। इनमें से धनेक अरब व्यापारी भारत में ही बस जाते थे, भारतीय निवासों से घाड़ी कर लेते थे। इन्हीं की सन्तान कोकण की मटिया और मलाबार की मोपला जातिर्षा है। उस समय के पश्चिमी तट के हिन्दू शासकों की विशेषतः सीराट्ट के बलभी वंश और काजीकट के जमोरिणों की नीति इन व्यापारियों

को अपने राज्य में पूरा प्रोत्साहन देने लगी थी, क्योंकि इनसे उनके राज्यों को बड़ी लाभ थी। बल्लबी के राजाओं ने इन्हें अपने राज्य में न केवल मस्जिदें बनाने की अनुमति दी अपितु स्वयं भी इनके लिए मस्जिदें बनवाई। मलाबार के राजाओं ने इन्हें अपने राज्य में बड़ी रियासतें और जमीनें दे दीं। एक राजा ने तो यहाँ तक साज्जा के दी कि हर हिन्दू मस्जिद के घर कम-से-कम एक लड़के को बचपन से ही मुसलमानों की तरह शिक्षा दी जाय। इन कारणों से दक्षिण में इस्लाम का प्रचार तेजी से होते लगा।

(२) मुस्लिम फकीर—शान्तिपूर्वक धर्म-प्रचार में सबसे अधिक महत्व और सफलता मुस्लिम फकीरों तथा दरवेशों को मिली। ग्यारहवीं शती से इनका कार्य शुरू हुआ। इन फकीरों की पीढ़ पर कोई राजनैतिक व्यक्ति न थी। इन्होंने अपने उपदेशों तथा भक्तियों से ही हिन्दू जनता को मुस्लिम बनाया। ग्यारहवीं शती में शेख इस्माइल और अब्दुल्ला बननी भारत आए। बारहवीं शती के प्रारम्भ में मुर सत्तागर ईरानी ने गुजरात की नीच जातियों को मुसलमान बनाया। तेरहवीं शती के प्रसिद्ध फकीर जलानुद्दीन बुखारी, सैयद बहमद खोर, खाना मुईनुद्दीन चिश्ती थे। इनकी शिष्य-परम्परा में फरीदुद्दीन, निजामुद्दीन औलिया (तेरहवीं-बीसवीं शती), खाना कुतुबुद्दीन, शेख अल्लाउद्दीन दखी, बहमद साबिर पिरानकसिपर जैसे प्रसिद्ध हैं। इन्हें हिन्दुओं की संकीर्ण जाति-प्रथा के कारण बहिष्कृत और पदोन्नत व्यक्तिओं और नीच जातियों को मुसलमान बनाने में काफी सफलता मिली।

(३) असपूर्वक प्रचार—असपूर्वक इस्लाम-प्रचार का कार्य मुस्लिम शासकगणों ने किया। पहला शासक ७१२ ई० में मुहम्मद बिन कासिम ने सिन्ध पर किया। इसके तीन सौ वर्ष बाद ग्यारहवीं शती में महमूद गजनवी ने १७ बार हमले किए। इनके दो सौ वर्ष बाद सहाबुद्दीन खोरी ने वृष्णीराज को हराया (११६२ ई०)। सहाबुद्दीन के भ्रातापति कुतुबुद्दीन ने दिल्ली में मुस्लिम शासन की स्थापी नीब डाली (१२०६ ई०)। १४२९ ई० तक दिल्ली पर तुर्कों और बादशाह मुल्काओं का शासन रहा और इनके बाद दो सौ वर्ष तक मुगलों का। इन काल में फीरोज शाह तुगलक (१३५१-८८ ई०), सिकन्दर लोदी (१४८८-१४९७ ई०), काश्मीर के सिकन्दर (१५६४-१५८६ ई०) तथा औरंगजेब (१६५८-१७०७ ई०) आदि बादशाहों ने इस्लाम के प्रचार के लिए राजमार्ग का यत्न प्रारंभ किया।

एक अनुपूर्वक प्रचार—किन्तु मुस्लिमों के काल तक मुस्लिम-शासन द्वारा प्रचित-प्रचार तथा शान्तिपूर्वक प्रचार से भी इस्लाम को उन्नेसवीं सफलता नहीं मिली। हिन्दू-धर्म और इस्लाम के सम्पर्क से दोनों के इतिहास में एक नवीन तथा अनुपूर्व पटना हुई। इस्लाम ने पहले भारत पर मजबूत, शक्ति, हथकड़ी आदि अनेक जातियों के आक्रमण हुए थे। हिन्दू-धर्म और हिन्दू-समाज ने इन जातियों को आरम्भवात् कर लिया था। किन्तु मुसलमान ही ऐसी पहली आक्रमणवादी जाति थी जो हिन्दू जाति का धर्म

वन नहीं। दूसरी ओर इस्लाम भारत में आने से पूर्व जिन देशों में गया वहाँ उसे विलक्षण संकलता मिली थी। उन देशों की समृद्धी जनता को उसने अपने रंग में रंग लिया। ईरान की पारसी, सिन्ध की यूनानी सम्प्रदायों का स्थान धरम संस्कृति, अरबी भाषा और इस्लाम ने ग्रहण कर लिया। किन्तु भारत में इस्लाम कई श्राद्धों तक प्रभाव डालने के बाद भी बहुत छोटे भाग की ही तुल्य मुहम्मद का अनुयायी बना सका। हिन्दू-धर्म और इस्लाम दोनों के एक दूसरे को अपने रंग में न रंग सकने के दो प्रमुख कारण थे—(१) इस्लाम का कट्टर एकेस्वरवाद (२) हिन्दू धर्म की पावन-पावित की दीप्ति।

इस्लाम का एकेस्वरवाद—भारत में आने वाले मुस्लिम विजेता एक बात में अपने पूर्वजों सभी आकांक्षाओं से भिन्न थे। एक, हुषाण और हूण आदि जातियों का अपना कोई विशिष्ट धर्म नहीं था। किन्तु मुसलमान ने केवल एक कट्टर एकेस्वर-वादी धर्म अपने साथ लेकर आये, अपितु उनमें अपने धर्म को फैलाने की लगन और जोर भी था। बुनपरस्तों से जहाँ उन्हें और पुजा थी, वहाँ वे कुतुबिकन होने में गर्व भी अनुभव करते थे। हिन्दू समाज को इसमें कोई आपत्ति न थी कि उनके तीर्थतट करोड़ देशों में अस्साह की भी स्थापित कर दिया जाय, उन्होंने अल्लोपनिषद् की भी रचना कर वाली; किन्तु मुसलमानों का अस्साह भावरीक या और शिरकत (अस्साह के साथ अन्य देवताओं को सम्मिश्रित करना) इस्लाम की नजर में सबसे बड़ा दुक था। अतः इस्लाम के अनुयायी हिन्दू-धर्म में किलीन होने को तैयार न थे।

यदि वह किसी तरह सम्भव होता तो भी हिन्दू-धर्म इस्लाम को न पचा जाता। उसमें प्राचीन काल में दूसरी को निगलने, हवन करने, अपने रक्त, भास, मन्त्रों में मिश्रित करने तथा अपना धर्म बना देने की जो विलक्षण शक्ति थी वह मुसलमानों के धामभक्त काल तक बहुत मन्द हो चुकी थी। जाति-भेद की कठोरता के हमारी जाति की यह पुरानी विशेषता लुप्तप्राय हो रही थी। इसका परिणाम यह हुआ कि जिन राजवंशों के पूर्वज पहले एक पीढ़ी में ही बाहरी जातियों को अपना धर्म बना लेते थे, वे अब मोरारों के स्वर्ण-भाष से चराने लगे। विदेश-भाषा में उनका धर्म लुप्त होने लगा। जब उपर्युक्त हिन्दू अपने ही समाज के निम्न वर्गों से भी अलग रहने लगे तब वे विदेशी मुसलमानों की निम्न तरह अपने में मिला सकते थे ?

फिर भी हिन्दू धर्म और इस्लाम का जो सम्पर्क हुआ उसका बड़ा महत्व है। इस प्रकार की दो विरोधी संस्कृतियों का सम्पर्क न केवल भारतीय, अपितु विश्व-इतिहास की एक विलक्षण घटना थी। सर जॉन माथेन ने ठीक ही निगा है कि "मानव जाति के इतिहास में ऐसा दुर्घट कभी नहीं देखा गया जब इतनी विद्या, इतनी सुविकसित और साध हो मौलिक रूप से इतनी विभिन्न सम्प्रदायों का सम्मिलन और सम्मिश्रण हुआ हो। इन संस्कृतियों और धर्मों के मिलन विवेक उनके सम्पर्क के इतिहास को विशेष शिक्षाप्रद बनाते हैं।"

सम्मिलन की प्रवृत्ति—वहनि दोनों धर्म एक दूसरे के कट्टर विरोधी थे, दोनों में उप राजनीतिक संघर्ष और भयंकर युद्ध हुए; लेकिन इनके बावजूद हम जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में दोनों को एक दूसरे के पास घाते हुए, मिलने के लिए धागे बड़े हुए पाते हैं। साधारण जीवन के सभी पहलुओं में सामंजस्य, सम्मिश्रण, सहयोग, सामीप्य, पारस्परिक प्रेम, सामञ्जस्य और समन्वय की संयोजकालिनी प्रवृत्तियों के वर्णन होते हैं। इस्लाम का शरीफवाद बेदना से प्रेरणा प्राप्त करता है, हिन्दू धर्म के सुधार-धार्मिकता इसलाम की समानता और भातृत्व की भावना से प्रभावित होते हैं। सर्व-साधारण जनता में ऐसे पन्नों की पूजा शुरू होती है जिनमें हिन्दू-मुस्लिम का भेद नहीं रहता। एक और अवधारणा यदि धिक्कृत पड़ते हैं, तो दूसरी और राय भाग्यमूलक जैसे हिन्दू फारसी में मुस्लिम साहित्य की परम्पराओं पर प्रकाश डालते हैं। खमीर सुनारी और रसखाना यदि हिन्दी में कविताएँ लिखते हैं और हिन्दू फारसी में। दो समताओं के सम्पर्क में वास्तु, चित्र, संगीत कलाओं में नई शैलियों का आविर्भाव हुआ, जिनके मूल तत्व तो भारतीय थे किन्तु बाह्य आकार ईरानी। मुगल वादशाहों ने हिन्दुओं के तुलादास आदि रिवाज ग्रहण किये, हिन्दू सरदारों ने फारसी भाषा, मुस्लिम रहन-सहन, पोशाक और पहनाका संगीकार किया। राजनीतिक क्षेत्र में दोनों एक दूसरे के कट्टर विरोधी थे। किन्तु, मुस्लिम वास्तव हिन्दुओं के सहयोग के बिना नहीं चल सकता था, इसलिए इस समूह धुग ने मुस्लिम शासक हिन्दुओं को उच्च पदों पर भी रखे थे। गोकुण्डा के सुल्तानों का शासन हिन्दू मन्त्रियों पर निर्भर था, बंगाल में हुसैनशाह (१४६३-१५१६ ई०) ने लख, सनातन और गुरुवर आदि हिन्दू पकड़ने नियुक्त किये। मालवा के शासक अलाउद्दीन साह द्वितीय ने पहले अलना भर्षी बलन्तराय को बनाया और पीछे इस पद पर मेदिनी राय को नियुक्त किया। बीजपुर के बुरुग आदिलशाह के राज्य में अनेक हिन्दू उच्च पदों पर थे। इब्राहीम आदिलशाह हिन्दुओं की सरक्षण देने से 'असदगुरु' कहलाता था। राजनीतिक तथा सामाजिक जीवन में दोनों धर्मों के सम्पर्क से निम्न परिणाम उत्पन्न हुए। धार्मिक क्षेत्र में इस्लाम ने हिन्दू-धर्म पर दो प्रभाव डाले।—(क) अपने धर्म की रक्षा के लिए हिन्दुओं ने जात-पात के तत्वों को दृढ़ बनाया, (ख) समानता के तत्व पर बल देने वाले जाति-भेद-विरोधी सुधार धार्मिकता उत्पन्न हुए। इस्लाम पर हिन्दू धर्म का यह प्रभाव पड़ा कि उसमें कुछ कोमलता और सरसता आई। उसका स्वरूप में भी काफी परिवर्तन हुआ। किन्तु इस सम्पर्क का सबसे मुख्य धार्मिक प्रभाव यह था कि इनसे कुछ ऐसे सम्प्रदायों का जन्म हुआ जो हिन्दू और मुस्लिम धर्मों के अन्तर को मिटाने वाले थे।

मुगलशाहों तथा हिन्दुओं के सम्पर्क के अन्य परिणाम निम्न थे—

(१) वास्तु कला में दोनों की सम्प्रदायों का प्रभाव मिले नई कला-शैलियों का विकास हुआ। चित्र और संगीत कला की उन्नति हुई।

(२) भारत में मुसलमानों से बागदानी, कामज घताना आदि कितनी ही नई कलाएँ सीखी ।

(३) साहित्यिक समृद्धि और वैज्ञानिक उन्नति ।

(४) राजनीतिक एकता ।

(५) साधारण जीवन पर प्रभाव—वेश-भूषा तथा खान-पान में परिवर्तन, कट्टरपन में घुड़ ।

धार्मिक प्रभाव—(क) मुसलमानों की कट्टरता के कारण हिन्दू उन्हें अपने समाज का धर्म नहीं बना सकते थे, लेकिन मुसलमान कट्टर होने के साथ-साथ अपने धर्म के प्रबल प्रचारक थे । यह भय था कि वे सब हिन्दुधर्म को इस्लाम का अनुयायी न बना दालें । इसके प्रतिकार का उपाय कट्टरता ही सीखा गया । जोहा जोहे को काटना है, इस्लाम की कट्टरता का तिराकरण हिन्दुधर्म की कट्टरता से ही हो सकता था । इस समय के धर्म-शास्त्रकारों ने जाति-भेद के नियमों को कठोर बनाकर हिन्दू धर्म को इतना सुदृढ़ दुर्ग बनाने का प्रयास किया जिसका भेदन इस्लाम न कर सके । इस प्रकार के लेखकों में 'पराशर-स्मृति' के टीकाकार माधव, 'मदन पारिजात' के रचयिता विश्वेश्वर, बंगाल के रघुनन्दन तथा 'मनुस्मृति' के प्रसिद्ध टीकाकार मुल्लुकभट्ट, नीलकण्ठ, कमलाकर भट्ट और हेमाद्रि मुल्ल हैं । हेमाद्रि ने अपने ग्रन्थ 'चतुर्वर्ग चिन्तामणि' में साल-भर में करने के लिए २,००० अनुष्ठानों की व्यवस्था की । इस प्रकार के अनुष्ठानों से नियमित हिन्दू समाज पर इस्लाम का प्रभाव पहले की सम्भावना कम थी ।

(ख) हिन्दू-धर्म के सुधार आन्दोलन—किन्तु धर्मशास्त्रियों की व्यक्तियाँ हिन्दू-धर्म की पूरी रक्षा नहीं कर सकती थीं । समाज की भीखी जातिपाई तथा बहुत उच्च वर्गों द्वारा पद-दलित और उत्पीड़ित थे । इस्लाम समानता और आत्मा-भाव पर जोर देता था । उत्तरी एशिया और पश्चिमी एशिया में उसके सीधे प्रसार का एक कारण यह भी था कि उन देशों के पद-दलित लोगों की अपने भाष का एक मात्र उपाय इस्लाम ही प्रतीत हुआ । भारत में भी इस्लाम अत्यधिक लोकप्रिय हो जाता यदि ठीक इसी समय समानता और भक्ति तत्त्व पर बल देने वाले आन्दोलन त होते । जाति-भेद विषमता की जड़ थी; उस पर सन्तों ने भक्ति के सिद्धान्त द्वारा प्रबल कुठाराघात किया । यह भक्ति अवश्य पवित्र करने वाली थी, इन्होंने लोगों की भी जैसा उठा दिया । हिन्दू समाज में भी ही भेद-भाव ही, लेकिन भक्तानु के दरबार में सब भक्त समान हैं । यहाँ तो 'जात-पाँव-पूछे नहीं कोई, हरि की भजे तो हरि का होई ।' इन सन्तों ने सब धर्मों की समानता तथा ईश्वर की एकता पर बल दिया, जोहाश्वर और कर्म-काण्ड की निन्दा की । जन्म के स्थान पर धर्म की महत्त्व दिया और धर्म के डोहदार शिष्टाचारों, पुरोहिता और मुत्ताओं की निन्दा की, मुक्ति का एक-मात्र साधन भक्ति को माना ।

मध्य युग में पहले दक्षिण भारत और फिर उत्तर भारत में मुबारक-खान्दोलन प्रारम्भ हुए। दक्षिण के मुबारक-खान्दोलनों के नेता शंकराचार्य (लगभग ७५८-८२० ई०), रामानुज (लगभग ११०० ई०) और बसवेश्वर थे, तथा उत्तरी भारत में इसके प्रवर्तक थे रामानन्द। पहले यह बताया जा चुका है कि भारत में इस्लाम का धार्मिकपूर्वक प्रवेश दक्षिण भारत में हुआ, वहीं से मुबारक-खान्दोलनों का शुरु होना यह सूचित करता है कि इनको इस्लाम से कुछ प्रेरणा अवश्य मिली। इस्लाम के अनुयायियों की उपस्थिति ने जाति-भेद, धार्मिक जीवन और ईश्वर के अस्तित्व आदि विषयों पर लोगों को विचार करने के लिए उत्तेजित किया। एकेश्वरवाद और समानता आदि के विचार हिन्दू धर्म में पहले से ही विद्यमान थे, किन्तु इस्लाम से उन्हें बल मिला। शंकर और रामानुज के मिथ्यातंत्रों पर यद्यपि इस्लाम का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा किन्तु निगमन-सम्प्रदाय पर अवश्य ही पड़ा। हिन्दुओं का यह होते हुए भी वे जाति-भेद स्वीकार नहीं करते, इनमें तत्ताक और विधवा-विवाह की इजाजत है, मुर्दे फूँकने की अगह बपलाये जाते हैं, वे आह तथा पुनर्जन्म को नहीं मानते, सब एक दूसरे के साथ साथ-ही सकते हैं। इस मत का प्रसार इस समय बेलगाँव, बीजापुर और भारबाद जिलों, कोल्हापुर और कर्नाटक में मैसूर के राज्यों में है।

उत्तर भारत में जाति-भेद का खण्डन करने और भक्ति पर जोर देने वाले धार्मिक खान्दोलनों के संस्थापक रामानन्द थे। उन्होंने राम की भक्ति पर जोर दिया और हर जाति के लोगों को अपने शिष्यों में सम्मिलित किया। रामानन्द के शिष्यों में एक नाई, एक मोची और एक मुसलमान थे। नैकात्मिक के मतानुसार इसमें कोई सन्देह नहीं कि बनारस में विद्वान् मुसलमानों से रामानन्द की भेंट हुई थी। श्री रामानन्द के शिष्यों में महात्मा कबीर (१३६०-१४६८ ई०) इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय हैं कि उन्होंने इस्लाम और हिन्दू धर्म की चौड़ी खाई को पाटने तथा उसमें सहयोग और समन्वय की भावना उत्पन्न करने का यत्न किया। उन्होंने दोनों धर्मों के बाह्य भेदों, रीतियों और धार्मिकों का खण्डन करते हुए धार्मिक एकरा पर जोर दिया। हिन्दू मुस्लिम धर्मों की कड़ी युक्तता का सन्देश करते हुए उन्होंने कहा :—

भाई रे हुई कनईस कहां ते भाया, कहूँ की बोराना ।
बस्नाहूँ राम करीमा केख, हरि हरन नाम बराना ॥
बहान एक कनक ते बहाना, पावे भाव न हुआ ।
कहन सुनन को हुई कर भावे, एक नमोज एक पूजा ॥
बहो महादेव बहो मुहम्मद, बहान भादन बहिये ।
को हिन्दू को तुरक कहाने एक जितनी परिहायि ॥
वेद कियेव पढ़े थे कुतबा, वे मुस्ला वे पाँडे ।
बेगद बेगद नाम बराने, एक मिट्टी के मोडे ॥

दोनों धर्मों के बाह्य कर्मकाण्ड की निन्दा करने हुए उन्होंने हिन्दुओं से कहा :—

पाहन पूजे और मिले, जो मैं पूजूँ धरार ।
ताते या चाकी भली, पीस खान संसार ॥

और मुसलमानों से कहा :—

काँकर पावर, जोरि के मस्जिद तई सुनाम ।
ता चड़ि मुल्ला दाँव दे क्या बहुरा हुआ खुदाय ॥

कबीर की शिक्षाएँ रहस्यवाद से ओत-प्रोत थीं। उन पर मुसलमान तुर्की फकीरों का स्पष्ट प्रभाव है। इस्लाम के समानता, भ्रातृ-भाव, विमुक्त एकेन्दरवाद और मूर्ति-भजन के सिद्धान्त महाराष्ट्र की जनता पर भी गहरा प्रभाव डाल रहे थे। वही बाह्य और अबाह्य दोनों तरह के प्रकारक इस बात पर बल दे रहे थे कि राम और रहीम को एक समझो, जाति-भेद के बन्धनों को तोड़ दो, मनुष्य-मान के साथ प्रेम करो। रामानन्द के समकालीन बिसोबा सेनार ने मूर्ति-पूजा का कट्टर विरोध करते हुए कहा—'पत्थर का देवता नहीं होलता, वह हमारे इस जीवन के दुखों को किस तरह दूर कर सकता है। यदि पत्थर का देवता हमारी इच्छा पूरी कर सकता है तो गिरने पर वह टूट क्यों जाता है?' सेनार के शिष्य नामदेव हुए। इन्होंने महाराष्ट्र में धार्मिक संकीर्णता और जात-पाति के बंधनों को तोड़ने पर बल दिया। इनके शिष्यों और अनुयायियों में शिव, धर्म, ब्रह्म और जाति का भेद नहीं था, उनमें स्त्री-पुरुष, हिन्दू-मुसलमान, ब्राह्मण-अब्राह्मण, कुलबी, दर्जी, कुम्हार, पल्लव, गहार और भर्मेनिष्ठ वेश्याएँ तक सम्मिलित थे। नामदेव के महार शिष्य चोल सेना का बाह्य पुरोहितों से जब पहरपुर के प्रतिष्ठ मन्दिर में प्रवेश करने से रोका, तो उसने उत्तर दिया—'ईश्वर अपने बन्धों से भक्ति और प्रेम चाहता है। वह उनकी जाति की परवाह नहीं करता।'।

पन्द्रहवीं सदी में पंजाब में गुरु नानक ने कबीर की भाँति सब धर्मों की मौलिक एकता और हिन्दू-मुसलमानों के अभेद पर बल दिया—

बन्दे इत्तक खुदाय दे हिन्दू मुसलमान ।
दावा राम रगुल कर, गुरुदे बईमान ॥

उन्होंने हिन्दुओं के संवा-स्तान, तीर्थ-यात्रा, ब्रह्म-पूजा-पाठ और प्रतिमानूजन आदि का विरोध करते हुए जाति-भेद की तीव्र निन्दा की और मुसलमानों को भी यह उपदेश दिया—'दवा को अपनी मस्जिद बना, इन्शाअ अपना कुरान समझ, मेरा कामों की धनता काबा बना और परोपकार को कलना। खुदा को सबकी को अपनी लखबीह मान।'। गुरु नानक के शिष्यों में हिन्दू और मुसलमान दोनों थे।

नानक के समकालीन महापद्म चैतन्य (१४८२-१५३३ ई०) थे। उन्होंने बंगाल में हरि-भक्ति के प्रकार के द्वारा बाह्यों के कर्मकाण्ड और जाति-भेद का

जबर्दस्त खण्डन किया। उनके सिद्धों में नीच जाति के लोग और मुसलमान भी सम्मिलित थे।

इस्लाम में परिवर्तन—आमिक क्षेत्र में चौथा प्रभाव यह पड़ा कि भारतीय इस्लाम का स्थानान्तर होने लगा। अरब के रेगिस्तान में उत्पन्न इस्लाम वहाँ की जनसंख्या की भाँति सरल, कठोर और शुष्क था; वह भारत के खाद्य जलवायु में अनुकूलित हुए बिना नहीं पनप सकता था। उस पर भारत की हरियाली का प्रभाव पड़ना अनिवार्य था। अतः हम देखते हैं कि भारत में इस्लाम के साथ ऐसी अनेक बातें जुड़ गईं, जो पैगम्बर की शिक्षाओं के सर्वथा प्रतिकूल और अन्ध-विश्वासों से परिपूर्ण थीं। मुर्ति-पूजा के कटु विरोधी होते हुए भी बंगाल में उन्होंने मीठसा, काली, चमराज, बंखनाथ और इतर देवताओं की पूजा जारी रखी। इसके साथ ही उन्होंने नदियों के पवित्रता का माना सिद्ध, सुन्दर वन में जेर की सवारी करने वाली देवी के प्रेमी और चंग-रंजक जिन्दावाली खादि नये मुसलमान देवता बना दिये। पोरों के मजारों की पूजा चल पड़ी। इसका प्रधान कारण यह था कि भारत में इस्लाम ने जो अनुयायी बनाये वे सहसा मूर्ति-पूजा और अन्ध-विश्वासों की नहीं छोड़ सकते थे।

सम्मिश्रण की प्रवृत्ति—दोनों धर्मों के सम्पर्क का चौथा प्रभाव यह हुआ कि दोनों में सम्मिश्रण की प्रवृत्ति बढ़ी और ऐसे सम्प्रदायों और मुधारकों का जन्म हुआ जिनके अनुयायी हिन्दू और मुसलमान दोनों ही थे। हिन्दुओं ने उत्तरावापूरक मुस्लिम देवी-देवताओं, पीरों और मजारों की पूजा शुरू की और मुसलमान हिन्दू दर्शन की सम्मीरता से प्रभावित होकर उसकी ओर झुके। भारत की जनगणना की रिपोर्टों में पीरों के पूजक हिन्दुओं का काफी उल्लेख है। इस खती के शुरू में पंजाब में अजुल कादिर जिनगी के मुर्ती में रावलपिण्डी के बाह्य में, सहाराइप में सैयद आलार मसूद के मजार के उपासक हिन्दू भी हैं। बकनेर में जैल मुर्तुद्दीन चित्तौ के मजार की भी यही दशा है। बंगाल के देहाती मुसलमानों द्वारा हिन्दू देवताओं की पूजाओं के उदाहरण पहले दिए जा चुके हैं। मध्यकाल में अकबर और ज़ारा शिकोह हिन्दू धर्म की ओर झुके थे। ज़ारा शिकोह का ही यहाँ तक कहना था कि तोहोद (एकेश्वरवाद) का सर्वोत्तम रूप उपनिषदों में पाया जाता है। उसने पचास उपनिषदों का फारसी में अनुवाद करवाया तथा 'मजमुअ् बहरैन' नामक एक ग्रन्थ की रचना कराई। ग्रंथ के शीर्षक का अर्थ है—'दो सामरों का संगम'। इसमें फारसी पढ़ने वालों के लिए वेदों की परिभाषाओं का स्पष्टीकरण था, साथ ही उनके सूफी पद्यों भी दिये गए थे।

हिन्दू-मुसलमानों के मेल और सामीप्य की ज़रूरतों का परिणाम यह हुआ कि मस्जिदों, मठों, मस्जिदों खादि ऐसे पन्नों का अनुक्रमित हुआ जिनके अनुयायी हिन्दू और मुसलमान दोनों ही थे और जो दोनों में कोई भेद-भाव नहीं मानते थे। आदरणीय ज़मी में बताते हैं हिन्दुओं का मुसलमानों की दरगाहों पर बिछाई चढ़ाना,

कुरान पढ़ना और मुस्लिम त्योहार मनाना प्रारम्भ हो गया था। मुसलमान भी हिन्दुओं के धार्मिक रिवाजों के प्रति किम्वदन्त सम्मान प्रदर्शित करते थे। इसी मेल-जोल से बंगाल में एक नये देवता 'सरपटीर' की पूजा शुरू हुई। कहा जाता है कि बीड़ का सावसाह हुसैनसाह (१४६३-१५१६ ई०) इस सम्प्रदाय का संस्थापक था। श्रीरंगनिक के समय सतनामी और नारायणी सम्प्रदायों ने दोनों को भिन्नाने की कोशिश की। पिछले पंच में हिन्दू मुसलमान दोनों लिये खाते थे, वे पूर्व की ओर मुंह करके दिन में पाँच बार प्रार्थना करते थे, ईश्वर के नामों में अन्ताह को भी माते थे और मूर्तों को दफनाते थे। गुजरात के एक साधक प्राणनाथ ने जाति-भेद, मूर्तिपूजा और ब्राह्मणों के प्रमुख का शण्डन किया। उनसे हर गये बीड़ा लेने वाले को हिन्दू और मुसलमान दोनों के साथ बैठकर भोजन करना पड़ता था। प्राणनाथ का मन्त्रण्य था, सबका—वाहे वह हिन्दू हो या मुसलमान—एक ईमान होना चाहिए।

कला

वास्तु-कला (भवन-निर्माण)—सामोप्य तथा मेल-जोल की जो प्रवृत्ति धार्मिक विचारों में थी, वही विभिन्न कलाओं में दृष्टिगोचर होती है। वास्तु-कला इसका ठोस और स्पर्शमय उदाहरण है। मध्य-युग में कला के एक नवीन रूप का जन्म हुआ, जिसमें हिन्दू और मुस्लिम कला-शैलियों का सुन्दर सामंजस्य पाया जाता है। इसे नारत-मुस्लिम (इण्डो-सारासैनिक) या मठान-कला कहा जाता है। दोनों कलाओं पर भौगोलिक परिस्थितियों का प्रभाव था। भारत उत्तम पर्वतों, विस्तृत मैदानों, दुर्भेद्य जंगलों, प्रचण्ड ऋतुओं और घनी जनसंख्याओं का देश है; अतः भारतीय कला में विशालता, स्पृष्टता और विस्तार पर धार्मिक बल था। जिस तरह भारतीय जंगलों में फलस्रुत वृक्ष-नातियों से सारी भूमि ढकी रहती है, उसी तरह भारतीय मन्दिरों में कोई कच्चा सनकरण से सली नहीं रहता। विस्तार, बाहुल्य और विश्वप्राचुर्य इसकी प्रधान विशेषताएँ हैं। इसके विपरीत सब एक विशाल रेगिस्तान है, जिसमें पीछे तक कोई जनसंख्या नहीं दिखाई देती। अतः मुस्लिम कला की विशेषता बड़े-बड़े भवन, ऊँची मीनारें, साफ़ और सारी दीवारें थीं। भारत में मुसलमान सुम्बर, मीनार और डाट सारे और उन्होंने भारतीयों से तम स्तम्भ-नक़्शियों तथा भवन-कला के ग्रन्थ सनकरण ग्रहण किये। मुसलमानों को मेहराब का ज्ञान था, अतः उन्हें लम्बी की आवश्यकता नहीं थी। हिन्दुओं को डाट का ज्ञान न था, अतः उनके लिए स्तम्भ अनिवार्य थे। सस्तनत युग तथा मुगल युग की वास्तु में इन दोनों का सम्मिश्रण हुआ। इस सम्मिश्रण में दो कारण सहायक सिद्ध हुए—(१) मुस्लिम भवनों के घिल्ली हिन्दू थे, जो मुसलमान बादशाहों की देख-रेख में भवन-निर्माण करते थे, (२) तब मुस्लिम भवन पुराने हिन्दू मन्दिरों की विषयगत सामग्रियों से बने थे। अतः मुस्लिम वास्तु पर हिन्दू प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था।

हिन्दू प्रभाव की मात्रा विभिन्न कला-शैलियों में परिस्फूर्तियों के अनुसार बदलती रहती थी। सल्तनत युग की दिल्ली-बीली में कुतुबमीनार और अलाउद्दीन की मस्जिदों की प्रधानता है; किन्तु जौनपुरी, बंगाली, गुजराती तथा बीजापुरी शैली में हिन्दू तत्वों की प्रधानता है। जौनपुर में शर्की मुसलमानों के मन्दिरकारी और हिन्दू से। इनके प्रभावों से हुए भवनों की भीमकाय भित्तियाँ, बर्गोकार स्तम्भ और छोटी गैलरियाँ स्पष्ट रूप से हिन्दू प्रभाव की सूचक हैं; और जौनपुर की मस्जिदों में मुस्लिम कला की एक प्रधान विशेषता मीनार बिल्कुल नहीं है। इसका सबसे अच्छा उदाहरण १४०० ई० में पूर्ण हुई जौनपुर की 'मतालायेवी की मस्जिद' है। बंगाल में हिन्दू प्रभाव प्रबल रहा और इसका सुन्दरतम उदाहरण पाण्डुघा में मिहन्दर डारा (१३६० ई०) बनवाई हुई मदीना मस्जिद है। गुजरात, मालवा, काश्मीर और बीजापुर की मुस्लिम वास्तु भी हिन्दू प्रभाव से ओत-प्रोत है।

मुगल युगों की इमारतों में ईरानी और भारतीय दोनों शैलियों का सामञ्जस्य बड़े सुन्दर रूप में दृष्टिगोचर होता है। अकबर द्वारा बनवाये फतहपुर सीकरी के महलों, आगरा के जहांगीरी महल, मुहम्मद गीस और हुमायूँ के मकबरों में यह प्रभाव सुस्पष्ट है। इसका चरम उत्कर्ष शाहजहाँ की इमारतों—आगड़े के ताजमहल और मोती मस्जिद—में दिखाई देता है।

संगीत—इस्लाम के संसर्ग का भारतीय संगीत पर गहरा प्रभाव पड़ा और वह नये राग रागों तथा नये रागों से समृद्ध हुआ। प्राचीन भारतीय तथा ईरानी संगीतों के सम्मिश्रण ने एक नई संगीत-शैली को जन्म दिया जो दोनों शैलियों में खिच-झुट्ट और मतोहारिणी थी। समीर सुसरो की प्रसाधारण प्रतिभा से भारतीय-संगीत को एक अनुपम विशालता और एकता मिली। भारत में वह मितार का धारम्भकर्ता माना जाता है। इससे उसने भारत की उत्तरी और दक्षिणी संगीत-शैलियों में सामञ्जस्य स्थापित किया। कम्बाली भी उसी ने शुरू की, वह पद्यति पाव तक लोकप्रिय है। जौनपुर के शर्की दरबार की सबसे बड़ी देन 'त्याज' है। अकबर के दरबार में ईरानी, तुरानी, काश्मीरी और हिन्दू स्त्री-पुरुष अनेक उत्कृष्ट गवैये थे; किन्तु उस युग का सबसे बड़ा रागी तातवेन था। समीर सुसरो से मुहम्मदशाह रंगीले के समय तक धीरे-धीरे के एक-साथ प्रपवाद की छोड़कर मुस्लिम दरबारी में भारतीय संगीत को प्रोत्साहन मिला; इसमें तराना, दुमरी, गजल, कम्बाली आदि का उसमें प्रवेश हुआ।

चित्र-कला—मुगल चित्र-कला के उद्भव तथा प्रेरणा का मूल स्रोत ईरान था; किन्तु वास्तु कला की भाँति वह भी ईरानी और हिन्दू कलाओं का सुन्दर सम्मिश्रण था। अकबर के दरबार के चित्रकारी में बहुपत्न्या हिन्दुओं की थी। १७ प्रधान चित्रकारी में १३ हिन्दू थे जो छवि-चित्रण में अत्यन्त कुशल थे। इनमें असावन, माल और दलबन्ध विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

उद्यान-निर्माण-कला—प्रसिद्ध कला-भर्मज हैवल ने उद्यानों की योजना और निर्माण को भारतीय कलाओं में मुगलों की सबसे बड़ी देने कहा है। भारत में मुगलों के आने से पहले भी बाग थे, किन्तु वे मुख्य रूप से फलों के लिए थे और प्रायः वन जैसे होते थे। मुगलों के आने पर ईरान और तुर्कस्तान में विकसित उद्यान-कला के अनुकरण से इनकी विशेषताएँ ये थीं—नहरों को ऊँचाई से लाकर उनसे साठ-साठ प्रपात बनाने जाते थे, इनमें फव्वारे लगे होते थे, नहर की पटरियों के दोनों ओर फूलों की बगारियाँ होती थीं। सबसे ऊँचे या निचले फव्वारे पर बारहूँद बारी होती थी, जहाँ से सारे दृश्य का अवलोकन किया जाता था। काश्मीर के शालामार, निशात, मच्छवल, बैरोनाग और लाहौर के शालामार बगीचे इसी ढंग पर मुगलों के बनवाये हुए हैं।

साहित्यिक उन्नति

ग्रन्थ प्रभाव—इस्लाम ने मध्ययुग में साहित्यिक तथा वैज्ञानिक उन्नति और राजनीतिक एकता के विकास में बड़ा भाग लिया। उसने जन-साधारण के जीवन, रहन-सहन, वेष-भूषा और ज्ञान-पान पर भी प्रभाव डाला। हिन्दी में विद्यापति, तुलसीदास और मूर की रचनाएँ इस युग की हैं। बंगला भाषा को साहित्य के पद पर पहुँचाने में अनेक कारण थे। इनमें तिस्मन्देह सबसे अधिक महत्वपूर्ण हेतु मुसलमानों का बंगाल विजय करना था। यदि हिन्दू राजा स्वाधीन बने रहते तो बंगला भाषा को राजाओं के दरबारों तक पहुँचने का अवसर मुश्किल से ही मिल पाता। चौदहवीं सदी के शुरू में नसीरशाह ने महानगरत का संस्कृत से बंगला में अनुवाद कराया। रामायण के अनुवादक कृतिवास को मुस्लिम दरबार से पूरी सहायता मिलती थी। सल्तान हुसैनशाह ने मलघर वगु में भागवत का बंगला में अनुवाद कराया। मुसलमानों के द्वारा संस्कृत ग्रन्थों के बंगला अनुवादों के अत्यधिक उदाहरण हैं। बहमनी बादशाहों ने मराठी को पूरा प्रोत्साहन दिया। इसी काल में उर्दू का विकास हुआ। सोलहवीं सदी में उसका जन्म हुआ और अठारहवीं सदी में वह साहित्यिक भाषा बनी। फारसी तबारीयों से देश में इतिहास लिखने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिला।

वैज्ञानिक उन्नति—वैज्ञानिक उन्नति विशेष रूप से सामरिक कला में हुई। मुगलों ने युरोपीय रण-कला तथा बारूद, बन्दूक और तोपों का प्रयोग तुर्कों और ईरानियों से सीखा तथा उसका भारत में प्रसार किया। युद्ध विद्या, सैनिक व्यवस्था और किलेबन्दी की इस समय विशेष उन्नति हुई। कामरुज्जमान की कला मुसलमान ही भारत में लाये। इससे विद्या-प्रसार के कार्य में बड़ी सहायता मिली। मुगल शासन ने सारे देश में सुदृढ़ शासन द्वारा राजनीतिक एकता उत्पन्न की।

उत्तर भारत की भाषा, वेष-भूषा, रहन-सहन और ज्ञान-पान में मुस्लिम प्रभाव बहुत स्पष्ट है। हिन्दी, बंगला, मराठी में सैकड़ों फारसी, पर्सि, तुर्की शब्दों

से बुझि हुई है। हिन्दुओं के विवाह-जैसे पवित्र संस्कार में संहार और जामा का प्रयोग होने लगा। हमारी अधिकांश मिठाइयाँ इसी काल की ईजाद हैं। बानुशाही, जकर-पारा, कलाकन्द, गुलाब जामुन, बरफी, हलवा सब सुगन्धमयी नाम हैं। प्राचीन साहित्य में मीठक (लड्डू) और प्रपूष (मालपूके) के अतिरिक्त बहुत कम मिठाइयों का उल्लेख मिलता है।

इस्लाम के साथ हिन्दू धर्म के सम्पर्क ने भारत में जो प्रभाव पैदा किये वे अनुपम हैं। इनने एक नई समन्वयात्मक सम्भ्यता देने का प्रयत्न किया, जो न हिन्दू की और न मुसलमान; अपितु हिन्दू और मुसलमान दोनों संस्कृतियों के सुन्दर तत्वों को लिये थी। इतने बहुविधतायुक्त धर्म दिया जो जात-जात और संकीर्णताओं से मुक्त, पुरोहितों के प्रभुत्व से स्वतन्त्र, कर्मकाण्ड के बाह्य आडम्बर और विभिन्न देवों-देवताओं की पूजा से रहित था, जो एकेश्वरवाद, विश्व-बन्धुत्व, प्रेम, संघम, सदाचार और आत्म-बुद्धि पर बल दे रहा था। इसने हमें वास्तु के क्षेत्र में ताजमहल दिया, जिसके तुल्य भव्य भवन संसार में इने-गिने ही हैं। इसने हमें मूर, तुलसी, विद्यापति और कृष्ण-दास दिये। इस्लाम और हिन्दू धर्म के राजनीतिक संघर्ष अतीत का विषय बन गए हैं; किन्तु उस संघर्ष का कलात्मक वास्तु-वैभव—फतहपुर सीकरी और मोती मस्जिद तथा उस समय के शिल्पियों की चाशी हमें उस स्वर्णिम युग को याद दिलाती है, जब हिन्दू और मुसलमान एक होकर महिम्नता, प्रेम और सहयोग से समस्त भारत में एक उन्नत, पवित्र संस्कृति का निर्माण कर रहे थे।

शासन-प्रणाली

प्राचीन भारत में राजतन्त्र और प्रजातन्त्र दोनों प्रकार की शासन-प्रणालियाँ प्रचलित थीं; किन्तु प्रधानता राजतन्त्र की ही थी। गुप्त युग में ४०० ई० के बाद प्रजातन्त्रों का अन्त हो जाने से देश की एक-मात्र शासन-प्रणाली राजतन्त्र ही रह गई। यहाँ दोनों का संक्षिप्त उल्लेख किया जायगा।

राजतन्त्र

वैदिक युग—राजतन्त्र की प्रणाली भारत में वैदिक युग में प्रचलित है। उस समय राजा की उत्पत्ति का कारण सम्भवतः सामरिक आचर्यव्यवस्था थी। कुछ में सकल नेतृत्व करने वाले व्यक्ति स्वभावतः राजा का पद धारित करने में और उनके धर्मों के पोषण होने पर यह पद धातुवर्षिक बन जाता था। वैदिक राज्य प्रायः जनराज्य होते थे, इनका आधार कुछ या परिवार होता था। कई कुलों में 'विश्व' का निर्माण होता और कई विश्वों में जन की रचना होती। एक जन या कबीले के व्यक्ति-व्यवस्था मूल पुरुष एक ही मानते थे, उनका धुलिया राजा होता था। वैदिक युग के दारुण में राजा का निर्वाचन होता था किन्तु सम्भवतः सामार्य जनता इसमें भाग नहीं लेती थी। जनता के नेता—कुलपति और विक्रान्ति—ही राजा का चरण करते थे। चरण का अर्थ राजा बनने की स्वीकृति देना था। चरण होने पर राज्याभिषेक होता था और राजा प्रजा-पालन की 'प्रतिज्ञा' करता था। प्रतिज्ञा सोहरे पर राजा निर्वाचित और पदच्युत किया जा सकता था।

ऐतरेय ब्राह्मण में ऐन्द्र महाभिषेक का वर्णन करते हुए इस प्रतिज्ञा का विवरण वर्णन है। दत्त समय राजा बड़ी अज्ञा के साथ इस प्रतिज्ञा की उद्घोषणा करता था—“मैं विश्व यदि को उत्पन्न हुआ था और जिस राज की भर्त्सना इन दोहों के बीच में मैंने कितने गरीब अनुष्ठान और पुण्य कार्य किये हैं, मैं उनसे, स्वर्गलोक से तथा अपनी संतान से अचित हो जाऊँ, यदि मैं प्रजा से दूर हूँ।” (या य राक्षि-भजापेइ या य प्रेताग्निं तनुमयमत्तरेण इष्टाधूनेन लोकं मुक्तमामुः प्रजां मुक्ती-या यदि ते दृष्टो पन्निधि । ऐ० ब्रा० अष्टम पत्रिका, अध्याय ४, कठिका १४)। राज्याभिषेक के समय राजा के सिने इससे अधिक कठोर प्रतिज्ञा की कल्पना नहीं की जा सकती। इसमें राजा प्रजा के प्रति अपने कर्तव्यपालन की सिध्दिकता की अवस्था में

अपने सब शुभ कर्मों के मुख्य फल की प्राप्ति से तथा प्रियतम सन्तान से वंचित होने का संकल्प करता है। इससे इस प्रतिज्ञा की गुस्ता धीर संभारता स्पष्ट है। इस घोषणा के बाद ही राजा को आश्रम से आन्ध्रदित धामन्दी या काण्डनिमित्त सिंहासन पर बैठने की अनुमति दी जाती थी तथा पुरोहित उसके ऊपर सोने की पाती से सो या तो छित्री से बहने वाले जल के द्वारा उसका अभिषेक करता था। इस प्रकार प्रतिज्ञा एवं अभिषेक द्वारा राजा के चित्त पर प्रजापालन के कर्त्तव्य की महत्ता मनो मांति छक्ति कर दी जाती थी।

समिति और सभा—वैदिक काल में राजा निरंकुश नहीं था, उसका निर्बंधन समिति द्वारा होता था। यह वर्तमान काल की केन्द्रीय लोक सभा समझी जा सकती है। यह समूचे जन की संस्था थी। इसमें कौन-कौन जाते थे, यह कहना कठिन है। किन्तु ग्रामणी, भूत, स्वकार और कर्म्मरि इसमें अवश्य सम्मिलित होते थे। राज्य की असल बागबोर इन्हीं के हाथों में थी। राजा की स्थिति इन्हीं के समर्थन पर अव-स्थित थी। राजाओं की यही इच्छा रहती थी कि समिति सदा उनका साथ दे। इसके बिछड़ होने पर वे धीर संकट में पड़ जाते थे। इसकी संभावना और सहयोग पाने के लिए राजा समिति की बैठकों में भाग लेता था।

सभा का धर्म कुछ विद्वानों ने 'समान कांति (भा) वाले' व्यक्तियों का संगठन किया है। इनके अनुसार सभा एक प्रकार की बृद्ध परिषद् थी, इसमें पुरोहित, धनिक आदि उच्चवर्ग के व्यक्ति सम्मिलित होते थे और 'समिति' में साधारण व्यक्ति। सभा और समिति को प्रजापति की जुबानी कन्दार्प सम्मत्ता जाता था। केन्द्रीय-सभा के अतिरिक्त प्रत्येक गाँव में भी सभा होती थी।

१००० ई० पू० से समितियाँ श्रुत होने लगीं। इसका प्रधान कारण यह था कि पुराने जन-राज्य विस्तीर्ण होकर आदिमिक राज्य बन रहे थे। पहले इनका विस्तार वर्तमान जिलों के बराबर था, साक्षात् जन के पर में कर्मधनरियों के बराबर हुए। इन विस्तृत राज्यों में समिति-जैसी केन्द्रीय लोक सभा के सदस्यों का इच्छा होना तथा कार्य करना कठिन था। उस समय त को प्राताप्रात के साक्षन इतने उन्नत थे और न प्रतिनिधि-व्यवस्था का आविष्कार हुआ था, अतः वैदिक युग के बाद समिति का अन्त हो गया।

वैदिक राजा शक्तियों की गढ़ायता से शासन करता था। इनसे राजा के सम्बन्धी, भर्षी, विभार्थी के सम्मेलन और दरबारी सम्मिलित होते थे। इस युग के प्रधान अधिकारी गेमाधौन, संप्रहीना (कोषाध्यक्ष) भागधुक् (कर-संचालक या धर्म-सम्प्री), धानवी (गाँवों का मुखिया) और सूत (रथ सेना का नायक) थे। सरकार का प्रधान कार्य आन्तरिक उपद्रवों और बाह्य आक्रमणों से राज्य की रक्षा करना था। कर पहले ऐच्छिक और बाद में आवश्यक हो गए। राजा का प्रधान सर्वोच्च प्रजा की

सांख्यिक और भौतिक उन्नति करना था। राज्यों का आकार छोटा होने से इस समय तक प्रांतीय और स्थानीय शासन का विकास नहीं हुआ था।

मौर्य युग—मौर्यकालीन राजतन्त्र वैदिक काल की अपेक्षा अधिक सुविकसित और उन्नत था। उस समय तक राजा के अधिकारों में बहुत बृद्धि हो गई, राज्यों के अधिक विस्तृत होने तथा यातायात की कठिनाई के कारण राजा पर संकुश रखने वाली समिति का अन्त हो गया। राजा सेना, शासन, न्याय आदि सब विभागों का सर्वोच्चर बना, उसे कानून बनाने का भी अधिकार मिला। इस काल में राजतन्त्र की दो विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं—(१) शासन-तन्त्र का विकास (२) राज्य के कार्य-क्षेत्र का विस्तार।

शासन-तन्त्र—मौर्य साम्राज्य का शासन-प्रबन्ध बहुत ही व्यवस्थित था। केन्द्रीय तथा प्रांतीय शासन का स्पष्ट भेद और पिछले का विकास सर्वप्रथम इसी युग में हुआ है। केन्द्र में राजा मन्त्रि-परिषद् के साथ शासन करता था। मौर्य सम्राट् अपने को केवल 'राजा' कहते थे और अपने साम्राज्य को 'विजित'। वैदिक काल के रत्नियों पर राजा के परामर्शदाताओं ने शत्रु मन्त्रि मण्डल का रूप धारण किया। वैयक्तिक दृष्टि से यद्यपि यह राजा के प्रति उत्तरदायी था; किन्तु लोकमत का इस पर काफ़ी प्रभाव था और राजा को कई बार बाधित होकर अनिच्छापूर्वक मन्त्रियों की बात स्वीकार करनी पड़ती थी। उदाहरणार्थ चन्द्रगुप्त मौर्य अपने मंत्री कौटिल्य की इच्छा के विरुद्ध नहीं जा सकते थे। सम्राट् अशोक बौद्ध संघ की संभाव्युप दान देने जा रहे थे, मन्त्रियों ने इसका विरोध किया और अन्त में एक बार अशोक को 'बन्धुहीनैश्वर' होकर भी संघ की प्राप्ति प्राप्त करने का दान करके ही संतोष करना पड़ा।

प्रांतीय शासन की विस्तृत व्यवस्था भी सर्वप्रथम इसी काल में हुई। मौर्यों का 'विजित' पाँच प्रांतों (मण्डलों) में बँटा था, इन्हें संभवतः चक्र कहते थे।

(१) मध्य-देश—इसमें उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य भारत का हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्र सम्मिलित था। इसकी राजधानी पटना थी।

(२) प्राची—कलिंग-बंगाल आदि पूर्वी देश प्रांतों कहलाते थे। इसका शासनकेन्द्र ताम्रली (पोली जि० पुरी) थी।

(३) तम्रदा के दक्षिण का प्रदेश दक्षिण-पथ था। इसकी राजधानी मुचली गिरि थी।

(४) मारवाड़-मिन्त्र, गुजरात, कोकण के प्रदेश 'अपर जनपद' या पश्चिम देश में पाते थे। इसका शासन-मुख उज्जयिनी से संचालित होता था।

(५) उत्तरापथ—गंजाव, काश्मीर, काबूल आदि उत्तरापथ में मिले जाते थे। इसकी राजधानी लक्ष्मिका थी। इन पाँचों प्रांतों (क्षेत्रों) में राजा की ओर से नियुक्त 'कुमार' (राजकुमार) या महामात्य (मन्त्रि) शासन का सम्पूर्ण निरीक्षण

करते थे। अशोक मुचरालावस्था में उज्जयिनी का शासक रहा था और उसने अपने पुत्र कुशाल को उज्जयिनी का शासन-प्रबन्ध सौंपा था।

राज्य के कार्यक्षेत्र में भी इस युग में आश्चर्यजनक विस्तार हुआ। पहले उसका प्रधान उद्देश्य आन्तरिक उपद्रवों से तथा बाह्य आक्रमणों से देश की रक्षा करना था, अब उसका आदर्श राज्य की सर्वोत्तरीय उन्नति समझा गया। आर्थिक उन्नति तथा भौतिक दृष्टि से देश की समृद्ध करने के लिए राज्य की ओर से उद्योग-धन्य बनवाने, नई बस्तियाँ बसाने, नई जमीन कृषि योग्य बनाने, बाँध बनवाने, नालें खुदवाने, कारीगरों और मिल्हियों को संरक्षण देने की व्यवस्था शुरू हुई। सामान्य जनता तथा उपभोक्ताओं के हितों का ध्यान रखते हुए नाप तथा तोल का मान स्वीकृत करने, वस्तुओं का सचम और मुताफाखोरी रोकने के लिए राज्य की ओर से अधिकारी नियत किये जाने लगे। राज्य वर्तमान काल में जिस आधोवित्त धर्म-व्यवस्था (Planned Economy) को अपेक्षक समझकर, उसे स्थापित करने का यत्न कर रहे हैं, जर्मन विद्वान् उसका जन्मदाता मण्डपुत के मंत्री वाणिक्य को मानते हैं। बुनिया में धर्म-कानूनों का प्रतिपादन सबसे पहले उसी ने किया। कारीगर का हाथ या धातु बेकार कर देने वाले को प्राण-व्यर्थ मिलाता था। भौतिक समृद्धि के साथ-साथ जनता की नैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक उन्नति की ओर भी पूरा ध्यान दिया गया। वैष्णव-भक्ति, पून, मदिरा-पान आदि दुराच्यों का राज्य की ओर से निगबन किया गया। धर्म-श्रीत सदाचार के प्रोत्साहन के लिए 'धर्म-महामात्य' नामक राज-कर्मचारी नियत किये गए, विद्वानों, धर्म-प्रचारकों को राज्य की ओर से प्रोत्साहन दिया गया। दीन-दुलियों के कष्ट-निवारण के लिए धर्म-शालाएँ, आशुतराज्य (हस्पताल) तथा अन्न-क्षेत्र खोले गए।

इन सब कार्यों के लिए केन्द्र, प्रान्त तथा नगरों में जटिल शासन-व्यवस्था का विकास हुआ। पाटलिपुत्र नगर का प्रबन्ध ठीस मण्डपियों की एक-सभा करती थी। इनके पाँच-पाँच आदर्श छः श्रेष्ठ वर्गों में विभक्त होकर शिल्प, वैदिकियों की सेवा-भास, जन-रक्षण, प्राणिज्य-अवस्थापन, वस्तु-निरीक्षण घोर कर-वसूली के कार्य करते थे। केन्द्र में भीलों का सेना और गुप्तकर विभाग बहुत प्रबल और व्यवस्थित था। सेना के छः विभाग—पैदल, सवार, हाथी, रथ, जल-सेना और रसद के थे। न्याय-प्रबन्ध के लिए कंडकलोचन या चौकी और धर्म-व्यवस्थापन विभाग स्थापित थे। केन्द्र में राज्य के आग-व्यय हिस्सा आदि रखते, उद्योगों की उन्नति के लिए धनक, संकलन थे। इनसे उस समय केन्द्रीय शासन तथा मण्डपालय का पर्याप्त विकास सूचित होता है। परबलों पुणों का राजतन्त्र जगमग सीधे आदर्श पर ही बना रहा।

साम्राज्य-युग—इस युग में भारत पर मौरानी, शकों और कुशाणों के आक्रमण हुए—इनसे शासन-प्रवृत्ति तथा राजतन्त्र में कोई बड़े परिवर्तन नहीं हुए। इस काल की दो विशेषताएँ हैं।

(१) राजाओं के देवत्व का विचार रहा और उन्होंने लम्बी-लम्बी उपाधियाँ धारण करनी शुरू कीं। कनिष्क की देवगुप्त की उपाधि से सूचित होता है कि राजा की दिव्यता की भावना पहली श० ई० तक काफी प्रबल हो चुकी थी। कुशाण राजा देवकुलों या मन्दिरों में अपने देव के मृत राजाओं की मूर्तियाँ स्थापित करते थे। राजाओं में उपाधियों का व्यवसन बढ रहा था। मौर्य युग में कन्दगुप्त और अशोक जैसे शक्तिशाली नरेश केवल 'राजा' कहलाने से सन्तुष्ट थे, किन्तु कनिष्क ने 'महाराजा', 'राजाधिराज' की गौरवपूर्ण उपाधियाँ धारण कीं। इसका अनुकरण करते हुए परवर्ती हिन्दू राजाओं ने भी 'महाराजाधिराज' की शानदार उपाधियाँ अपने नामों के साथ जोड़ना शुरू किया।

(२) शक कुशाण राजाओं की दूसरी विशेषता राजा और गुप्तराज, पिता तथा पुत्र का संयुक्त शासन या 'द्वैराज्य' पद्धति थी। इन प्रकार के उदाहरण गोंडोभार, कनिष्क द्वितीय तथा ह्विमिक के शासन हैं। यहाँ में पिता महाश्रम्य और पुत्र क्षत्रम की पदवी धारण करता था और दोनों अपने नाम से मिलके चलते थे। यह प्रणाली अधिक लोकप्रिय नहीं हुई। एक प्धान में दो सलकारी का तथा एक जंगल में दो शेरों का रहना असम्भव है। इसी तरह एक राज्य में दो राजा नहीं रह सकते। इस काल में केन्द्र, प्रान्त, बिस्व और नगर का शासन वषापूर्व चलता रहा।

गुप्त युग—गुप्त युग में भारतीय राजतन्त्र और शासन-पद्धति सगर्भम अपरिवर्तित ही रही। शासन की बागडोर धानुवंशिक राजा के हाथ में थी, तारी प्रभुता और शक्ति का खोत बहो था। शासन, न्याय, सेना के सर्वोच्च अधिकार उसी की प्रान्त थे। मन्त्रि-परिषद् मौर्य युग की तरह प्रधान रूप से उसे परामर्श देने वाली थी, किन्तु इनमें राजा को प्रभावित करने की पर्याप्त शक्ति थी। प्रधान न्याय के कथनानुसार राजा विषमादित्य प्रतिदिन पाँच लाख मुद्राएँ दान देना चाहते थे पर मन्त्रियों ने इस आधार पर दान का विरोध किया कि इससे राज-कोष खीझ ही समाप्त हो जायगा और नष्ट कर लगाने पड़ेंगे। राजा के दान की सर्वश स्तुति होगी किन्तु मन्त्रियों की प्रजा की शान्तिगी मुन्नी पड़ेगी। केन्द्रीय सचिवालय विभिन्न दुर्गों की भाँति काम करते रहे। राज्य द्वारा डेढ की भौतिक, धार्मिक, नैतिक और मानसिक उन्नति की और पूरा प्धान दिया गया। नैतिक उन्नति के लिए एक विशेष मन्त्री होता था, इसका प्रधान कार्य लोगों के आचार की देख-भाल, धार्मिक गन्थाओं और मन्दिरों की दान देना, सामाजिक सुधार के मन्त्राथ से राजा को परामर्श देना था। राज्य की और से शिक्षा-प्रसार एवं जल-वृद्धि के लिए सहायता की जाती थी। तासन्दा विश्वविद्यालय का विकास गुप्त मन्त्रियों के उदार दान से हुआ। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि उस समय राज्य शिक्षा-मन्त्रियों के धान्तरिक प्रयत्न और पाठ्यक्रम आदि में कोई हस्तक्षेप नहीं करता था। राज्य द्वारा मन्दिर बनवाने की प्रवृत्ति से स्थापत्य, मूर्ति, चित्र आदि कला-कलाओं की बहुत प्रोत्साहन मिला।

राजाओं द्वारा विद्याओं का संरक्षण ज्ञान-विज्ञान की उन्नति में बहुत सहायक सिद्ध हुआ। तमूने मध्यकाल में राज्य की ये प्रवृत्तियाँ जारी रहीं।

ग्राम पंचायत—मुक्त युग के राजतन्त्र सम्बन्धी दो परिवर्तन स्मरणीय हैं। पहला तो यह कि ४०० ई० से भारत में गणराज्यों का अन्त हो गया। अग्रे इनके विलुप्त होने के कारणों पर विशेष प्रकाश डाला जायगा। दूसरा परिवर्तन स्थानीय स्वशासन-संस्थाओं—ग्राम-पंचायतों और नगर-सभाओं—के कार्यों और अधिकारों में भारी-भरकम वृद्धि है। ये संस्थाएँ मौर्यकाल से और उससे भी पहले से चली आ रही थीं किन्तु ज्यों-ज्यों राज्य के विस्तार और केंद्रीकरण की प्रवृत्ति बढ़ती गई, स्थानीयों इनका अधिक विकास हुआ। सन्धि-विग्रह को छोड़कर इन्हें सब अधिकार प्राप्त थे। ये ग्राम की रक्षा की व्यवस्था तथा राजकीय करों का संग्रह करतीं, नये कर लगातीं, गाँव के भगवों का फैसला करतीं, लोक-हित को बोजनार्थ धरने हाथ में लेतीं, धार्मिक कृष्ण आदि लेकर सकल और अन्य संकटों के प्रतिकार का उपाय करतीं, पाठशालाएँ, अनाथालय, विद्यालय चलातीं, मन्दिरों द्वारा विविध सांस्कृतिक और धार्मिक कार्य करतीं। इन संस्थाओं पर वर्तमान केंद्रीय सरकार का निरीक्षण और नियंत्रण होता था किन्तु प्रधान रूप से ये ग्राम की साधारण जनता द्वारा चली जाती थीं। दक्षिणी भारत के लेखों से इनकी निर्वाचन-प्रणति तथा कार्य-प्रणाली पर अधिक प्रकाश पड़ा है। उदाहरणार्थ चिंतामण्ट जिले के उत्तर मैसूर गाँव की कार्य-कारिणी के सदस्य चिट्ठी डालकर चुने जाते थे। ग्राम के तीनों बाडों (विभागों) में प्रत्येक द्वारा कई व्यक्तियों के नाम प्रस्तावित किये जाते थे। प्रत्येक उम्मीदवार का नाम कामर के पुनूक पुत्रों पर लिख लिया जाता था। हर एक बाड के पुत्र या पक्षियों एक वर्तन में रख दी जाती थी और किसी अवधि विधु में एक पक्षी उड़ाने को कहा जाता था। जिसके साथ की पक्षी भागे वह उस बाड का प्रतिनिधि घोषित होता था। उस चुनाव में किसी प्रकार के प्रचार, पैरवी या पार्टीबाजी की जरूरत ही न होती थी। इस प्रकार साधारण जनता द्वारा निर्वाचित ग्राम-पंचायतें उन दिनों प्रजातन्त्र का सुपुट दुर्ग थीं। वैदिक काल की समिति का कार्य ये भारे सम्पन्न में करती रहीं। राजा ग्राम, ग्राम-पंचायत के कार्यों में कोई हस्तक्षेप नहीं करता था। यदि करना था तो पंचायतें अपनी जागरूकता से उनकी रोक-बाम करती थीं। पंचायतों के हाथ में राजा की नियमित करने का एक ब्रह्मास्त्र था, जनता से कर वसूल करके, उसे राजा तक पहुँचाना इन्हीं का कार्य था, यदि राजा अनुचित, गंदे और अन्याय कर लगाने से भी उनको तसूल करने से ठीक-सँभे ही इन्कार कर सकती थीं जैसे फौज राज्य-कालि से पहले राजा के अनुचित करों को केश पार्लमेंट (स्वायत्त) ने ही मानना अभीकार नहीं करते थे। इस प्रकार प्राचीन काल में ग्राम पंचायतें प्रजातन्त्र के इस मौलिक सिद्धान्त को विपरीत रूप प्रदान कर रही थीं कि कोई कर प्रजा के प्रतिनिधियों को सहमति के बिना नहीं लगाना जा सकता। इन ग्राम पंचायतों के कारण उस समय राजतन्त्र होते हुए भी साधारण जनता प्रजातन्त्र के सभी लाभ

उठा रही थी, क्योंकि स्वामीय स्वशासन में उसे पूरी स्वतन्त्रता प्राप्त थी। ब्रिटिश युग की शवालियों ने पंचायतों और ग्राम-सभाओं का अन्त कर दिया। यह प्रसन्नता की बात है कि स्वतन्त्र भारत में इनका पुनरुद्धार हो रहा है। उन्हें न केवल न्याय किन्तु सांख्यिक, स्वास्थ्य, निर्माण, विकास योजनाओं, शिक्षा, कार-सड़क आदि के कार्य सौंपे जा रहे हैं।

प्राचीन राजतन्त्र की समीक्षा—राजकल लोकतन्त्र का युग है, राजतन्त्र को प्रजातन्त्र की भाँति जनता के लिए उतना कल्याणकारक नहीं समझा जाता। इस समस्या में यह देखना आवश्यक प्रतीत होता है कि प्राचीन भारतीय राजतन्त्र प्रजा के लिए कितना उपयोगी और हितकर सिद्ध हुआ। राजतन्त्र का सबसे बड़ा दोष यह है कि उसमें शारी शक्ति एक व्यक्ति के हाथ में केन्द्रित हो जाती है, यदि उस पर कुछ प्रतिबन्ध न हों तो वह उसका मतमाना दुरुपयोग करने लगता है और प्रजा कष्ट पाती है। यूरोप में मध्यकाल में जब राजाओं ने अपने घसीम अधिकारों का दुरुपयोग करने प्रजा के भाड़े पसीने से कमाये धन को भोग-विलास में अन्धाधुन्य फूँकना शुरू किया; निरपराध व्यक्तियों को जेल में डालना तथा प्रजा पर अन्यायित कर लगाना शुरू किया तो जनता ने राजाओं के विरुद्ध विद्रोह किया और वहाँ राजतन्त्र का अन्त हो गया। भारत में राजा अपने अधिकारों का दुरुपयोग न करते हों, तो बात नहीं; किन्तु उनकी शक्ति पर कई प्रकार के प्रतिबन्ध थे। इनके कारण प्रजा प्रायः निरंकुश राजतन्त्र की बुराइयों से बची रहती थी।

राजतन्त्र पर प्रतिबन्ध—पहला प्रतिबन्ध—राज्य-सम्बन्धी अनेक उदात्त धर्मों और उच्च धारणाएँ थीं। ये राजा को निरंकुश या स्वेच्छानारी होने से रोकती थीं। पहली धारणा यह थी कि राजा प्रजा का सेवक है उसका प्रधान कार्य जनता की प्रसन्न रखना है। राजा कहते ही उसे हैं जो प्रकृति का अनुसरण करे। कौटिल्य के मतानुसार प्रजा के हित में राजा का हित है और प्रजा के सुख में राजा का सुख है।

दूसरी धारणा यह भी कि धर्म का पालन राजा का प्राथमिक कर्तव्य है। संसार के सबसे पहले राजा धर्म को महँ प्रतिष्ठा करती पड़ी थी कि मैं धृति-सूक्तियों में बताया धर्म का पूरा पालन कर्त्तव्य और कभी मनमायी न कर्त्तव्य। प्राचीन काल में प्रजा में रोग, शोक और कष्ट का कारण राजा का कर्त्तव्य-भ्रष्ट होना समझा जाता था। अतः राजा से धर्म पालन की पूरी अपेक्षा रखी जाती थी।

तीसरा विचार यह था कि राज्य राजा की वैयक्तिक सम्पत्ति नहीं किन्तु पब्लिक प्रोपर्टी है। यदि राजा सांख्यिक दृष्टि का दुरुपयोग करता है तो वह नरकगामी होता है। किन्तु इतना ही नहीं कि उसे राज्य से स्वार्थ-सिद्धि नहीं करनी चाहिए, किन्तु उसके लिए स्वार्थ-त्याग भी करना चाहिए। 'धर्म पुराण' के शब्दों में जिस प्रकार नरकगती तथा अपने उदरस्थ शिशु को हानि पहुँचाने की धारणा से अपनी इच्छाओं का नियंत्रण

घोर मुर्खों का त्याग करती है, वैसे ही राजा को भी प्रजा के हित के लिए अपने मुर्खों की परवाह नहीं करनी चाहिए। इसमें कोई संदेह नहीं कि बीराम घोर भ्रष्टाचार के राजाओं ने इन उदात्त आदर्श का पालन किया। प्राचीन काल में मरक के भय में अधिक भीषण कल्याण बड़ी कठिन थी। अतः यह साबित रानी जा सकती है कि अधिकांश राजाओं ने अपनी प्रजा का दुर्न्याय नहीं किया होगा।

दूसरा प्रतिबन्ध मन्त्रि-मण्डल द्वारा राजा का नियन्त्रण था। पहले भ्रष्टाचार घोर विषमव्यवस्था के घन्यायुक्त धान के विरुद्ध मन्त्रियों के सकल विरोध का उल्लेख किया जा चुका है। 'राजतरंगिणी' में उनके प्रभाव के अनेक उदाहरण हैं। राजा-सज्जन-वीर मन्त्रियों के निर्णय से पदच्युत किया गया। मृत्यु-शय्या पर पड़ा हुआ कलश अपने पूरे रूप को मुबरान बमता चाहता था, पर मन्त्रियों के विरोध के कारण सकल न हो सका। वैधानिक तौर से जनता के प्रति उत्तरदायी न होने पर भी मन्त्रि-मण्डल राजा की स्वेच्छाचारिता पर काफी संकुल रहता था।

तीसरा प्रतिबन्ध प्रजा को राजा के विरुद्ध विद्रोह का अधिकार था। प्राचीन शास्त्रकार यह कल्पना नहीं करते थे कि प्रजा राजा के अत्याचार को चुपचाप सहन कर लेगी। उन्होंने उसे राजा को चेतावनी देने तथा उसे पदच्युत करने का अधिकार दिया है। पहले तो प्रजा यह धमकी देती थी कि यदि तुम अपना स्वभाव नहीं बदलते तो हम तुम्हारा राज्य छोड़कर चले जाएंगे और यदि राजा पर इसका कोई प्रभार न पड़े तो वह समस्त राजा को गद्दी से उतार कर अन्य गुणवान् व्यक्ति को उस पर अधिकार कर सकती थी। महाभारत में भरथाचारी राजा के रूप एक की शान्ति दी गई है। वेद इस प्रकार के प्रभारों राजाओं में से था। तदुप, मुद्रास, धूम्र, विमि प्रजा की प्रकीर्णता का शिकार हुए थे। कौटिल्य ने राजा को प्रजा के रूप से सर्वत्र सर्वधान रहने का आदेश दिया था। प्राचीन काल में राजा के विरुद्ध विद्रोह करना घोर उसने शकलता पाता बहुत कठिन न था। मौर्य घोर धुन वंश के अन्तिम शासकी तथा राष्ट्रकूट राजा नीकिन्द-चतुर्थ का अन्त जनता, सामन्ती और सेनापतियों के विद्रोह द्वारा ही हुआ।

चौथा प्रतिबन्ध ग्राम-पञ्चायती का विकास था। इनमें जनता का पूरा सामन था और वे राजा के स्वेच्छाचार पर पर्याप्त नियन्त्रण रखती थीं। 'राजा चाहें कितने ही मनमाने कर क्यों न लगावे, उन्हें नहीं कर पित सकते थे किन्तु ग्राम-सभाएं जमान करके देने को तैयार हो। इन्हें न्याय के भी पर्याप्त अधिकार थे। अतः राजा इस क्षेत्र में भी मनमाना नहीं कर सकता था। 'ग्राम और नगर संस्थाएँ बहुत क्षेत्रों में छोटे-छोटे प्रजापक्ष हैं, जिनमें जनता की इच्छा के अनुसार शासन होता था।' अतः राजा यदि अत्याचारी होता तो भी उसका प्रभाव राजधानी तक ही सीमित रहता था।

इन प्रतिस्पर्धियों से प्राचीन भारत को राजतन्त्र के दुष्परिणाम बहुत कम भोगने पड़े। मध्य युग में जनता जब अपने राजनीतिक अधिकारों के लिए कामकाज नहीं रही, तभी राजाओं की मनमानी करने का मौका मिला। सामान्यतः प्राचीन राजतन्त्र लोकहित का उच्च आदर्श अपनाने के कारण जनता के लिए हितकर ही सिद्ध हुए।

प्रजातन्त्र

प्राचीन काल में राजतन्त्र के साथ-साथ वैदिक युग से गुप्त युग तक भारत में प्रजातन्त्रों या गणतन्त्रों का अस्तित्व बना रहा। उत्तर वैदिक युग में उत्तरकुक्ष तथा उत्तरमध्य देशों की शासन-प्रणाली वैराज्य प्रणाली राजर्षीय कहलाती थी, क्योंकि वहाँ राजा शासन नहीं करते थे। बौद्ध ग्रन्थों से यह बात होता है कि संयुक्त प्रान्त के गोरखपुर जिले और उत्तरी बिहार के प्रदेशों में छठी श० ई० पू० में दश गणराज्य थे। ५०० ई० पू० से ४०० ई० तक गंगाघाटी और सिन्ध में गणराज्यों का बोल-बाला था। इन्होंने चौथी श० ई० पू० में सिकन्दर का डटकर मुकाबला किया; बाद में, यहाँ और कुशाणों का प्रतिरोध करते रहे। भारत में विदेशियों के शासन का अन्त करने का बहुत बड़ा श्रेय इन्हीं को है। यहाँ प्रधान गणतन्त्रों का संक्षिप्त परिचय दिया जायगा।

बौद्ध साहित्य के गणतन्त्र—बौद्ध साहित्य में दस गणतन्त्रों का उल्लेख है कपिलवस्तु के शाक्य, मल्लकण्य के वुल्लो, केसपुत्र के काण्व, समुमार के भग, रामग्राम के कोलिय, पावा तथा कुशीनारा के मल्ल, पिप्पली वन के मोरिय, मिथिला के विदेह और वैशाखी के लिच्छवि। इनमें भग्य, वुल्लो, कोलिय और मोरिय गणतन्त्र सामुनिक तहसीलों से अधिक बड़े थे। इनमें अधिक प्रसिद्ध शाक्य, मल्ल, लिच्छवि और विदेह थे। इस समय में शाक्य राज्य सबसे छोटा और गोरखपुर जिले में अवस्थित था। इसी में भगवान् बुद्ध हुए थे। इससे पूर्व में पटना तक मल्लों का राज्य काफी विस्तारों पर था, इनके प्रसिद्ध केन्द्र कुशीनगर (गोरखपुर में कुशीनारा) और पावा (जि० पटना) थे। कुशीनगर भगवान् बुद्ध की तथा पावा वर्तमान महावीर की निर्वाण-भूमि थी। इनसे पूर्व में लिच्छवि और विदेह गणतन्त्र थे। लिच्छवियों की राजधानी वैशाखी (क्याह जि० मूजफ्फरपुर) थी और विदेह की मिथिला। इनमें से अधिकतर गणतन्त्र बुद्ध के जीवन-काल में बने रहे, किन्तु शनैः-शनैः शक्तिशाली पड़ोसी राज्यों द्वारा इनका अस्तित्व मिटने लगा। मगध का साम्राज्य इनके लिए सबसे बड़ा खतरा था। शासन-रखा के लिए गणतन्त्र संयुक्तसंघ बनाने लगे। लिच्छवि कभी मल्लों से मिलते थे और कभी विदेहों से। बुद्ध के समय लिच्छवि और विदेहों के संघ में बाँट गणतन्त्र सम्मिलित थे। यह संघ उस समय बज्जि नाम से प्रसिद्ध था। मगध का राजा अजातशत्रु इसे जीतना चाहता था। उसने इनके जीतने का उपाय ढूँढ़ने के लिए अपना मन्त्री जयकार भगवान् बुद्ध की सेवा में भेजा। बुद्ध का कहना था कि जब-तक बज्जी मिलकर अपनी सभाएं करते रहेंगे, संगठित होकर राज-कार्य करेंगे, प्राचीन रीति-

रिवाजों का पालन करने, बृद्ध पुरुषों को सम्मति का आदर करते रहेंगे, सब तक बज्जी लोगों के घतन की आशंका नहीं करनी चाहिए। अजातशत्रु ने अपने कूटनीति-कृशक मन्त्री से बगिचों में फूट डसवा दी और बिहार के सबसे शक्तिशाली मण्डल को अपने अधीन कर लिया। ५०० ई० पू० तक बाकी सब मण्डल भी मगध साम्राज्य का अंग बन गए। लिच्छवियों को यद्यपि इस समय मगध के भाग में नतमस्तक होना पड़ा, किन्तु २०० ई० पू० तक वे फिर स्वतन्त्र हो गए। चौथी श० ई० में यह राज्य अत्यन्त शक्तिशाली था और गुप्त साम्राज्य की स्थापना करने वाले चन्द्रगुप्त ने इसकी कुमारदेवी से परिणय करके अपने वंश का उत्कर्ष किया। वैवाहिक सम्बन्ध से यह राज्य गुप्त साम्राज्य का अंग बन गया।

पंजाब के मण्डल

बीधेय—५०० ई० पू० से ४०० ई० तक पंजाब और सिन्ध में मण्डलों की प्रधानता थी। वहाँ केवल प्रमाण मण्डलों का ही संक्षिप्त परिचय दिया जायगा। बीधेय तीन मण्डलों का शक्तिशाली संघ था। इसकी मुद्राओं से यह ज्ञात होता है कि इसका विस्तार पूर्व में सहारनपुर से पश्चिम में बहावलपुर तक, उत्तर पश्चिम में लुधियाना से दक्षिण में दिल्ली तक रहा होगा। इस प्रकार इसमें वर्तमान पूर्वी पंजाब का काफ़ी बड़ा हिस्सा आता था। बीधेय उस समय के उत्कृष्ट घोड़ा से और अपनी बीरता के लिए विख्यात थे। देवताओं के सेवकपति कालिकेय को वे अपना कुलदेवता मानते थे। इन पंजाबी बीरों के पराक्रम की कथा जब सिकन्दर के सैनिकों ने सुनी तो उनके दिल दहल गए, उन्होंने भागे बड़ने से इन्कार किया। सिकन्दर को विवश होकर लौटना पड़ा। पहली श० ई० में इस मण्डल को कुशाणों ने जीता, किन्तु स्वतन्त्रता-प्रेमी बीधेयों को वे देर तक अपने अधीन नहीं रख सके। “दूसरी श० ई० के उत्तरार्ध में अपने पराक्रम के लिए समस्त शक्तियों में अग्रगण्य” इन बीरों ने फिर फिर उदयाग और २२५ ई० तक इन्होंने न केवल अपनी कोई हुई स्वतन्त्रता पुनः प्राप्त की, किन्तु कुशाण साम्राज्य को ऐसा धक्का दिया, जिससे वह फिर न संभव सका।” ३५० ई० तक यह मण्डल बना रहा। बहावलपुर के जोहिने इन्हीं बीधेयों के वंशज माने जाते हैं।

कुण्डि तथा शत्रु—यह संभवतः बालम्बर द्वीप में था। इसका पुराना नाम जिनगी जगद या, बाद में इसे ‘कुण्डि’ कहा जाने लगा। यह राज्य दूसरी श० ई० तक बर्तमान या, कुशाणों की भारत से आये होने से इसने बीधेयों को बड़ी सहायता दी थी। रावी, चनाव, द्वीप के उपरले हिस्सों में नदों का शक्तिशाली राज्य था। वे संभवतः कठों से भिन्न न थे। इन्होंने सिकन्दर के सम्मुख नतमस्तक हो प्राण-रक्षा की अपमानजनक समझ, युद्ध में लड़कर मर जाना ही श्रेयस्कर समझा। इनकी राजधानी स्वातकोट थी।

मालव और क्षुद्रक—वेहलम और रावी के संगम के नीचे रावी के दोनों तटों पर मालव नाम का राज्य था और उसके पूर्व में इनके साथ मिलता हुआ क्षुद्रक का संघराष्ट्र था। ये दोनों परस्पर स्वतन्त्रता-प्रेमी और लड़ाकू जातियाँ थीं। सिकन्दर का सामना करने के लिए इन्होंने संयुक्त योजना बनाई थी किन्तु दोनों की सेनाएँ मिलने से पहले सिकन्दर मालवों पर दूट पड़ा। मालवों के एक साथ लड़ाकू धीरों ने युनानियों से जम कर लड़ा लिया, सिकन्दर एक वर्ष के घाव से मरते-मरते बचा। सिकन्दर के संकट से उन्होंने एकता का पाठ पढ़ा और मालव और क्षुद्रक संघ की एकता कई शताब्दियों तक बनी रही। १०० ई० पू० के लगभग मालव पंजाब से निकलकर अजमेर-चित्तौड़ रीक के प्रदेश में बसे और फिर वहाँ से घाते चकते हुए मध्य भारत के उस प्रदेश में भागे, जिसे घाव भी उनके नाम से मालवा कहा जाता है। १५० ई० के लगभग शकों ने उन्हें परास्त किया किन्तु २२५ ई० तक वे पुनः स्वतन्त्र हो गए। इनके शिकों पर किसी राजा का नाम न होकर 'मालवों की जय' का लेख उत्कीर्ण मिलता है।

शिवि और अम्बष्ठ—मालवों के पड़ोस में वर्तमान बीरकोट (पश्चिमी पंजाब) के पास शिवि गणतन्त्र था और क्षुद्रकों के पड़ोस में अम्बष्ठ। इन दोनों ने बिना लड़े सिकन्दर की घापीनता मान ली थी। शिवि १०० ई० पू० तक राजपूताने में चित्तौड़ के पास भाष्मिका नगरी में जा बसे थे।

अर्जुनासन—आधुनिक घागरा-जमपुर प्रदेश में २०० ई० पू० से ४०० ई० तक यह गणतन्त्र विद्यमान था। इनकी मुद्रायों पर 'अर्जुनासनों की जय' का लेख मिलता है। ये अपना उद्भव संभवतः महाभारत के प्रसिद्ध पाण्डव अर्जुन से मानते थे। इनके प्रतिरिक्त डारिका में अम्बष्ठ—कुण्डियों का भी एक गणतन्त्र था। श्रीकृष्ण इसके प्रधान नेता थे।

गणतन्त्रों की कार्य-प्रणाली

गणतन्त्रों का सारा राज्य-कार्य उनके सभा-सूत्रों या सभासदों में होता था। शासन का सर्वोच्च अधिकार केन्द्रीय समिति के हाथ में था। रोमियों की समिति में पाँच हजार तथा ब्रिच्छजियों की समिति में ७,७०७ सदस्य थे। रोम की प्रारम्भिक सोनेट की भाँति ये सदस्य कुलीन वर्ग के होते थे, बंब-नरन्धरा द्वारा समिति में बैठने के अधिकारी थे। सरकार पर केन्द्रीय समिति का पूरा नियन्त्रण था। समिति के सदस्य राज्य की करो-बोटी धानोषना लूच करते थे। अम्बष्ठ कुण्डि संघ के नेता श्रीकृष्ण ने नारद से शिकायत की थी कि मुझे धानोषकों के कटू वचन सुनने और सहने पड़ते हैं। वर्तमान युग की भाँति इनमें पार्टीबाजी और दलबन्दिन्याँ काफी होती थी। बौद्ध ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि समिति में प्रस्ताव आजकल की तरह तीन बार पेश होने के बाद पास होता था। मतगणना का कार्य राजाकायाहक नामक अधिकारी

करता था। विचारवाचस्पद प्रश्नों के लिए उद्वाहिका या निर्वाचित समिति बनाई जाती थी। प्रायः सभी नियोग बहुमत से किये जाते थे।

प्राचीन गणतन्त्रों ने भारत के सांस्कृतिक विकास में बड़ा महत्वपूर्ण भाग लिया। इनके स्वतन्त्र शासन में स्वाधीन व्यवस्थितन ने बड़ी उन्नति की। श्रीकृष्ण, बुद्ध और महावीर को गणतन्त्रों ने जन्म दिया। उपनिषदों के एक बौद्ध तथा जैन दर्शनों के विकास में इन्होंने बड़ा भाग लिया। इन राज्यों की उत्कट देश-भक्ति प्राचीन राजतन्त्रों में कहीं नहीं दिखाई देती, इन्होंने राजाओं की श्रेष्ठता सिकन्दर का व्यक्तिगत सफलतापूर्वक सामना किया। गणतन्त्रों में कृषि, व्यापार और वाणिज्य की भी बड़ी उन्नति हुई। इसमें कोई संदेह नहीं कि वैयक्तिक राष्ट्रीय विकास की दृष्टि से ये राजतन्त्रों के समान महत्वपूर्ण थे। इन्होंने विदेशी आक्रान्ताओं को देश से भगाया, जब तक वे बने रहे, भारत उन्नति करता रहा।

इनके पतन का कारण भी जापसवाल के मत में गुप्तों की साम्राज्यवादी नीति थी किन्तु जिस गणतन्त्रों ने सिकन्दर का तथा मौर्य और कुशाण साम्राज्यों का सफलतापूर्वक प्रतिरोध किया वे गुप्तों द्वारा कैसे पराभूत हुए? गुप्तों ने उनको प्रान्तरिक स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप नहीं किया, बल्कि उनका साम्राज्यवाद उनके लिए घातक नहीं हो सकता। वास्तविक कारण गणतन्त्रों की जनता में स्वतन्त्रता के लिए जागरूक न रहना, अपने नेताओं की राजकीय उपाधियों, राजसी डाढ़-काट और मानुषाधिक पद धारण करने से न रोकना था। गणतन्त्रों की एक बड़ी कमजोरी पारस्परिक दण्डवत्प्री और फूट थी। इसमें संगठन और एकता का अभाव था। उनका जातीय अभिमान इसमें अवर्धन बाधक था। उनकी दृष्टि संकुचित थी। अपनी स्वतन्त्रता पर संकट घटने के समय वे आशों की माहुरि देने की तैयार रहते थे किन्तु सिकन्दर, अशोक या कुशाणों का सामना करने के लिए मंचाक, सिन्ध और राजपूताने के गणतन्त्रों में एक होकर विशाल उत्तर-पश्चिम राज्य-संघ बनाने की कल्पना उनके मन में न आ सकी। विदेशी आक्रमणों का सफल प्रतिरोध मौर्य और गुप्त सम्राटों द्वारा ही हो सका। यद्यपि गणतन्त्र मोहकप्रिय न रहे। उपर्युक्त कारणों से वे समाप्त हो गए। आज प्राचीन गणतन्त्र तभी भारतीय गणराज्य के पथ-प्रदर्शन के लिए महत्वपूर्ण शिक्षार्थ दे रहे हैं और इनकी भली-भाँति हृदयंगम करने में ही हमारा कल्याण है।

भारतीय कला

भारतीय कला की विशेषताएँ

१. भाव-अंजनता की प्रधानता—भारतीय कला अपनी अतिरम्य विशेषताओं के कारण अन्य देशों की कलाओं से मौलिक रूप से भिन्न है। इसका मर्म मनमग्ने के लिए इनका परिचय प्राप्त करना है। उसही पद्धति विशेषता भाव-अंजनता की प्रधानता है। कला प्राकृति, प्रतिकृति और अभिव्यक्ति पर बल देने से प्राप्त तीन बड़े हिस्सों में विभक्त की जाती है। जिस कला का उद्देश्य मुख्य रूप से मौल्यमयी प्राकृतिक बनाना होता है, वह प्राकृति-प्रधान (Formal) कहलाती है। जिसमें रमणीय प्राकृतिक वस्तुओं और मानवीय रूपों की सगर्भ प्रतिकृति बनाकर उन्हें सदैव के लिए स्मरणीय बना दिया जाता है, वह प्रतिकृति-प्रधान (Representative) होती है और जिसमें किसी समूर्त भाव को अत्यन्त कृति द्वारा अभिव्यक्त किया जाए वह अभिव्यक्ति-प्रधान (Expressive) कला कही जाती है। चीजों में पहले भाव पर अधिक ध्यान दिया, उनकी कृतियाँ देखते ही हम उनके मौल्य की प्रशंसा करने लगते हैं। यूनानी तथा पश्चिमी की प्राकृतिक कला प्रतिकृति-प्रधान है, उसमें मूर्त-मूर्तों के आदर्श रमणीय रूप को हृदय में ही अन्तर में सोचने तथा चित्रण पर अधिक करने का प्रयत्न और सरासरी प्रभाव किया गया है। यही दृष्टि में ही उनकी कला-कृतियाँ प्रेक्षक को अपनी अमूर्त-प्रधान मन्त्रवादी रमणीयता से प्रभावित कर लेती हैं। किन्तु भारतीय कलाओं में ऐसी बात नहीं है, जहाँ प्राथम्य मौल्य दिखाने के अन्तर्गत प्राकृतिक भावों के अन्तर्गत को बहुत महत्त्व दिया गया है। हमें बाहरी वास्तव की ओर नहीं, किन्तु अन्तर्गत के धारण की ओर अधिक ध्यान दिया जाता है। भारतीय कलाकारों ने मनुष्य के अन्तर्गत-प्रधान, भाव-प्रधानों के मुख्य चित्रण, मनुष्य के अन्तर्गत की अन्तर्गत की अन्तर्गत पर विशेष और समाधि के दिव्य आनन्द को प्रदर्शित करने में अधिक अन्तर्गत प्रयत्न किया है। भारतीय कला में प्रतिकृति-मूलक कृतियों का सर्वथा अभाव ही, तो बात नहीं, किन्तु प्रधानता भाव-अंजनता की ही रही है। भाव की भाँति कला की भाँति ही 'रस' ही जानी जाती थी। रस की अभिव्यक्ति ही कला का परम लक्ष्य था। इसके अन्तर्गत में यूनानी तथा पश्चिमी कला अत्यन्त ही अन्तर्गत

घोर निर्जीव है, भारतीय कला कई बार उतनी गंभीर और नयनाभिराम न होती हुए भी प्राणवान् और सजीव है।

२. धर्म तत्त्व की सुस्पष्टता—दूसरी विशेषता भारतीय कला में धर्म-तत्त्व की प्रधानता है। प्राचीन काल में कला धर्म की चेंबरी थी, इसके सभी धर्मों का विकास धर्म के साधन से हुआ। मूर्तिकारों ने प्रधान रूप से महात्मा बुद्ध तथा पौराणिक देवी-देवताओं की मूर्तियाँ बनाईं, वास्तु कला का विकास स्तूपों, विहारों और मन्दिरों द्वारा हुआ, चित्र कला का प्रधान विषय धार्मिक चट्टनार्थ था। भारत में कला कला के लिए नहीं, किन्तु अहम-तत्त्व के साक्षात्कार या उसे परम तत्त्व की ओर उन्मुखीकरण के लिए थी। भारतीय कलाकारों के समुदाय विपरीत-प्रयोग में प्रवृत्त करने वाली कला कला नहीं है, जिससे आत्मा परम तत्त्व में लीन हो, वही श्रेष्ठ कला है।^१ मूर्तिकला का प्रधान ध्येय उपासकों के हित के लिए भगवान् की प्रतिमा बनाना या (साधारणतः हिताधीन ब्रह्मणो रूपकल्पनम्)। यही हास धर्म कलाओं का था। किन्तु भगवान् धर्मिक, अतिरिक्त और अत्यन्त है, इसकी सान्त्व प्रतिमा नहीं बन सकती है। अतः मूर्ति केवल उसकी प्रतीक है। भगवान् के विविध रूप हैं, अतः उनके प्रतीक भी विभिन्न होंगे। भारतीय कला इस प्रतीकात्मकता (Symbolism) में प्रीत-प्रीत है। कलाकारों का प्रधान ध्येय निरूप्य दार्शनिक तत्त्वों की मूर्त रूप प्रदान करना था। इसीलिए इनके बारे में यह कहा जाता है कि वे पहले अगमिता और दार्शनिक थे और बाद में कलाकार। उनका प्रधान उद्देश्य सूक्ष्म धार्मिक भावनाओं को स्पष्ट रूप देना था। उन्होंने सुन्दर कलाकृतियों का निर्माण किया, किन्तु धार्मिक मूल्यों की अभिव्यक्ति के लिए ही। मध्य युग के यूरोपीय कलाकारों की भाँति भारतीय शिल्पियों ने भी कुछ बनाया, प्रायः भक्ति भाव में अनुप्राणित होकर ही। अजन्ता ग्रादि के चित्रों के निर्माण वहाँ रहने वाले बौद्ध भिक्षु थे। उन्हें राजाओं को प्रमत्त करने के लिए या अपना पैर भरने के लिए नहीं, किन्तु अपने चैत्यों और विहारों को अलंकृत करने के लिए कलात्मक मूर्ष्टि करनी थी।

३. अनामता—भारतीय कला की तीसरी विशेषता अनामता है। कहा जाता है कि नाम और शोभाता की भावना महापुरुषों की अन्तिम दुर्बलता होती है। किन्तु अधिकांश भारतीय कलाकार इससे मुक्त थे। उन्होंने बिना या मूर्तियों पर अपने नाम की घोषणा की ही उत्कृष्टता से प्रसर होगा अक्षरर समझ। नाम तो कहा दिया जाता है, वही धार्माभिव्यक्ति और विज्ञान की भावना प्रवृत्त हो। उनका उद्देश्य तो दार्शनिक तथा धार्मिक भावनाओं की, तथा भगवान् की महिमा की अभिव्यक्ति थी, अतः उसमें नाम प्रवृत्त और नाम नहीं था। यही कारण है कि अजन्ता जैसे प्रसिद्ध गुप्तमन्दिरों के निक्षिप्तियों के निर्माणों के नाम होने लगे नहीं हैं।

^१ विश्वामित्रस्य सम्भवेन सा कला न कला मता ।

जीवते परमानन्दे दद्यामा सा परा कला ॥

भारतीय कलाओं का विकास—सब भारतीय कलाओं का मूल स्रोत माना जाता है किन्तु वैदिक युग की मूर्ति, चित्र, वास्तु आदि कलाओं के कोई प्राचीन अवशेष नहीं मिलते। इसका प्रधान कारण यह है कि उस समय इमारतें, मन्दिर, मूर्तियाँ प्रायः लकड़ी की बनी होती थीं, भारत के धार्मिक चलनानुसार और दीपक के प्रभाव से इनका कोई निशान नहीं बचा। भारतीय कला के पारम्परिक इतिहास पर धर्मकार का पदो पड़ा हुआ है। यह पहली बार ईसा से २,७०० वर्ष पूर्व मोटेन्जोदरो



हस्तिया के दो कदम्ब



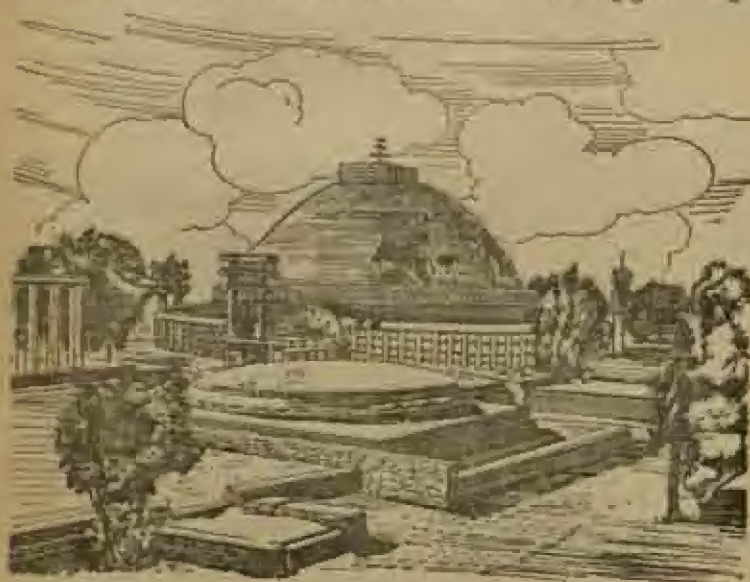
मोटेन्जोदरो की मूर्तें

में तथा दूसरी बार इसके २,४०० वर्ष बाद तीसरी बार ई० पू० में ससोंक के समय उठता है। दोनों कालों की कला सम्पन्न होकर है। उद्योग कला समर्थों की विस्तार में

बाल दिया है। मोहेज्जोद्दौला का जैक कहुद वाला बेल तथा धन्य पट्ट इतने सुन्दर हैं कि भारत के राज्यों में इनकी कला को किसी भी तरह प्रारम्भिक नहीं कहा जा सकता। हड़प्पा की दो मूर्तियाँ देनाकर तो वे इतने विस्मय हुए थे कि उन्हें पहले यह विश्वास ही नहीं हुआ कि ये मूर्तियाँ प्रागैतिहासिक काल की हो सकती हैं। इनकी सदेन इतनी सुन्दर है कि पुरानी दुनिया में यूनानी युग से पहले बेसी रचना धन्यव नहीं पाई जाती। चौबीस शताब्दियों के धन्यकार के बाद हमें फिर सीधे युग में भारतीय कला अत्यन्त परिपक्व और विकसित रूप में दिखाई देती है। सशोक स्तम्भ के शीर्ष पर धन सिंह उस समय की कला की दृष्टि से बेजोड़ है। सीधे युग से ही मूर्ति तथा वास्तु कला के उदाहरण प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं, यद्यपि इस युग में अनेक काल के कला-धर्मन्वी विकास पर सश्रिष्ट प्रकाश डाला जायगा।

सीधे युग

भारतीय कलाधी के विस्तृत इतिहास सम्राट सशोक के समय में उपलब्ध होता है। उसने बौद्ध धर्म प्रचारित करने के बाद देश में कला को पूरा प्रोत्साहन दिया, धर्म-प्रचार के लिए बहुत अधिक स्मारक बनवाये। बौद्ध धर्मधुति के अनुसार



सीधे का स्तूप

उसे दश हजार स्तूप बनाने का श्रेय दिया जाता है। वर्तमान समय में उसके उपलब्ध स्मारकों को चार भागों में बाँटा जाता है (१) स्तूप (२) स्तम्भ (३) गुहाएँ (४) राव-प्रासाद।

स्तूप—महात्मा बुद्ध की पवित्र धातु (भस्म) पर तथा उनके सम्पर्क से पवित्र स्थानों पर स्तूपों का निर्माण किया जाता था। स्तूप उल्टे कटोरे के आकार का पत्थरों या ईंटों का ठोस गुम्बद होता था। 'मैथिल काल में 'अम्' शब्द (बिना अक्षरों या अक्षरों) होकर जो गुंदा बनाने की रीति कभी आती थी, यह उसी का विविक्त विकास-नाम था।' प्राचीन स्तूपों से मौर्यस्तूपों में यह विशेषता थी कि इनमें सुरक्षा के लिए चौखूँटी बाड़ लगा दी जाती थी, बादरामें एक छत भी ऊपर स्थापित किया जाता था, चारों ओर के घेरे की अवस्थिति धर्म का रूप दिया जाता था और इस घेरे में चारों दिशाओं में चार तोरण या द्वार बनाये जाते थे। पहले कहा जा चुका है कि बौद्ध परम्परा के अनुसार अशोक ने ८४ हजार स्तूप बनवाये, उसके भी लौ गये बाद बुद्धान् ज्ञान ने भारत-भ्रमण करते हुए उसके सैकड़ों स्तूप इस देश में दबे। वर्तमान समय में इसका सर्वोत्तम स्मारक साँची का स्तूप है। इसके तोरण तो धुने धुने के हैं, किन्तु मूल स्तूप इसी धुम का है।

स्तम्भ—अशोकियों वास्तु के सुन्दरतम स्मारक स्तम्भ है। इस समय तेरह स्तम्भ दिल्ली, सारनाथ, मुजफ्फरपुर, चम्पारन के तीन गाँवों, दम्भिनदेई (बुद्ध की जन्मभूमि लुम्बिनी वन) तथा साँची आदि स्थानों में पाये जाते हैं। ये सब बुनार के लाल पत्थर के बने हुए हैं और इनके दो भाग हैं (१) लाट या प्रधान परगणा हिस्सा (२) स्तम्भशीर्ष या परगणा। समूची लाट और समूचा परगणा एकाग्रणीय या एक ही पत्थर से तराशा हुआ है। दोनों पर ऐसी शोध (पाणिप) है जिस पर से भाँव भी कियेजती है। ३,२०० वर्ष बीत जाने पर भी ऐसा धनीय होता है कि यह पाणिप सभी की गर्व है, दिल्ली वाले स्तम्भ पर बहिसा पाणिप के कारण इतनी कमक है कि शर्माक उसे धातु का समझते रहे हैं। सबहबी शरी में टीम कोरिफिट से तथा उलीसर्वाँ शरी में बिजप हेक्टर से इसे पीतल का मका हुआ समझा पा। यह शोध या पाणिप भारत की प्रसन्न कला की ऐसी विशेषता है जो दुनिया में खण्डन नहीं मिलती। इसकी प्रकिया अब तक प्रजात है और यह सम्राट के शोध-मर्मज्ञों के बाद से भारत में गुप्त हो जाती है। लाट मोल और नीचे ऊपर तक चक्र-आकार है। इस दृष्टि से चम्पारन के मोरिया मन्दिर की लाट सबसे सुन्दर है, नीचे ऊपर व्यास २५३ इंच है और ऊपर २२३ इंच। लाटों की ऊँचाई तीन से चारोंस फुट तक और भार १,३५० मन (५० टन) तक है। इन भीमकाय एकाग्रणीय स्तम्भों की गहराई, ज्ञान से अपने दिखाने तक बताई, इन स्थानों पर इसका लडा करना और इन पर परगणों का ठीक-ठीक बैठाना इस बात का प्रमाण है कि धर्मोक्तुगीन दिल्ली और इबोनिपर कारिगरी में किसी अन्य देश के शिल्पियों से कम नहीं है। इन लाटों के शोध या परगणों पर शोध मूर्ति कला अपने उत्कृष्ट रूप में मिलती है। इन पर और, हाथी, बैल या घोड़े की मूर्तियाँ कभी होती हैं। इनमें सारनाथ का शोध सर्वोत्तम है। इसे कला-मर्मज्ञों ने भारत में अब तक लोको गई इस देश की वस्तुओं में सर्वोत्तम बताया है। महात्मा बुद्ध के धर्मवक्त प्रवर्तन के स्थान पर इस स्तम्भ की लडा किया

गया था। इनके दीर्घ पर चार सिंहों की मूर्तियाँ हैं और उनके नीचे चारों दिशाओं में चार पहिले धर्म-चक्र-प्रक्षालन के सूचक हैं। पहले इन सिंहों पर भी एक बड़ा धर्म-चक्र था। "सिंह पीठ से पीठ सटाते चारों दिशाओं की ओर दृढ़ता से बैठे हैं। उनकी आकृति भव्य, दलंतीय और मोरचर्या है, जिसमें आत्मना और वास्तविकता का सुन्दर सम्मिश्रण है। उनके महीने धर्म-प्रत्यंग समन्वित हैं और वे बड़ी शक्ति से बड़े गए हैं। उनकी चहुराती हुई लहरदार केसर का एक-एक बाल बड़ी सुव्यवस्था और शास्त्र से दिखाया गया है। इनमें इसकी नवीनता है कि वे घाज के बने प्रतीत होते हैं।" इन मूर्तियों की कलाविदों ने मुक्त-कंठ से प्रशंसा की है। स्मिथ ने लिखा है कि 'संसार के किसी भी देश की प्राचीन पशु-मूर्तियों में इस सुन्दर कृति से उत्कृष्ट या इसके टक्कर की चीज पाना असम्भव है। सर जॉन मार्शल के शब्दों में 'शीली एवं निर्माण-शक्ति की दृष्टि से ये भारत द्वारा प्रभूत सुन्दरतम मूर्तियाँ हैं और प्राचीन जगत् में इस प्रकार की कोई कस्तु नहीं जो इनसे बचकर हो।' भारत ने स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद इन्हीं मूर्तियों को अपना राज-चिह्न बनाया। रामगुरुवा (जि० जम्हारन) के स्तम्भ-दीर्घ पर बनी गुप्तमूर्ति बड़ी शनीय और शोचनीय है।

गुहाएँ—अशोक तथा उसके तीन वंशज ने जिह्मियों के निवास के लिये गुहा-गृहों को खूदवाया था। ऐसे गुहाएँ गया के १६ मील उत्तर में बराबर नामक स्थान



बराबर (जि० गया) में अशोक की खनवाली जामराज्य की गुहा

कर मिली है। ये बहुत ही कठे तेलिया पत्थर (Gneiss) से न केवल प्रतीरथ परिश्रम से काटी गई हैं अपितु सुदाई या बज्जसेव द्वारा 'सोरो की धाति' जमकाई भी गई है। यहाँ पुरानी सोप की कला अपनी पराकाष्ठा तक पहुँची हुई है।

प्रासाद—गादालिबुल में अशोक ने बहुत ही भव्य राज-प्रासाद बनवाए। ये सात-आठ शतियों तक धने रहे। पाँचवीं शती में कालिदान ने इनके निर्माण-बीजाल की प्रशंसा करते हुए लिखा था कि ये मनुष्यों के बनाने हुए नहीं हो सकते, इनकी रचना देवताओं ने की है। सम्भवतः ये महल लकड़ी के थे, अतः सुदाई में इनके समाजलेखों के प्रतिरिक्त कुछ नहीं मिला।

सातवाहन युग

सौर्यो के पतन से मुष्यों के उदय तक की पाँच शतियाँ भारतीय कला के इतिहास में बहुत महत्वपूर्ण हैं। इस समय सौर्यो, भारहुत, बुड गया, पाण्धार, मधुरा तथा समरावती और नागार्जुनीकोण में विभिन्न प्रकार की कला-शैलियों का विकास हुआ। इनमें पहली तीन ती प्रभावतः पुंगकाय (१५८ ई० पू०—३० ई०) से संबद्ध हैं और दोन कुषान-सातवाहन (पू०—३०० ई०) से। इन दोनों कालों की एक बड़ी भेदक विशेषता यह है कि पहले काल में बुड की कोई प्रतिमा या मूर्ति नहीं बनी, उन्हें सर्वथ चरण, लभ, पादुका, धर्मचक्र, धामन, कमल या स्वस्तिक के संकेत से प्रकट किया गया। किन्तु दूसरे काल में इनकी मूर्तियाँ शुरू बनने लगीं। दूसरी विशेषता यह है कि भारहुत, सौर्यो और बुड गया के कलाकारों का विषय वस्तु विबुड है, इनका उद्देश्य मूर्तियों की सज्जक करना है किन्तु मूर्तियाँ धार्मिक न होकर बचाव-बायी, प्राकृतिक और ऐन्द्रियिक हैं। इनमें धर्मवृत्त की प्रकाशता नहीं, किन्तु शोक-बीजन का गहवा प्रतिबिम्ब है। यह कला-बीज धर्म के द्वारा अनुप्राणित नहीं, प्रत्युत उस समय प्रचलित लोक-कला का बीज धर्म की बोधप्रकताओं के अनुसार बदता हुआ था।

भारहुत—सम्राज्य के नामोद राज्य में दूसरी ४० ई० पू० के मध्य में भारहुत में एक विद्याल स्तूप की रचना हुई। बुभाभवम यह स्तूप विष्वस्त हो चुका है; किन्तु इसे घेरने वाली पत्थर की दीवारों (विष्टमियों) का कुछ भाग और उनका एक संरक्षण शालकता के भारतीय समहालय में सुरक्षित है। इसने भारतीय कला में एक नई प्रवृत्ति की सूचना मिलती है। शरीरकलाशील बीज-कला कागुत गारी की, उसमें पशु-मूर्तियों की प्रधानता थी, किन्तु नई कला में बुड के जीवन से सम्बन्ध रखने वाले दृश्यों को पत्थर में तराशा जाने लगा। भारहुत की पत्थर की बाइ ऐसे ही मूर्ति-शिल्प में प्रयुक्त है। इसमें प्राया दर्जन से बुड के शरीर में संबद्ध ऐतिहासिक दृश्य हैं और पालीय के सगजग जालक कलाओं का संकेत है। इनके दृश्यों के नीचे मूर्ति का विषय मिला हुआ है। पहले प्रकार के दृश्यों में जेतवन का दान विशेष रूप से उत्प्रेक्षनीय है। भारहुत कला में पशु-पक्षियों, नागराज और जानवरों की मूर्तियाँ

बड़ी सजीव और स्वाभाविक है। उनमें केवल मणित भाव के ही नहीं, अपितु हान्य एवं के भी प्रत्येक चित्र है। जातक दुश्मनों में बन्दरों की मौतए हैं। एक स्थान पर बन्दरों का दल एक हाथी को गाँजे-गाँजे से मारे जा रहा है। एक बड़े दुष्ट भी कम होती का नहीं है, जिसमें एक मनुष्य का दाँत हाथी द्वारा खींचे जाते जाते एक बड़े नारी संघामे से उखाड़ा जा रहा है। मारहुत के चित्र हमारे प्राचीन भारत के सामोद-प्रमोदपूर्ण लोक-जीवन का वास्तविक दिग्दर्शन कराते हैं, उनमें धर्मग्रन्थों के दुःख और निराशावाद की झलकी-सी झलक भी नहीं है। कला की दृष्टि से, मारहुत की मानवीय सुतिमा आकार और आसन में दोषपूर्ण हैं, उनमें खटापन है, किन्तु समय का ये वे उत्कालीन धार्मिक विश्वास, पहनावे आदि पर सुन्दर प्रकाश डालती हैं।

बुद्ध भग्ना के प्रसिद्ध मन्दिर के चारों ओर एक छोटी बाड़ है। यह संभवतः पहली स० ई० ५० की है। इस पर घने कमलों और प्राणियों के अवलम्बन मारहुत जैसे हैं; किन्तु उसकी अपेक्षा अधिक सुन्दर हैं और यह सूचित करते हैं कि इस समय तक कला काफी उन्नत हो चुकी थी।

साँची—यह बुद्ध भग्ना से भी अधिक उत्कृष्ट शिल्पकला का जोतक है। इसमें तीन बड़े स्तूप हैं और सोमाम्बरेश काज के कुर आधात होने पर भी काफी अच्छी अवस्था में हैं। समोक्तकालीन प्रधान स्तूप के ४४ फीट ऊँचे धर्म शोभाकार गुम्बद के चारों ओर भस्वर की भव्य प्रदर्शिका के लिए पथ है तथा पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण में चार तोरण या द्वार हैं। प्रत्येक द्वार भौदह कुट ऊँचे दो वर्गाकार स्तम्भों से बना है, इनके ऊपर बीच में से तलिक कमालोंदार तीन बहेरियाँ हैं। साँची में स्तूप की श्रेष्ठता तो साँची है, किन्तु चारों तोरण भांगहुत की शक्ति बुद्ध-जीवन की तथा जातक दुर्गों की चित्ति करने वाली सुतिमाँ से जलहुत हैं। बहेरियों पर सिंह, हाथी, धर्मचक्र यज्ञ, विरल के चिह्न हैं। इनमें विपरीत दिशाओं में मुँह किये ऊँ, हिरन, बैल, और, हाथी आदि के जोड़े बड़ी सफाई और वास्तविकता से बने हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि भारा पशु जगत् जगवान् बुद्ध की उपासना के लिए उसक पड़ा है। जग्मे के निचले हिस्से में द्वार-रक्षक यज्ञ बने हैं। जग्मा पूरा होने पर बहेरियों का बौध होने के लिए अन्दर की ओर चौमुँहे हाथी तथा बीने बने हुए हैं तथा बाहर की ओर बुधवासिनी यक्षिणियाँ या नृसिंहए। इनकी भाव-मयी बड़ी मनोरम है। साँची की सुतिमाँ और विषम मारहुत जैसे हैं; किन्तु इनके शिल्पियों ने मारहुत के सुतिकारों की अपेक्षा शिल्ल तथा कलात्मक कला में अधिक प्रोझता प्रदर्शित की है, मनुष्यों की विभिन्न भासनों तथा भाव-प्रतिकों में अधिक सफाई से दिशाता है, इनमें सरल और सुस्पष्ट रूप से पापाय में बौद्ध कथाओं और भावों को प्रतिबिम्बित करने का अधिक सामर्थ्य है। मारहुत की भाँति, यह स्तूप भी उस समय के लोक जीवन और संस्कृति का विश्व-जोत है।

सधुरा जीतो—सधुरा महातीर्थ, व्यापारिक केन्द्र तथा कुशाओं की राजधानी होने से इसी की पहली शक्ति में कला का एक महान् केन्द्र था। सुमेकान में सधुरा

भारत की लोक-कला तथा सौवी की उत्पत्ति सैली साव-साव चल रही थी। कुशाण-काल में यह एक हो गई। पुरानी कलाओं में जपरूपन अधिक था, यह इस युग में दूर हो गया। किन्तु भारत के अभिप्राय (motif) और चरित्रकरण बने रहे। मथुरा के इस काल की समस्त मूर्तियाँ मिली हैं, यह उनका अग्रिम कोश प्रतीत होता है। ये सभी मूर्तियाँ सफेद चिली वाले गाल खादार परपर की हैं। मथुरा सैली के पुराने और पिछले दो बड़े भाग किये जाते हैं। पुराने काल की मूर्तियाँ लगभग भाङ्गुल-बैली और काफी समान हैं। किन्तु पिछले काल में वे बहुत परिष्कृत हो जाती हैं और इनमें एक महत्त्वपूर्ण नवीनता बुद्ध की प्रतिमा है। बुद्ध की शिक्षा मूर्ति-पूजा के विरुद्ध थी, चिरकाल तक उनकी मूर्ति नहीं बनी, भारत और सौवी में यही स्थिति थी, किन्तु भक्त भगवान् के दर्शन के लिए छटपटा रहे थे। वे उनकी मूर्ति चाहते थे। मथुरा के कलाकारों ने उसे प्रस्तुत करके जल-साधारण की आकांक्षा को पूरा किया। बुद्ध की मूर्ति बनने से भारतीय कला में भूषांतर हो गया, भगनी कई बातों तक भारतीय चिली बुद्ध की मूर्तियों द्वारा इस देश के आध्यात्मिक विचारों की उन्नतता अभिव्यक्ति करते रहे।

गान्धार सैली—जिस समय मथुरा के मूर्तिकार भगवान् बुद्ध की प्रतिमा बना रहे थे, लगभग उसी समय उत्तर पश्चिमी भारत (गन्धार) में कुशाण राजाओं के प्रोत्साहन से वहाँ के मूर्तिकार एक विशेष प्रकार की बुद्ध मूर्तियाँ बनाने लगे। ये सब प्रायः काले स्लेट के परपर की जा कुछ जुने भगवान् की बनी हैं। इस तरह की हजारों मूर्तियाँ अफगानिस्तान, तत्तखिला, उत्तर पश्चिमी चीमा प्रान्त से मिली हैं। इनका समय ५०—३०० ई० तक माना जाता है। प्राचीन गान्धार देश में विकसित होने के कारण, इन मूर्तियों को सैली को गान्धार सैली कहा जाता है। सरकारी तौर से देखने पर इनका सम्बन्ध यूनानी कला से प्रतीत होता है। प्रायः इसे हिन्द-यूनानी (Indo-Greek) कला भी कहा जाता है। यूनान की सम्मता का साहित्यिक समझने वाले यूरोपियन विद्वानों ने इस सैली को असाधारण महत्त्व दिया है, प्रायः वे दो-तीन दशक पहले प्राचीन भारत में केवल यही सैली की वास्तविक कलात्मक सैली समझा जाता था, अब तक उनके कलाविदों की यह धारणा है कि समय भारतीय मूर्तिकला का मूल यही है, किन्तु नई खोजों में यह बात अभी ज़ाति सिद्ध हो चुकी है कि इन सैली का महत्त्व अत्युक्तपूर्ण है। इसका परवर्ती कला पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। गान्धार सैली के मूल तत्त्व भारतीय है, इसमें यूनानी मूर्ति-कला की वास्तविकता और भारतीय कला की भावमय आध्यात्मिक अभिव्यक्ति के सम्मेलन का प्रयत्न किया गया किन्तु इन दोनों के विजातीय होने से वह असाफल्य हुआ और वह सैली स्वयमेव असाध्य हो गई।

गान्धार सैली की मूर्तियाँ अपनी कई विशेषताओं के कारण अट पहचानी जाती हैं।

इनकी पहली विलक्षणता मानव शरीर का वास्तववादी दृष्टिकोण से संकेत है, इसमें संग-प्रत्यंग और मांस-पेशियों की अधिक सूक्ष्मता और शुद्धता के साथ चित्रित किया गया है।

दूसरी विशेषता यह है कि मूर्तियों को मोटे कपड़े पहनाये गए हैं तथा उनकी सतहों वही सूक्ष्मता से दिखाई गई है। इस चीजों की कुछ मूर्तियाँ भारत में अत्यंत पाई जाने वाली प्रतिमाओं से बिल्कुल भिन्न हैं, ये प्रायः बुद्ध या बोधिसत्व की शरीर से बिल्कुल मोटे, संग-प्रत्यंग दिखाने वाले होने या सर्व पारदर्शक वस्त्रों में चित्रित करती हैं, और उन्हें आदर्श मानव के रूप में प्रकट करती हैं। मूर्तियों के लिए मनुष्य और मनुष्य की बुद्धि सभी कुछ थी, उन्होंने देवताओं को भी मानव रूप प्रदान किया: वे भारतीय देवताओं में भ्रष्टा रखते थे, उन्होंने इन देवताओं की मानव बना डाला। यही कारण है कि यूनानी कला वास्तववादी (Realist) है और भारतीय आदर्शवादी (Idealist)। पहली भौतिक है और दूसरी आध्यात्मिक। साम्यवाद दोनों में इन दोनों का सम्मिश्रण था। गन्धार कलाकार की प्रार्थना और हृदय भारतीय था, किन्तु बाह्य शरीर यूनानी था। यह दोनों मध्य स्थिति होती हुई चीन और जापान तक पहुँची तथा इसने उन देशों की कला को प्रभावित किया। पहले यह समझा जाता था कि बुद्ध की मूर्ति सबसे पहले इन्हीं कलाकारों ने बनाई, भारतीयों ने इसका अनुकरण किया। किन्तु अब यह सिद्ध हो सम्भव हो चुका है। हम पहले देख चुके हैं कि मनुष्य के मूर्तिकारों ने इसका स्वतन्त्र रूप से विकास किया। दोनों में भारी अन्तर है। पहली आदर्शवादी है, उसमें भौतिक सौन्दर्य और संग-नौष्ठ पर अधिक ध्यान दिया गया है, दूसरी आदर्शवादी है, इसमें मार्मिक रचना की अंग्रेज मुख-व्यञ्जन पर दिव्य दीप्ति दिखाने का अधिक प्रयत्न है।

समरावली घाटी—दूसरी य० उत्तरार्ध से दक्षिण में झुप्पा नदी के निचले भाग में समरावली (जि० गुफूर), जगम्यापेट और नागाजुनी बोंडा में एक विविष्ट घाटी का विकास हुआ। समरावली में न केवल स्तूप की बाड़ या वेष्टनी संगमरमर की थी; किन्तु चारा मुम्बर इसी पत्थर के शिखान्तकी में बना हुआ था। भारहुत की भाँति इसकी सारी बाड़ मूर्तियों में घातिल थी। किन्तु ये यहाँ की मूर्तियों से कई दृष्टियों से भिन्न है। इसमें बुद्ध को जमीनों तथा मूर्तियों दोनों प्रकार से व्यक्त किया गया है, यतः वह बाह्य और नाँबी तथा माँस और साम्य-कलाकी का संकीर्ण आल-माना जाता है। यही बुद्ध भगवान की श्रवः फुट में जैसी लड़ी मूर्तियाँ बहुत ही सम्भीर उदासीन और वैराग्य भाव से परिपूर्ण हैं, यहाँ बड़े बड़िन घातनों में मुम्बर पतली और घसल बाहलियाँ भोजित हैं, दूसरी में बहुत अधिक खोरा भरने का फल किया गया है, कल्पितियों और पुष्पों के विविध कमलों के घर्तकरण बहुत सुन्दर हैं। सारी कला भक्ति-भाव से प्रेरित-प्रोत् है। बुद्ध के धरम-विह्व के सम्मुख नत उपासि-काओं का दृश्य बहुत अच्छा है। हान्दरज की भी लगी नहीं है। ऐसा अनुमान है कि

अबत हजार वर्षों पूर्व से इस प्रकार की मूर्तियाँ बनी हुई थीं। अलग-अलग स्थानों में सर्वत्र संवत्सरम्बर का यह स्तूप बहुत ही अलम्ब रहा होगा, दुर्भाग्यवश जो वर्ष पहले बना जाने के लिए इतना बहुत बड़ा भाग फूट कर बिगा गया।

गुप्तकाल में ही तापाजुनी कौशा नामक स्थान पर एक अन्य स्तूप मिला है। इसका मिल्प समरावती-बैसा उत्कृष्ट नहीं। कुछ जगह का एक सुन्दर दृश्य वहाँ से मिला है। इसकी तथा समरावती की मूर्तियों पर कुछ रोमन प्रभाव है।

सातवाहन युग की वास्तु-कला प्रधानतः पहाड़ों की चट्टानों में काटी हुई गुहाएँ हैं। इनके काटने की पद्धति तो यज्ञोक्त के समय से शुरू हो गई थी, किन्तु उस समय तक वे सारे कमरे थे, अब उन्हें स्तम्भ-निकलियों तथा मूर्तियों से अलंकृत किया जाने लगा। वे प्रायः दो प्रकार की होती थीं, चौख और बिहार। चौख तो उपासना के लिए सुन्दर मन्दिर या और बिहार भिक्षुओं का निवास-स्थान। चौख एक घाघताकार पगडण मा बड़ा हाल (Hall) होता था, इसमें दोनों ओर दो स्तम्भ-निकलियाँ और अन्दर घट्टताकार गिरे पर एक छोटा-सा स्तूप होता था। सामने की दीवार और दरवाजों पर चित्र बने होते थे। बिहारी में एक केन्द्रीय हाल के चारों ओर कोठरियाँ होती थीं। चौख-गुहाएँ काले, कच्चे, भाँजा, ताँसिका आदि स्थानों पर महाराष्ट्र में पाई गई हैं। वहाँ उन्हें 'सेम' कहते हैं। इनमें सबसे सुन्दर कालीमेण है। उड़ीसा में इस प्रकार की गुहाएँ गुम्फाएँ कहलाती हैं। वे सब जीव-मन्दिर हैं।

सातवाहन युग में कुछ स्तम्भ भी बने। इनमें दूसरी शती ई० पू० का बिदिगा के पास बनायी राजदूत हेमिषोदोर द्वारा स्थापित महाध्वज सबसे अधिक प्रसिद्ध है। किन्तु इन स्तम्भों ने यज्ञोक्तकालीन प्रभाव नहीं। इन काल में पिछले युग की भाँति गुम्फा मनु-मूर्तियाँ भी नहीं बनीं, किन्तु इस काल की सबसे बड़ी जैन गुम्फा की मूर्ति सदा अलम्ब मानवीय मूर्तियाँ और गुहामन्दिर हैं।

गुप्त युग

गुप्त युग में भारतीय कला अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गई। हमारी कला के चरम विकास के धरणा के विभिन्न चिह्नों-जैसे अनेक सुन्दर उदाहरण इसी युग के हैं। अनेक प्रतिमों की वाचना के बाद इस समय तक भारतीय शिल्पियों का हाथ उल्लास मग गया का हि वे जिन वस्तु या विषय को लेते उसमें जान डाल देते थे। उनकी सुविकसित मीन्द्र-भाषना, परिभाषित एक छोटी कल्पना तथा अद्भुत रचना-कौशल ने ऐसी प्रतिमों को जन्म दिया, जो भारतीय कला के क्षेत्र में 'न मुझे, न भाँजी' रचनाएँ थीं। वे धर्मके युग में साधने का काम लेती रहीं। गुप्त कला में न तो पिछले कुशाण युग की प्राकृतिक ऐहिकता है और न परवर्ती मध्य युग की प्रतीक-मय अमूर्त भावना। इसमें दोनों का संतुलन और सामंजस्य है। कुशाण-मूर्तियों के पारदर्शक परिधान का लम्बे शरीर के नग्न शरीरों को प्रकट करना था,

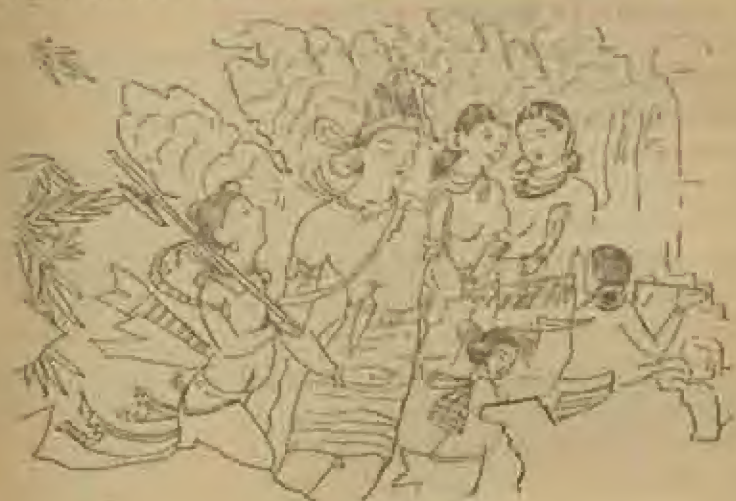
गुप्त काल के भीगे वरन इसे परावरण ढाकने वाले है । गुप्तों से पहले कला अलंकरणों की अधिकता है । इनमें भार से कला दबी जा रही थी । गुप्त विनिर्वा ने इसे कम करके कला को अधिक सरल और मजबूत बनाया । उनका प्रधान उद्देश्य कला द्वारा उच्चतम आध्यात्मिक भावों की अभिव्यक्ति थी और इनमें के पूर्ण रूप के संकलन हुए हैं । इस युग के चित्रण में अद्भुत भावीप्रकटा है । आन्नात्मिकता, मानवीय, समर्पणता, नालित्य, संयुक्त, शोक और समीपता की दृष्टि से गुप्त कला अद्वितीय है ।

गुप्त मूर्ति-कला की सबसे बड़ी देन बौद्ध तथा पौराणिक देवताओं की आदर्श मूर्तियाँ हैं । सारनाथ और मथुरा से बुद्ध की अनेक प्रतिमाएँ मिली हैं और भीमो जिले के देवगढ़ मंदिर से शिव, विष्णु आदि हिन्दु-देवताओं की । इनमें सारनाथ और मथुरा की दो बुद्ध-प्रतिमाएँ तो भारत की मूर्तियों में सर्वश्रेष्ठ समझी जाती हैं । इनमें आध्यात्मिक भावों की जितनी सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है, वैसी अन्यत्र बहुत कम देखने की मिली है । इनमें इनके उत्तुल्ल सुखमण्डल पर अपूर्व प्रभा, कोमलता, सम्भीरता और शांति है । मथुरा वाली मूर्ति में कल्याण और आन्नात्मिक भाव का अपूर्व सम्मिश्रण है । गुप्त युग की एक बड़ी विशेषता यह है कि इसमें बुद्धि और भावना में संतुलन है; आध्यात्मिक अभिव्यक्तियों के साथ-साथ शोण्डर्ष बुद्धि और समानुपात का पूर्ण ध्यान रखा गया है । बाद की कला मानवता की प्रधानता और अलंकरणों के प्राचुर्य से एकान्ता हो जाती है ।

चित्रकला—गुप्त कला केवल पार्थिक भावों की अभिव्यक्तियाँ तक ही सीमित नहीं थी । अजन्ता के चित्रचित्रों से यह अनेक-भाति ज्ञात होता है कि भारतीय कलाकारों ने मानव-जीवन का कोई क्षेत्र छोड़ा नहीं छोड़ा था । यहाँ हमें भारतीय चित्रकला के सर्वप्रथम और सर्वोत्तम रूप में दर्शन होते हैं । यद्यपि इनका विषय पार्थिक है, अभिप्राय विश्व विरचकला के भावों से ओत-प्रोत है तथापि सामाजिक जीवन और चरमकर जगत् के सभी पहलुओं की यहाँ चर्चा है । अजन्ता के चित्रों में मैत्री, करुणा, प्रेम, कोप, परजहा, ज्ञान, उत्साह, चिन्ता, श्रृंखला आदि सभी प्रकार के भाव, पक्षपाति अवलोकितेश्वर, प्रणाल तपस्वी और देशीय राज-नरिन्दर से लेकर कुर व्याध, निर्दय वीरक, साधुवेद्यमारी धूर्त, वाग्जनिता आदि सब तरह के मानव-मोद, समाधि-मग्न बुद्ध ने प्रकट-कीर्ति ने रत दम्पति और श्रृंखला में सभी नारिणों तक का सबके मानव-व्यापार अंकित है । अजन्ता के चित्रों की यह बहुविधता आश्चर्यामय है ।

अजन्ता में तीस प्रकार के चित्र हैं—संस्करण-आत्मक, व्यक्ति चित्र (Portrait) तथा भवनात्मक । संस्करण के लिए अजन्ता में आनन्द, अरुणकर तथावलि, पुष्पो, पैवो; पशुओं की मातृजिनी बनी हैं, इनके अत्यन्त श्रेष्ठ हैं और कोई एक चित्रा-इन द्वारा नहीं दोहराया गया । चित्रा अत्यन्त सरले के लिए अल्पशब्दों गन्धर्वों, गन्धी

को सुन्दर प्रतीत है। व्यक्ति-चित्रों में मधुनाथि अन्नमोक्तेश्वर व नेपाल भारतीय



अन्नमोक्तेश्वर का एक चित्र



अन्नमोक्तेश्वर का चित्र

अनु एशियायी चित्रकला का सुन्दरतम उदाहरण समझा जाता है। अन्नमोक्तेश्वर

चित्रों में जासकों के दृश्य हैं। इनकी भाव-व्यंजना में प्रकृति के चित्रकारी ने समाज का कोशल देखाया है। सोलहवीं शताब्दी की 'प्रियमाण राजकन्या' के दृश्य को चित्रक प्रभृति पाश्चात्य चालीसकों ने मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। चित्रकला और कला के भावों की दृष्टि से कला के इतिहास में इससे बढ़कर कोई उदाहरण मिल नहीं। फ्लोरेंस चित्रकारी चित्रकार इसका प्रालेखन (Drawing) अधिक अच्छा कर सकता था, वेनिस का कलाकार इसमें अधिक अच्छा रंग ला सकता था, किन्तु इन दोनों में से कोई भी इसमें इससे अधिक भाव नहीं भर सकता था। कुछ महाभिनिष्क्रमण (इमेल्यम), मार्-नवजय, यशोधरा द्वारा गहल की भिक्षा रूप में देने के दृश्य बड़े हृदय-साही हैं। सर्वनाश का संदेश देने वाले कुछ के चित्र में चित्रकार ने कुछ रेखाओं द्वारा उसके हृदय भावों की सुन्दर अभिव्यक्ति की है। उसका उदास चेहरा, घटते चेहरे और हाथ की मुद्रा ही में वष-दुर्घटना को सूचना दे रहे हैं।

प्रकृति-जैसे चित्र-बाध (स्वाँ पर राज्य) गिस्तखामल (पुद्गु, कोटा) तथा सिगिरिया (नका) में भी मिले हैं।

मुक्त युग की एक बड़ी कला मूर्तमूर्तियों और गकाई मिट्टी के मलक के। इनका सौन्दर्य और सौकता धातु की मूर्तियों में भी बना-बका है। इस कला का एक सुन्दर उदाहरण पार्सली-मलक है।

मुक्त युग की वास्तु कला मूर्ति या चित्र कला के समान उन्नत न थी। इस समय के प्रधान मन्दिर भूमरा (नागोद), नखनाकूमर (अजयगढ़) मितरगोव (कानपुर) और देवगढ़ (भीखे) में मिले हैं। ये बहुत छोटे और बिल्कुल सादे हैं, इनमें मन्दिर या कलश केवल पिछले दो मन्दिरों में ही मिलता है।

मध्य युग

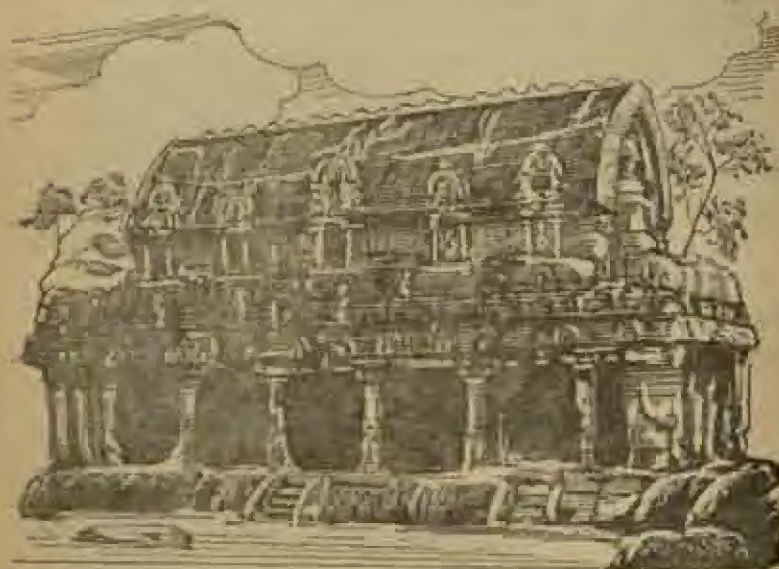
मध्य युग की भारतीय कला की सबसे बड़ी विशेषता वास्तु का विशेष विकास है। इस युग में वास्तु कला की विभिन्न शैलियों का विकास हुआ, स्वदेश तथा विदेश में भव्य मन्दिरों का निर्माण हुआ। इस समय बन्यता भारतीय मूर्ति और स्थापत्य कला करने सबसे मनोरम रूप में प्रकट हुई। उसमें मुक्त युग का धीरे-धीरे नवीनता हो नहीं रही, किन्तु साक्षिण बहुत बढ़-बढ़ा। मध्य युग की दो बड़े भागों में बाँटा जाता है—पूर्व मध्य काल (१०००-१२००) तथा उत्तर मध्य काल (१२००-१५००)। पूर्व मध्य काल में कला काफी उन्नत रही, किन्तु हमारे ज्ञान में अनेक-कल्पों पर बहुत घट जाता जादि लगा। तत्पश्चात् के प्रभाव से कुछ म्मानों पर भारतीय मूर्तियों की प्रभावता मिली। मूर्तियों एवं मन्दिरों के मालिकों में पाले-जैसी पुरानी मौलिकता गुप्त हो गई, वे पुरानी मूर्तियों का धारण करते हुए अपनी रक्तार्थों को अधिक-से-अधिक महकीला बनाने का कार्य करने लगे। "यह सौन्दर्य नहीं किन्तु कमलार का युग है। इनकी कृतियों में कला नहीं, कला-बाध है।" चित्रकला भी इस काल में ह्यामेल्युस हुई और उसमें धातुस जैसी प्रधान हुई।

वास्तु कला की दृष्टि से इस काल के मन्दिरों के दो बड़े नेट किये जाते हैं। ऊपर भारतीय धीरे-धीरे। इनका प्रधान अन्तर शिखर-विभक्त है। पहली सैली में देवता की मूर्ति वाले गर्भगृह की छत ढोंग, बकरेसारभक्त (Curvilinear या पसरसार) हुई की-तरह होती है, जो ऊपर की ओर छोटा-छोटा घना जाता है। इसके ऊपर सामान्य होता है और इन पर कला धीरे-धीरे स्थापित किया जाता है। द्वितीय-सैली के मन्दिरों में गर्भगृह का ऊपरी भाग या विमान चौकोर तथा कई मंजिला होता है, अनेक ऊपर की मंजिलें निचली से कुछ छोटी हो जाती हैं और इनकी प्राकृति पिरामिड के सदृश होती है। इसके ऊपरी सिरे पर गोले पत्थरों की टोपी होती है। विमान की इस विभिन्नता के प्रतिरक्त द्वितीय मन्दिरों में गर्भगृह के प्राये मण्डप या अनेक स्वम्भों वाले हांक-होते हैं तथा मन्दिर के घेरे के एक या अधिक द्वारों पर एक बहुत ऊँचा अनेक देवी-देवताओं की मूर्ति वाला गोपुर रहता है। शिखरों, विमानों तथा गोपुरों की मूर्तियों से सब अलंकृत किया जाता था। इस काल के प्राये सैली के मन्दिर लिंगराज अथवा शिव (देवीमा) तथा लक्ष्मणराज (मान प्रदेव) में हैं, इनमें से अनेक ऊपर से लीने तक विविध प्रकार की प्रतिमाओं और अनेक ली से सुशोभित होने के कारण अत्यन्त भव्य हैं। द्वितीय सैली के मन्दिरों में माण्डलपुरम् (जिबलपुर जिले में महाबलिपुरम्) काञ्चीवरम्, एलोरा, तंजीर, बेतूर तथा धर्मपुर गोवा (वि० हसन मैसूर राज्य) और श्रीरंगम् (चिन्ननापल्ली) अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इस काल में वास्तु तथा मूर्ति कला का अत्यन्त सम्बन्ध होने से दोनों का साथ-साथ वर्धन किया जायगा।

पूर्व मध्य काल (६००-८०० ई०)—इस युग की मूर्ति कला की प्रधान विशेषता घटनाओं के बड़े-बड़े दृश्यों का सकल छकन है। सातवाहन तथा गुप्त युगों में घटनाएँ बहुत सङ्क्षिप्त शिखा-धनकी पर उत्तरीयों की जाती थी, यह भारतीयों ने एक ओर कहीं मन्दिरों के लिए पहाड़ काटने शुरू किए, वहीं दूसरी ओर दूसरों के सङ्गत के लिए भी फूट ऊँची शिखरें कटाने लगीं। इस समय तक उनका ध्यान उतना मध्य युग का था कि उनकी छोटी ने दुर्गा-माहिषानुर, मुद्रा, शिव का त्रिपुरदाह, रावण द्वारा कैलाश के उड़ाने-जैसे बड़े-बड़े दृश्यों को काटी गति, धर्मपुर और तंजीरारा के साथ मराठा है। इस युग के तीन प्रधान मूर्ति-केन्द्र अत्यन्त प्रसिद्ध हैं—(१) माण्डलपुरम्, (२) एलोरा (३) एलिफेन्टा।

१. माण्डलपुरम्—पल्लव राजा महेंद्र वर्मा (लग० ६००-६२५ ई०) तथा उसके पुत्र नरसिंह वर्मा ने (लग० ६२५-६२० ई०) दक्षिण में कांची के सावने, इस स्थान पर समुद्र-तट पर एक-एक बहुत ही कठोरकर विमान मन्दिर बनवाये। इनमें 'रत्न' कहा जाता है। वे समार की सङ्घटित वस्तुओं में से हैं। इनमें से सात रत्नों (मन्दिरों) का एक-समूह सात एलोरा के नाम से विदित-विख्यात है। इनके नाम पाण्डवों के नाम पर भर्मासक रत्न, भीम रत्न आदि हैं। विमानकाय बहुतनी से कटे गये वे प्रकारभीम मन्दिर पल्लवों की वास्तु और मूर्ति कला के सर्वोत्तम-उदाहरण हैं।

यह स्मरण रखना चाहिये कि जैसे हमें उत्तर भारत में भीखुन में भूरा को प्रति-
कला सबसे पहले धर्मगत उन्नत विकसित रूप में मिलती है, वैसे ही दक्षिण भारत



माहल्लपुरम का कलासम मन्दिर

का लक्षण-दिखा इन मन्दिरों में सर्वप्रथम प्रौढ़ रूप में दिखाई देता है। यह कई शक्तियों के विकास का परिणाम है, इसके सार्वभौमिक उदाहरण सन्तों पर बने होने से स्पष्ट हो चुके हैं।

माहल्लपुरम के 'रम' दक्क शैली के कई शक्तों में ऊपर उठते हुए मन्दिरों के प्राचीनतम उदाहरण हैं। इस परलंब शैली का बाद में न केवल समूचे दक्षिण भारत, किन्तु कुतलर भाग के जावा, कम्बोडिया, चनाम आदि देशों में प्रचार हुआ। माहल्लपुरम की शक्तियों में मल्लिकार्जुन से पुत्र कर्णो हुई दुर्गा की प्रतिमा में बड़ी प्रति शीतलशक्ति है। सबसे प्राचीनतम शक्ति भगीरथ की लक्ष्मी का रूप है। वह ६० फुट लम्बी, ४३ फुट चौड़ी विशाल शक्ति चट्टान पर काटी गई है। कलास-माहल्लपुरम भगीरथ शैली के शक्त पर लक्ष्मीरूप के लिए लक्ष्मी-मन्त्र है, फारा दिव्य और लक्ष्मी—यहाँ यह कि लक्ष्मी-मन्त्र उनका साथ दे रहा है। यह विशाल प्रभावशाली रूप बहुत ही भावपूर्ण और वास्तविक है। उसमें का रूप और रम लक्ष्मी कला की उत्कृष्टता की समस्त कोटि-वसाता है और दक्षिण इन चित्तियों के विस्मयनाह कोटि की सराहना किने बिना नहीं रह सकता।



सम्राट्कालीन वृषभाजित स्तम्भ शीर्ष, (३री० न० ई० पू०) राजपुरवा
(बिहार) के उपलब्ध (पृ० १०१)



धम्मरावली के स्वरूप का एक दृश्य (पृ० १८६)



नारहुत में बुद्ध की उपासना का एक दृश्य (२०० ई० पू०) (पृ० १८३)



भारहुत स्तूप पर उत्कीर्ण राजकुमार जेत के उद्यान को
गरीदले का दृश्य (२री स० ई० प०) (पृ० १=३)



भारहुत स्तूप पर उत्कीर्ण बुद्ध की माता महामाया का
स्वप्न (२री स० ई० प०) (पृ० १=३)



आमरघाटिली बसो दोवारगज, पटना
(२०० ई०पू०) (पृ० १८३)



भारहुत स्तूप पर उत्कीर्ण श्रेष्ठी की मूर्ति
(२०० ई०पू०) (पृ० १८३)



पलकापल से सुशोभित पार्वती मस्तक बाहिनन्दना
बरेली में प्राप्त (१वीं श०ई०) (पृ० १८०)



भगवान् राम की कास्य प्रतिमा (२१वीं श० ई०) (पृ० २०१)



दक्षिण में भारतीय संस्कृति के प्रसारक
महर्षि शिवरत्न (चिदम्बरम्, १३वीं श० ई०)
(पृ० १२५)



प्रजा पारमिता (१२वीं श० ई०)
(पृ० १२६)



होयसलेश्वर (मैसूर) के मन्दिर का
बाहरी भाग (१२वीं श० ई०)
(पृ० १२७)



साहनाथ की बुद्धमूर्ति (पृ० १००)



राजराज सोम द्वारा संजीव में बनवाया कृष्णेश्वर का मन्दिर (१०५० ई०) (पृ० १२०)



छारपुरी (एलिकैटा) की विमूर्ति (पृ० १२४)



देववाड़ा (झाड़ु) के जैनमन्दिर में संवत्सरमर की नक्काशीकारी छत (१०३१ ई०)
(पृ० १२६)



ब्रह्मे की पुत्तार करती हुई माँ (भुवनेश्वर, उड़ीसा ११वीं श० ई०)
(पृ० १६६)



प्रसन्न लिंगमती हुई भारती (भुवनेश्वर, उड़ीसा, ११वीं श० ई०) (पृ० १८६)



भुवनेश्वर के मन्दिर (पृ० १८६)



कीर्तिमूर्ति के दरवाजे का विशाल चक्र (पृष्ठ १६९)



(अजिंठा की कला)

२. एलोरा (बिहल) — महाराष्ट्र में औरंगाबाद से सोलह मील पर एक पुरो-
 की-पुरी पहाड़ी को काटकर मन्दिरों में परिवर्तित कर दिया गया है। इसमें पञ्चमूल-
 नीम हिन्दू, बौद्ध तथा जैन मन्दिर हैं। इनमें राष्ट्रकूट राजा कृष्ण (७६०-७७५ ई०)
 द्वारा कलाकला ईसा मन्दिर सबसे विद्याय और भव्य मन्दिर है। १२० फुट ऊँचे,
 १५० फुट लम्बे, ६२ फुट चौड़े क्षेत्र में इसमें, अनेकों, मीढ़ियों शुद्ध अम्भ-मण्डपों
 में युक्त यह विद्याय मन्दिर एक ही पावर का बना हुआ है, इसमें कहीं भी, कर्मा-
 मन्त्रा या कोल-काटा नहीं है। इसे बनाते के लिए पहले पहाड़ काटकर जगह
 पोखरी की गई, यह २५० फुट गहरे और ६५ मी फुट चौड़े खासी स्थान से घास-
 घान के पहाड़ से युक्त है, फिर इसके बीच में जगह मन्दिर का निर्माण करके
 शिल्पियों ने जो कृति प्रस्तुत की है, वह मानव के शक्ति, सम्पत्तियों और कला का
 उत्कृष्टतम उदाहरण है। बिना किसी मन्त्रों के प्रयुक्तों इसमें वराना बना
 विनयन कार्य है, यहाँ इस देवता को शक्ति देनेवाला देव जाता है और इसके निर्माता

अज्ञात कारीगरों के धारण नत-भस्तर होता है। कैलास-मन्दिर को काटते हुए कारीगरों ने बमालीय पौराणिक दृश्य भी अंकित किये हैं। इतमें नृसिंहप्रतार का दृश्य, शिव-पार्वती का विवाह, इन्द्र-इन्द्राणी की मुर्तियाँ, रावण द्वारा कैलास का उद्योगन वगैरे सुन्दर, विमाल, भावपूर्ण और धोमस्वी कृतियाँ हैं। अन्तिम दृश्य विशेष रूप से उत्कृष्टनीय है। रावण कैलास को उड़ा रहा है, भग-भस्त्र पार्वती शिव के विमाल



पश्चिम का कैलास मन्दिर

मुख-दृश्य का आलम्बन से रही है, पश्चिमी भाग रही है; किन्तु शिव अथवा है, अपने चरणों से कैलास को बचाकर रावण का प्रयास विफल कर रहे हैं।

३ भारापुरी (एलिकट्टी)—बम्बई से ४० मील दूर भारापुरी नामक टापू में दो बड़े पर्वतों के ऊपरी भाग को काटकर मन्दिर और मुर्तियाँ बनाई गई हैं। इनका समय आठवीं सदी ई० है। यहाँ की प्रतिमाओं में महादेव की प्रचण्ड विभूति, शिव-साईय तथा शिव-पार्वती-विवाह का दृश्य बहुत ही मर्म है। पर्वतों के मुख-भस्त्र पर शयन, प्रचण्ड सम्भोरता है, दूसरी 'यमा पीपी विवाहस्थ' की आदम समानि अवस्था

की भव्यतम अभिव्यक्ति है और तीसरी में पार्वती के आत्मसमर्पण का भाव ज्यों सफलता से दिखाया गया है।

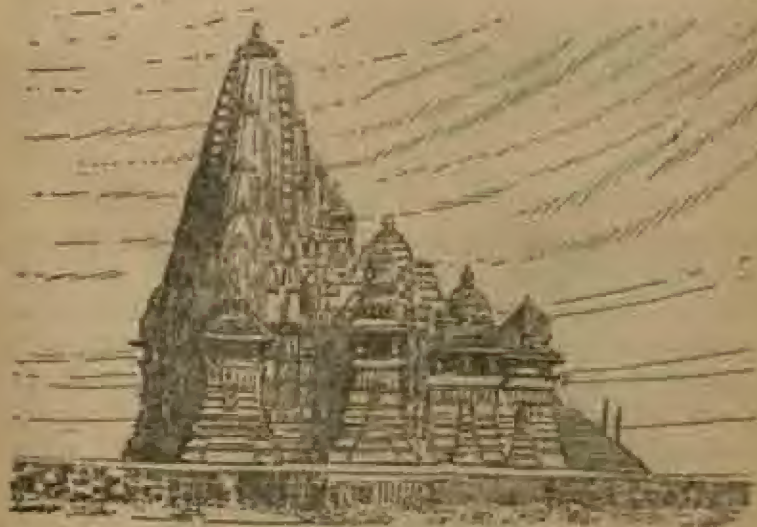
छात्रों शती में ही जाया में शैलेन्द्रवंश ने बोरोंबुद्ध का प्रसिद्ध मठ-मंजिला धर्मोद्या एम् भव्य मन्दिर बनवाया, जिसे प्राथमिक कला-समर्थों ने पत्थर में तराशा हुआ महाकाव्य कहा है। इसकी गैलरियों में जातकों के तथा बुद्ध की जीवनी के समस्त दृश्य बने हुए हैं। इन सबको यदि एक पक्षि में फैला दिया जाय तो यह तीन मील लम्बी होगी। इसमें आग्नि और प्राध्यात्मिकता का अनुपम सौन्दर्य है। दक्षिण में महाराज की प्रसिद्ध मूर्तियाँ इती समय से बनने लगीं।

छात्रों शती मामलपुरम्, कलाम और बोरोंबुद्ध-जैसी समस्त कलाकृतियाँ पैदा करने के कारण भारतीय कला के इतिहास की स्वर्ण पंक्ति है। इनके बाद कला में शीघ्रता घटने लगी।

उत्तर मध्य पुग में वास्तु के पाँच केन्द्र जलोजनीय हैं—

(१) सजुराहो, (२) राजपूताना, (३) उज्जैना, (४) चोल राज्य, और (५) होमसल राज्य।

सजुराहो—इसकी शती में कन्देल राजाओं ने मध्यभारत के छतरपुर जिसे (कुन्देलखण्ड) के सजुराहो का प्रसिद्ध मन्दिर-समूह बनवाया। इसके भव्यतम मन्दिर



सजुराहो का कन्देलखण्ड का मन्दिर

राजा पथ (६४०-६६६ ई०) के शासक और श्रीलाल का फल है। इनमें सबसे सुन्दर और

प्रधान कंदरीयनाथ महादेव का विशाल मन्दिर है। ११६ फुट ऊँचा, विशाल कुत्तों और भारी चतुर्धरे वाला यह मन्दिर अपने कमज, छोटे होते हुए शिखर-समूहों से बहुत मजबूत मालूम होता है। प्रयत्नात् पत्र में सुन्दर स्तम्भ-सोहेना है। मन्दिर का कोई चण्डा सुन्दर मूर्तियों तथा अलंकरणों से रहित नहीं है। उस समय हिन्दू धर्म में तत्त्व की प्रधानता हो रही थी, उसके प्रभाव से यहाँ कामादकमस्कन्धी पद्मनील मूर्तियों की काशी मूर्तियों में पाई जाती है। भारतीय मूर्तिकला में श्रृंगारिकता तो भारद्वाज और नाचों के काल में यहाँ और अधिकार्यों के अंकन में चली आ रही थी किन्तु पद्मनीलता नहीं थी। यह इसी युग में शुरू हुई।

राजपूताना—इस युग में अति शक्तिशाली प्रधान शैली की पराकाष्ठा राजपूताना और गुजरात में मिलती है। इसका सर्वोत्तम उदाहरण आनु पर्वत पर देवबाबा के पास दो जैन मन्दिर हैं—पहला विमलदाह नामक वैश्य में १०३२ ई० में तथा दूसरा जेजपाल ने १२३२ ई० में बनवाया। दोनों में तोचों में ऊपर तक संगमरमर लगा है। इसमें यद्यपि अलंकरण की इतनी अधिकता है कि मन्दिर का एक चण्डा भी चानों नहीं छोड़ा गया और इन अलंकरणों में बहुत अधिक पुनरावृत्ति का दोष है, तथापि इनकी विनयन चालियाँ, पुतलियाँ, अंत-बूटे और नक्काशियाँ देखकर दर्शक दंग रह जाता है। “संगमरमर ऐसी चालीकी से तराशा गया है, मानो किसी कुशल सुनार ने रेतों में रेत-रेतकर आभूषण बनाये हों या धौं कहिये कि कुली हुई चालियाँ और आखरें पधरा गई हों। छतों की सुन्दरता का तो कहना ही क्या? इनमें बनी हुई मूल की भाव-भंगी चाली पुतलियाँ और संगीत-संज्ञियों के मिठा धौज में संगमरमर का एक भाग भी छटका रहा है, जिसकी एक-एक पत्ती में कटाव है। यहाँ पहुँचने पर ऐसा मनीस होता है कि हम अद्भुत स्वप्न लोक में आ गए हैं।” इनकी सुन्दरता बहुविधागित राज में बहुत अधिक है।

उड़ीसा—इस प्रान्त में मध्य युग में बने मन्दिरों में पुरी का जगन्नाथ नाम का मन्दिर, कोणार्क का सुनं मन्दिर और भुवनेश्वर के मन्दिर प्रधान हैं। कोणार्क का देवालय रत्न के साकार का है, इसमें बड़े विराट् पहिण्डे हैं, इन्हें बड़े जानदार पीई खींच रहे हैं। इन सबको इनकी विनयनता और अलंकरणबहुलता में बहुत मजबूत एवं मनोरम बना दिया है। मन्दिरों का कोई कोला या चण्डा चानों नहीं छोड़ा गया। “इनमें चायिका-भर और चाप-कन्धाओं की बड़ी सुजग मूर्तियाँ बनी हैं, जिनके मोले मुख पर ने खींच डहाये नहीं हटती। एक निकाली हुई चाली की मूर्ति की भाव-भंगी बड़ी मनोरम है। कई मूर्तियों में साधु-मन्यता की बड़ी सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। माता धरने जिह्वा का नाह करने में चानों धरने हृदय को निकालकर धर देती हुई अक्षित की गई है। यहाँ भी पद्मनील मूर्तियों की भरमार है।

जोन कला—दक्षिण भारत में राज्यों के बाद चानों में इसकी चाली में अधिक चाली की विनयन करके परिपूर्णता तक पहुँचाया। इस चाली का एक सर्वोत्तम

उदाहरण राजराज महान् द्वारा तंजीर में बनवाया हुआ ब्रह्मेश्वर का महान् शीव मन्दिर है। इसका विमान या शिखर १ मंजिला और १६० फुट ऊँचा है, इसके ऊपर एक ही प्रस्तर-कण्ड का भीमकाय मुम्बद है, कहा जाता है कि इसे मन्दिर के ऊपर तक बुढ़काकर लाने के लिए ५ मील लम्बी सड़क विशेष रूप से बनाई गई थी। यह विद्यालय देवालय ऊपर से नीचे तक मूर्तियों और अलंकरणोंसे सुशोभित है। चोल कला की प्रथम विशेषता बृहत्बहुत भव्यता है। भीमकाय मन्दिरों की सार्वभौमिक परिधि में अत्यन्त मृदम लक्षण से अलंकृत किया गया है। इन विषय में धर्मसूत्र में दी गई लिखा है कि चोल कलाकार अपनी वास्तु का प्रारम्भ दानों की-सी विशाल कल्पना से करते थे और उसकी पूर्ति चौहरियों की भाँति करते थे। चोल कला की एक बड़ी डेन पर्यन्त युगों में गोपुरम् के मन्दिर का विद्यालय प्रवेश-द्वार था। थोरे-थोरे इनकी आकार और संख्या बढ़ते लगी थीर में मन्दिर के गर्भगृह के शिखर से भी ऊँचे उठते लगे। कुम्भकोणम् के गोपुरम् ने प्रधान मन्दिर को विभक्त कर दिया है। गोपुरम् के अतिरिक्त इनकी दूसरी विशेषता स्तम्भ संक्षिप्तों वाले विशाल मण्डपों या हाथों की थी। गणप गुफ के बाय बने मधुरा, श्रीराम् और रामेश्वरम् आदि मन्दिरों में इन विशेषताओं का पूर्ण विकास हुआ, उदाहरणार्थ मधुरा के भीमाक्षी मन्दिर का मण्डप ८५५ स्तम्भों का है और सब स्तम्भों पर अद्भुत नक्काशी है।

होयसाल कला—११११ ई० से पूर्वुर में होयसाल पाटली का एक बड़ा प्रबल हुआ। बारहवीं-तेरहवीं शती में इन्होंने एक नये प्रकार की वास्तु-कला का विकास किया। सम्भवतः इन्होंने अपने से पहले शासक वर्गों की कला-परम्परा को ध्यान रखा था। मंगी के शासन में ८५६ ई० में एक मन्त्री कामुण्डराज ने अथवा केनकोला की पहाड़ी पर अत्यन्त कठोर काले पत्थर के एक ही खम्भ में बनी ५६ फुट ऊँची (५ फुट के आधारों से ८१ गुना) गौमलेश्वर की प्रतिमा स्थापित की। निर्मात-कोशल की शक्तिता और कल्पना की विद्यायता की दृष्टि से सुमिया की छन्द कोई मूर्ति इसके धामे नहीं टिक सकती।

होयसाल राजाओं ने भी अपने वास्तु में इन्हीं विशेषताओं को बनाते रखा। इनके मन्दिर वर्गाकार नहीं, किन्तु तारकावृत्ति या बहुकोणीय हैं। इनकी दूसरी विशेषता ऊँची कुतियों या आधार हैं। इनके शिल्पियों की मूर्तियाँ बनाने के लिए काफी बगल मिल गई है और इन्होंने इनका पूरा उपयोग किया है। शिखर विरामिद-कार होते हुए भी काफी मोटा है। इन वास्तु शैली का सर्वोत्तम उदाहरण हावेलिड या दोरसमुद का होयसालेश्वर का विशाल मन्दिर है। यह पश्चिम-तः फुट ऊँचे बहुतर पर बना है, मधुरा बड़े-बड़े जिला-फलकों में गढ़ा गया है। इन पर ऊपर से नीचे तक ११ घटकरण-पाटिकाएँ हैं, वे ७०० फुट लम्बी हैं और समूचे मन्दिर की ओर हुए हैं। इनमें हाथियों, कैरो, युद्धवाहनों, दिव्य पशु-पक्षियों की मूर्तियाँ उड़ीयों हैं।

उदाहरणार्थ सबसे निचली घटकरण-पाटिका (Entablature) में दो हजार हाथियों का महाजली और भूतों के साथ सन्ध्य एवं सुन्दर अरुण हैं। इनमें कोई भी दो हाथी

एक दूसरे से नहीं मिलते। इस मन्दिर के सम्बन्ध में स्मिथ की यह उक्ति गम्या है कि यह देवालय सैवंशीय मानव जाति के यम का पर्यन्त धारणकर्तक मनुष्य है। इसकी सुन्दर कारीगरी के काम को देखते-देखते आँखें तृप्त नहीं होती। मैकडानल का मत है कि समस्त संसार में सम्भवतः यमरा कोई मन्दिर ऐसा न होगा जिसके बाहरी भाग में इस प्रकार का चट्टन का खुदाई का काम किया गया हो। १३१२ ई० में मुस्लिम आक्रमण के कारण यह मन्दिर क्षुण्ण रह गया।

पुनरुत्थ भारत का वास्तु—इन युग में स्वदेश में ही नहीं, अपितु विदेशों में भी बड़े मध्य हिन्दू-मन्दिरों का निर्माण हुआ। कम्बोडिया में धंकोरवत् और धंकोरपोम के विशाल एवं भव्य मन्दिर बने। पहला मन्दिर बर्गाकार है और इसका प्रत्येक पार्श्व एक सील जम्हा है। इसकी दोहो भारतीय मन्दिरों से बिल्कुल भिन्न है। इसमें जम्हा एक दूसरे से ऊँचे उठते हुए और छोटे होने हुए बनेक लम्बे होते हैं। प्रत्येक जम्हा भक्त की ऐहिक जगत् की खुशहाली से ऊँचा उठाता हुआ उच्च आध्यात्मिकता की ओर जाता है। कम्बुज मन्दिरों की यह उदात्त भव्यता इन्हीं मन्दिरों के विशाल मण्डपों और उत्तुंग बिम्बाओं तथा गोपुरों में नहीं मिलती। इन मन्दिरों की नैऋतियों में पुराणों के दृश्य अंकित हैं। नवी पट्टी में जम्हा के एक राजा दश ने प्रावामन में शिव-सैव्य स्थापित करके ब्रह्मा, विष्णु, महेश के मन्दिर बनवाये। इनमें राम और कृष्ण की पीताम्बे उत्कीर्ण हैं। भारत में इन बिम्बों की ऐसी सुन्दर मूर्तियाँ नहीं बनीं। प्राक्लत में शिव की देवता और शक्ति के रूप में दो प्रकार की साकृतियाँ मिलती हैं। पहली के मुख-मण्डल पर सम्राट्प्रमत्तता, गान्धीय और अस्मिता का भाव अंकित है। दूसरी में उनका बड़ाबूट और दाढ़ी बड़ी सुन्दरता से बनी हुई है। तैरहवीं शती के जम्हा की सर्वोत्तम मूर्ति बौद्ध प्रजापरमिता की है। यह राजा समुवर्धुमि (१२२०—१२२७ ई०) के काम की है। इसके मुखमण्डल की सुकुमारता, गरलता, नाति-वपसता, श्री और नातिव्यक्त वस्तुतः चट्टन है।

मध्ययुग की मूर्तिकला—इन युग की मूर्तिकला की कुछ विशेषताएँ निम्न-विवक्षित हैं। सर्व-वर्ग-धार्मिक प्रभाव उदात्त होने लगता है, शीतल-बुद्धि गीत हो जाती है। युग युग तक दोनों मूर्तिकला में ही सामंजस्य था, वह सुख हो जाता है। धार्मिक भावों की अभिव्यक्ति के लिए भीमजम्हा कुछ मूर्तियाँ भी बनती हैं। देवताओं की सामर्थ्य प्रदर्शित करने के लिए उनके कटुमण्डल हारों में अनेक प्रकार के हविष्य एकत्रित होते हैं, इनका निर्माण मिल्ल-आरक्ष की कठिणों के अनुसार होने लगता है। धृति-विमल में नवीनता और मोक्षकला बिल्कुल समाप्त हो जाती है।

इस जमाने के होते हुए भी वास्तु-नैमिष की दृष्टि में यह काम अविस्मरणीय है। भागलपुरम्, कैलाश, बीरगपुर, धमकोरवत्, तबीर और जालेन्द्र जमाती संस्कृति के धर्म स्मारक हैं। नातिव्यक्त की महत्ता का एक मानक कला-कृति भी है। इस दृष्टि से प्राचीन भारत का किन्नर में बहुत ऊँचा स्थान था। हमारे पूर्वजों ने धार्मिक

जड़ा और घनपक परिधम से जिन कृतियों की रचना की, उनमें न केवल विलम्बावधि थी; किन्तु, लातिलय, मुकुचि और मुसंस्कारिता भी थी जो उच्च संस्कृति के प्रधान चिह्न हैं। प्राचीन भारतीय कला भारतीय धार्यों का मन्त्रा प्रतिबिम्ब है। इससे यह ज्ञात होता है कि सब प्रकार का ऐश्वर्य उपभोग करते हुए भी भारत में मौलिकता और ऐतिहासिकता के प्रति ही अनुराग न था; किन्तु पारलौकिकता और आत्मात्मिकता को भी तीव्र आकांक्षा थी। उसके सर्वोत्तम युग में इन दोनों का सुन्दर सम्बन्ध था। कलाकार उच्चतम आध्यात्मिक भावों की अभिव्यक्ति के लिए विभिन्न कलाओं को सकलतापूर्वक अपना मान्यम बना रहे थे।

मध्ययुगीन विषयकला—पाठवीं शती के बाद ध्वजता-जैसे बहुत आकार के नितिर्भव भारत में लोकप्रिय नहीं रहे, लघुचित्रों की अभिव्यक्ति बढ़ी। ये चित्र धर्मों की परमकृत एवं विहित करने के लिए बसाने जाते थे। इनकी दो शैलियाँ उत्पन्न-सीम हैं। (१) कपाल की पाल सैली (नवीं-बारहवीं शती ई०) (२) आपसंकु शैली (११००-१६०० ई०)। पहली का विषय बौद्ध है और विशेषताएँ हैं—बक रेखाएँ और सरल रचना। यह महायान बौद्ध धर्म के चरित्रभाव से प्रोत्पन्न है। प्रज्ञापारमिता की अनेक ताकपन पर निजी पोषिका इस शैली से चित्रित हैं। आपसंकु शैली में भी बस तक चलती रहो, इसके आरम्भिक नमूने ताकपन की पोषिका पर तथा कामज पर बने हैं, इसके सुन्दरतम उदाहरण उस समय का (१३२०-१४५० ई०) के हैं, जब कामज ताकपन का स्थान ले रहा था। इसकी विशेषताएँ सोपाकार चेहरा, तुलीनी नाक, चेहरे की रेखा से बागे कड़ी घाँव और धनंकर-प्रभावना है। मुकु में साधारण रंग बरते जाते थे, पन्द्रहवीं शती से नीले और सुनहरी रंग का खूब प्रयोग होने लगा। इसका विषय आरम्भ में शैव धर्म-उपदे, बाद में 'मौल गोविन्द', 'नागवत', 'नागवोपायस्तुति'—जैसे वैष्णव कर्त्यों से लौकिक प्रेम का चित्रण होने लगा। वृक्ष धर बने वसन्त-विहारा (१४५१ ई०) में वसन्त का प्रेमज बगो सुन्दरता से चित्रित है। यह शैली प्रेम भाव के सर्वोच्च धर्म में बहुत प्रकट हुई है। इसके अभिप्राय उदाहरण गुजरात से मिले हैं, जहाँ इसे सुन्दरती शैली भी कहा जाता है।

राजस्थानी—इस शैली का उद्भव आर्यज्य शैली से, गुजरात एवं मेवाड़ में पन्द्रहवीं शती में हुआ। इसका प्रधान विषय कृष्ण और राधा अर्थात् नर-नारी के आश्रित प्रेम का घनत कर्तों से चित्रण है। इसमें लोक-जीवन की कला तथा नारी के आकर्षक शोभ्य का बहुत सुन्दर प्रकट हुआ है। राजस्थानी विषयक कर्त्यों में कृष्ण-लीला, लूनाक, लादिका-प्रेम, रामायण, महाभारत के तथा हम्पीर हठ, नल समझौता, बाणमाला, शकीह तथा राममाला के दूसरे चित्रण कहे जाते हैं। राममाला में विभिन्न रागों की चित्रों द्वारा सर्वोत्तम मूर्त का दिया जाता था जैसे विनायक में नारायण धर्म में धर्म के देवने से अथवा प्रेमवीरों से व्यक्त विचारों वाली

थी, मातृकीय से प्रेमी प्रणय-कीड़ा में रत होते थे, औरों में अविवाहित नाटिकों प्राचीनों की भाँति अपने मनकाहे प्रति की उपमा में लवलील होती थी ।

मुगल शैली—मुगल राजाओं के समय चित्र-कला को बहुत प्रोत्साहन मिला । हुमायूँ ने ईरान से और सैयद अली और ख्वाजा अब्दुलसमद शीराजी को बुलाया था, अकबर ने अपने दरबार में सारे भारत के सैकड़ों चित्रकार एकत्र करके इनसे फारसी और संस्कृत के विविध ग्रन्थों 'हुन्नातनामा', 'बाबरनामा', 'अकबरनामा' और 'महमूद-नारत' (रज्जनामा) को चित्रित करवाया । पहला प्रणय-क्यामों का चित्र था, जो अकबर को बहुत प्रिय था । इसके लिए चित्र पर १३७५ चित्र बनाये गए । महा-भारत के १८२ चित्र बनाये गए, जो सभी तक सीमागमन जयपुर के पोथीखाने में सुरक्षित हैं । अकबर की कला सब देवी से सम्बन्ध रखती थी, और उन्हीं अपनी भारतीय रूप देने वाली थी, प्रारम्भ में ईरानी प्रभाव अधिक होते पर भी बाद में वह अपना बना लिया गया । वह कला प्रधानतः चित्र-चित्रों, दरबार और राजमहल से सम्बन्ध रखते वाली पटनाओं तथा व्यक्तियों का चित्रण करने वाली है । राजस्थानी शैली से न केवल इसका विपरीत-वेद है किन्तु इसके चेहरे में विशिष्टता और व्यक्तित्व अधिक है । बहागिरि से भी इस कला को बहुत उत्तेजन मिला, उसके समय में उत्साह मन्दूर ने शकुन्तलाओं के बहुत सुन्दर चित्र बनाये । औरंगजेब के समय में राज-संग्रहण से मिलने से यह कला मुरझाने लगी । मुगल शैली की एक दक्षिणी शाखा बीजापुर तथा गोल्कुण्डा के सारी दरबारों में फैली-बूनी ।

पहाड़ी शैली—मुगल साम्राज्य का विघटन होने पर बाह्यशाही चित्रकार तब साधन-दाताओं की सहाय से रावी से पूर्व की कांगड़ा घाटी की रियासतों—जम्मा, सुंदपुर, कांगड़ा, मुक्त, मन्थी आदि राज्यों में पहुँचे और इनसे पहाड़ी-शैली का विकास हुआ । कांगड़ा के राजा समारचन्द्र (११७४-१८२३ ई०) का समय पहाड़ी कला का स्वर्ण युग है । इसकी दो कन्याएँ पद्मकाल-नरेड से व्याही गई और यह कला गढ़वाल में भी पहुँची । पहाड़ी चित्रों की विशेषता वास्तविकता और भावना का अभिव्यक्ति है । 'सम्राज्य', 'महाभारत' तथा 'भागवत' आदि समस्त पौराणिक साहित्य, वैष्णव, भक्तिराम, बिहारी आदि कवियों की रचनाएँ इसका प्रधान विषय हैं । "समस्त युग के बाद पहाड़ी शैली में ही भारतीय कला एक ऐसी ऊँचाई तक उठी है जहाँ तक पहुँचना विजयवाड नहीं ।"

अन्य कलाएँ

कांस्य-प्रतिमाएँ—जमि की सुन्दर मूर्तियाँ बालने की कला भारत में मोहेंजोदड़ो युग से ही कला का रही है । सर्वशक्ति की मूर्ति इसका सुन्दर प्रमाण है । पहली-दुसरी शती ई० की कुछ छोटी मूर्तियाँ पचायिला से मिली हैं । गुप्त युग में इन कला में काफी उन्नति हुई । कारीगर बने आकार की प्रतिमाएँ अपूर्वतापूर्वक बनाने लगे । इनमें भाणपुर से पाई गई सातवत ब्रह्म-मूर्ति और बीरपुर वाल

(सिन्धु) से मिली बह्मा को सुन्दर मूर्ति उल्लेखनीय है। कांस्य-प्रतिमाओं का स्वर्ण युग दक्षिणभारत में बीजों का शासन काल (दसवीं—तेरहवीं श० ई०) था। इस समय यहाँ तटराज कित की भव्य प्रतिमाएँ बतने लगीं। इनमें प्रलय के ताण्डव नृत्य की भाव भावों में शिव की बहुत सुन्दर अभिव्यक्ति की गई है।



गोहोबला का कांस्य मूर्ति

वस्त्र—घठारहवीं शती के अन्त में लगभग २,००० वर्ष तक विश्व में भारत के बने कपड़ों की श्वाति और मान बनी रही। पहले यह ज्ञाता का चूका है कि भारतीय मलमल, जिसे रोमन 'कुनी हवा' कहते थे, रोम की स्त्रियों द्वारा बहुत पसंद की जाती थी। इसी शती में अरब के व्यापारी गुजरात में बने भारतीय वस्त्रों को भिन्न तक पहुँचा रहे थे और यहाँ की पटोला साकिपाँ बाका, कुमाचा एक प्रेमी जा रही थी। मुस्लिम बादशाहों द्वारा शोभाहृत पाकर वस्त्र-कला की बड़ी उन्नति हुई। इन काल में बाका के कलाकारों द्वारा तैयार की जाने वाली मलमल विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

मुगल बादशाहों के लिए तैयार होने वाली मलमल खास का २० गज का पूरा धान तैयार करके बाँस की सीखपी तली में बना करने और इसका जलुस निवासकर बादशाह को भेजा जाता था। इन धावेरवा (बड़ता पानी), वापत हवा (बुनी हवा), धवनम (धोवा) के कानिनामन नाम दित जाते थे। मलमल की बारीकी और पारदर्शकता के सम्बन्ध में यह समिष्ट है कि एक बार औरंगजेब ने अपनी पुत्री को डाँटा कि तु तमो क्यों बाड़ी है, तुमे लाज भरी छाडी ? बेटी बोली—“बच्चा जान, धाड नाहक बिगड़ते हैं। मैंने तो कपड़े की साथ सहे बापके उसे सपेडा हुआ है, फिर भी धन जलकता है तो मेरा क्या कमूर ?”

पटोला—गुजरात में विवाह के समय पहनी जाने वाली पटोला साडी कुनाई का एक बहमुर चमत्कार है जो इन युग में कुनाड, कारीवरो में तैयार की थी। इसमें साडी पर बसादे जाने वाले डिजायन को पहले ही स्थान में स्थावर लाने-वाने के मूल को विभिन्न रंगों में रंगा जाता है और कुनाई के समय में सारे डिजायन कपड़े के दोनों ओर छा जाते हैं।

किमकाव—किमकाव का अर्थ है—कुना हुआ कुन (किम=कुन, साव=कुना)। इसमें कुनाई में विभिन्न रंगों द्वारा समेक प्रकार के डिजायन बनाते जाते हैं, इसका पटोला से यह समर है कि उसमें दोनों ओर एक ही डिजाइन बना है और इसमें ऐसा नहीं होता। इसमें सीमे-बावी के तार (बरी) का भी उपयोग

होता है। इसमें गुड़ सामग्री का प्रयोग किया जाता था अतः यह घोषा जाने पर भी यहीं तक बराब नहीं होता था। मध्य युग में किमखाब का सबसे प्रसिद्ध केन्द्र बनारस था, इसके साथही मुशिदाबाद, चन्देरी, अहमदाबाद, श्रीरंगाबाद, गुरत, लजोर में भी यह काम होता था।

इसके अतिरिक्त मध्य युग में वस्त्रों की रंगाई, छोट, कड़ाई की कला भी बहुत उन्नत हुई थी। काश्मीर के शाल विदक-विदवात थे।



प्राचीन शिक्षापद्धति

भारत में शिक्षा वैदिक युग में मनुष्य के सर्वांगीण विकास, राष्ट्रीय संस्कृति के संरक्षण तथा जातीय उत्थान के लिए आवश्यक समझी जाती रही है। ऋग्वेद में ब्रह्मचर्य की महिमा के गीत गाये गए हैं। प्राचीन शासकगणों ने इस प्रकार की अनेक उपयोगी व्यवस्थाएँ दी थीं, जिनसे राज्य द्वारा अनिवार्य शिक्षा का प्रवर्धन न होने पर भी इसका बहुत अधिक प्रसार हुआ। प्राचीन ऋषियों ने मानव जीवन के चार प्रायश्चर्यों में चौथा भाग, उनमें पहला ब्रह्मचर्य या प्रथम विद्याभ्यास के लिए था। उपनयन-संस्कार सब हिन्दुओं के लिए आवश्यक था, निश्चित अवधि तक इसे न करने अर्थात् विद्याभ्यास में निश्चितता दिवाने से उन्व वरुण शत्रु या जाति-शत्रुत समझे जाते थे। शिक्षा के मन्त्रक को मुख के चित्त पर अती-भांति खींच करके लेने के लिए ही स्नातक की पुराने जमाने में राजा से अधिक प्रतिष्ठा दी गई थी। प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्तव्य माना जाता था कि वह न केवल पुत्र को जन्म देकर गिरु-श्रम से मुक्त हो, किन्तु इसके अतिरिक्त ऋषि-श्रम की भी उत्तरे। हिन्दू शासकगणों ने ज्ञान का प्रसार करने वाले शास्त्रियों की न केवल नाना प्रकार के शायों का अधिकारी बताया, किन्तु उनके कर्मों से भी मुक्त कर दिया। राजाओं ने अपने उत्तरादाता से नानदा, विक्रम-सिन्हा, उदयपुरी प्रभृति शिक्षागणियों के विकास में पूरी-सहायता दी। यही कारण था कि प्राचीन काल में जितनी साक्षरता भारत में थी, उतनी उस समय किसी दूसरे देश में नहीं थी। राजा अश्वमेध और दशरथ कायदू दावा था कि उनके राज्य में कोई अशिक्षित व्यक्ति नहीं है। प्राचीन शिक्षापद्धति से भारत ने न केवल सैकड़ों वर्षों तक मौखिक परम्परा द्वारा विशाल वैदिक वाङ्मय को सुरक्षित रखा; किन्तु प्रत्येक युग में दशत, शाय, मणित, ओलित, वंशक, रसायन आदि शास्त्रों में ऐसे मौखिक विचारक विद्वान् उत्पन्न किये, जिनसे भारत का मन्त्रक आज भी ऊँचा है।

ब्रह्मचर्य-आश्रम और उपनयन-संस्कार—प्राचीन काल में ऋषियों ने ब्रह्मचर्य और उपनयन-संस्कार की व्यवस्था द्वारा समूचे समाज को शिक्षित करने का सहाय्यीय उपाय किया था। ऋग्वेद से ज्ञात होता है कि उस समय तक ब्रह्मचर्य की पद्धति प्रचलित ही नहीं थी। ब्रह्मचर्य का अर्थार्थ है—वेद का अध्ययन। उस समय सरल एवं तपोमय जीवन जितने हुए धर्म वेद का स्वाध्याय करते थे। यह समाज जाता था कि ब्रह्मचर्य का प्रारम्भ रक्षा-पुरुष दोनों के लिए आवश्यक है। "ब्रह्मचर्य के तप से

ही राजा राष्ट्र की रक्षा करता है, ब्रह्मचर्य से ही कन्या मुक्त पति को प्राप्त करती है। इसी के रूप से देवताओं ने समृद्धि तथा इन्द्र में उच्च पर प्राप्त किया था।" (अथर्व ११। ४—१६)। ये सब उक्तियाँ ब्रह्मचर्य का गौरव सूचित करती हैं।

ब्रह्मचर्य आश्रम का प्रारम्भ उपनिषद्-संस्कार में होता था। उपनिषद् का अर्थ है—समीप जाना। इस संस्कार द्वारा बालक गुरु के समीप जाकर, विद्याभ्यास के लिए उसका शिष्य बनता था। उपनिषद् चिरकाल तक ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के लिए अनिवार्य नहीं था, किन्तु वैदिक साहित्य के सम्पन्न और संरक्षण के लिए इसे आवश्यक बना दिया गया। ब्राह्मणों, उपनिषदों और मुक्तियों के निर्माण के बाद श्राविक साहित्य इतना विस्तार हो गया कि उसकी रक्षा के लिए समूचे समाज का सहयोग आवश्यक प्रतीत हुआ, अतएव उपनिषद्-संस्कार को तीनों वर्गों के लिए आवश्यक बना दिया गया। इसके न करने पर व्यक्ति समाज से परित एव बहिष्कृत समझा जाता था (मनु २।३६)। बाद विद्या राज्य द्वारा अनिवार्य बनाई जाती है, उस समय धर्म में इसे आवश्यक बनाया। इसका एक चुन परिणाम यह हुआ कि धर्म जाति के सब सदस्य बोझ-बहुत वैदिक ज्ञान अधस्त प्राप्त करते थे, किन्तु २०० ई० पू० के बाद वैदिक ज्ञान इतना बटल हो चुका था कि उसमें बर्तित श्रेष्ठ के लिए भी प्रारम्भिक शिक्षा अनिवार्य थी। अतः यह माना जा सकता है कि उपनिषद् आवश्यक हो जाने के बाद धर्मजाति में साक्षरता बहुत बढ़ी होगी। उस समय संभवतः श्री गौतमी व्यक्ति साक्षर होते। किसी भी अन्य प्राचीन जाति ने शिक्षा के क्षेत्र में इतनी प्रगति नहीं की। पश्चिमी सभ्यता के मूल स्रोत यूनान में यह व्यवस्था थी कि एथेन्स में दस की नदी और स्पार्टा में चार प्रतिशत व्यक्ति ही शिक्षा पाते थे। यह बड़े दुःख की बात है कि परबर्ती शासकाली ने ५००-६०० ई० के बाद यह सिद्धान्त जलामासि कतिपय में क्षय और वैश्य वर्ग नहीं होते, इससे इन वर्गों का उपनिषद् बन्द हो गया और साक्षरता बहुत कम हो गई।

ब्रह्मचर्य के नियम—उपनिषद्-संस्कार के बाद ब्रह्मचारी गुरु से विद्याध्ययन करता था। विद्याध्ययन-काल में ब्रह्मचारी को अनेक आवश्यक नियमों का पालन करना पड़ता था। प्राचीन शिक्षाप्रणालि का सबसे सरल जीवन तथा उच्च विचार था, अतः सभी नियम इसी को ध्यान में रखकर बनाये गए थे। उनका भोजन सादा होता था, मांस-मादिरा का सेवन वर्जित था, योगासन में भी सादगी थी, जुते और सादे का उपयोग वर्जित था। किन्तु शासकाली का यह शासन कदापि नहीं था कि स्वास्थ्य को हानि पहुँचाने हुए इन वर्गों का पालन किया जाय। आत्म-साहित्य में ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है, जिसमें ब्रह्मचारी वनारस और लक्ष्मण की भीषण गर्मियों में जुते और छाते का प्रयोग करते हैं। ब्रह्मचर्यव्यवस्था शारीरिक विकास और बुद्धि का मातृ था, इसलिए शासकाली ने यह व्यवस्था की थी कि ब्रह्मचारी तपस्या में अपने जीवन को डूब न बनाये, किन्तु विद्वाना हो सकता हो, लगे। ब्रह्मचारी के नियमों में

समय और सदाचार के पहलु पर बहुत बल दिया जाता था। इसी का परिणाम यह हुआ कि ब्रह्मचर्य शब्द अपने वास्तविक अर्थ वैद्याभ्यास की अपेक्षा समस्त जीवन की श्रमिक सूचित करने लगा। ऋषियों का यह मत था कि सामोद-प्रमोद से विद्याभ्यास में बाधा पड़ती है।

विद्या-वृत्ति—कई स्मृतियों में यह व्यवस्था मिलती है कि ब्रह्मचारी प्रतिदिन अपने लिए भोज से भिन्न भोजनकर ल्याये। शम्भवेवम् में भिक्षाचरण (११।५।६) का स्पष्ट उल्लेख है। किन्तु यह शास्त्रकारों का आदर्श ही प्रतीत होता है, वास्तविक स्थिति ऐसी नहीं थी। तत्कालीन के ब्रह्मचारी अपने गुरुओं के घरों में बड़ी सामु के पुत्रों के समान रहते थे। मालन्दा, वत्समी, तत्कालीन-जैसे बड़े विश्वविद्यालयों में, वहाँ ब्रह्मचारी विद्यार्थी पढ़ते थे, विद्या-वृत्ति संभव ही नहीं थी। इन सब स्थानों पर संभवतः बड़े संस्कारों में खाने का प्रबन्ध होता था। मालन्दा की खुदाई में कुछ बड़ी भट्टियाँ मिली हैं। गुप्तानन्दाने ने लिखा है कि भारतीय विद्वानों के सम्भार पर्याप्त का एक कारण यह भी है कि उन्हें भोजन, वस्त्र तथा इबाई की चिन्ता नहीं करनी पड़ती। दक्षिण के कुछ पुराने अभिलेखों में इस बात का स्पष्ट रूप से उल्लेख है कि वहाँ विद्यालयों में लोगों के दिने-दान से छात्रों के भोजन की व्यवस्था की जाती थी। ऐसा प्रतीत होता है कि भिक्षा केवल अत्यन्त निर्धन छात्र ही लेता करते थे। भिक्षा के नियम का उद्देश्य ब्रह्मचारी को पत्र बनाना तथा इस बात का ज्ञान कराना था कि वह समाज की सहायता और सहानुभूति से ज्ञान प्राप्त कर रहा है, उसे उसके प्रति अपने कर्तव्य में बाधक रहना चाहिए। भिक्षा के नियम का एक बड़ा लाभ यह था कि इनमें निर्धन और दोनों विधाय प्राप्त कर सकते थे। भिक्षा की व्यवस्था समाज को भी इस कर्तव्य का बोध कराती थी कि सब पीढ़ी को भिक्षा के लिए उसे पाल करना चाहिए। ब्रह्मचारी प्राचीन संस्कृति का संरक्षक तथा उसे आगे बढ़ाते वाला था, इसने समाज को लाभ था, अतः हिन्दू शास्त्रकारों ने ब्रह्मचारी को भिक्षा देना सब गृहस्थों का आवश्यक कर्त्तव्य निर्धारित किया था और ब्रह्मचारी पर भी यह कर्त्तव्य लगाया था कि वह अपनी आवश्यकता में अधिक भिक्षा नहीं लेता, यदि वह ऐसा करता है तो चोरी का महापाप करता है।

गुरुकुलपद्धति—ब्रह्मचारी विद्या-काल में प्रायः गुरु के पास रहते थे, इसीलिए उन्हें गुरुकुलवासी कहा जाता था। भिक्षा प्राप्त करने पर जब वे लौटते थे तो उनका 'समावर्त्तन' होता था। गुरु के घर में विद्याभ्यास को भेजता कई छात्रों में व्यवस्तर सम्पन्न जाता था। गुरु की वैदिकतक देश-रेख में भिक्षा अच्छी होती थी, बनारस के राजा यह समझते थे कि इससे राजपुत्रों का अहंकार भंग होता है, वे शास्त्र-निर्भर रहते हैं। दुनिया का अच्छा ज्ञान प्राप्त करते हैं। गुरुकुलों में प्रायः विद्यापी प्राथमिक विद्या के बाद उच्च शिक्षा के लिए ही भेजे जाते थे। तत्कालीन में जाने वाले विद्याभितों की सामु कई बातों में स्पष्ट रूप से १२ वर्ष बटाई गई है।

प्राचीन गुरुकुलों के सम्बन्ध में यह लोक-प्रचलित धारणा सर्वांग में सत्य नहीं प्रतीत होती कि वे गहरों में दूर जंगलों में होते थे । इसमें कोई संदेह नहीं कि धार्मिक, कृष्य, सांघीयता आदि मुनियों के आश्रम वनों में थे । किन्तु ऐसे जंगलों की संख्या बहुत कम थी । अधिकांश गुरुकुल और शिक्षा-केन्द्र गहरों और गाँवों में ही थे । तत्कालीन के गुरु और छात्र ग्राम्यता की राजधानी में ही रहते थे । स्मृतियों में यह कहा गया है कि जब गाँव में मृत्यु हो या जोर भाग हो तो प्रत्यगाय हो । यदि गुरुकुल जंगलों में ही तो गाँव के उपद्रवों के कारण अस्वस्थ बन कराने की कोई आवश्यकता नहीं थी ।

गुरु और शिष्य के सम्बन्ध—प्राचीन शिक्षा-पद्धति की एक बड़ी विशेषता गुरु और शिष्य का सुमधुर पारिवारिक सम्बन्ध था । शिष्य गुरु के घर पर जाकर उसके परिवार का सदस्य बनकर रहता था । गुरु अपने पुत्र की तरह उसका पालन करता था । भगवान् बुद्ध ने कहा था—‘गुरु को चाहिए कि वह शिष्य को पुत्र समझे और शिष्य को उचित है कि वह गुरु को पिता माने’ । प्रायः गुरुओं के पास १०-१५ शिष्य होते थे और वे न केवल इनके आश्रय, किन्तु खान-पान और चिकित्सा की भी पूरी भिन्ना करते थे । भगवान् बुद्ध ने उपाध्याय के लिए यह नियम बनवाना था कि वे अपने शिष्यों की देख-भाल, उनके घरों का तथा भिक्षा-पात्र आदि का ध्यान रखें । गांधी जी ने भारत आने वाले चीनी यात्री इन्सिंग के विवरण में यह ज्ञात होता है कि वे इस नियम का पूरा पालन करते थे । जब शिष्य बीमार पड़ते थे, तो गुरु उनकी परिचर्या भी किया करते थे ।

इससे साफ ही, शिष्यों का प्रधान कर्तव्य गुरु की सेवा की तरह प्रतिष्ठा और आराधना करना था । भोजन के अनुसार गुरु के प्रति नम्रता और सेवा से ज्ञान प्राप्त होता है । यह कहा जाता था कि शिष्य को पुत्र, दास और भाई की भाँति गुरु की सेवा करनी चाहिए । उसे गुरु को शत्रु और मर्यादा के लिए जब देना उचित है, त्याग्यता पढ़ने पर बड़े बड़ेन मजिने सेवा कापड़े धोने का भी काम करना चाहिए । गुरु के घर के लिए यह संसल से ईमान जगता और पशुओं की देख-भाल करता था । कुल और मुद्रांग ने अपने गुरु सांघीयता श्रृंगि की इसी प्रकार सेवा की थी । किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि गुरु शिष्यों से इस प्रकार का कोई कार्य नहीं ले सकता जिससे शिष्यों के आश्रय में बाधा पड़े (आश्रम धर्म सू. १ । २ । १०) । यदि गुरु का कार्य करते हुए किसी शिष्य की मृत्यु हो जाए तो उसे बड़ा कठोर प्रार्थित्य करना पड़ता था (ई० ध० सू० २ । १ । २७) ।

शिक्षा की फीत—इन समय शिक्षा निःशुल्क नहीं होती थी । फीत और तमन शिष्य शिक्षा आरम्भ होने से पहले या बाद में गुरु-दक्षिणा के रूप में गुरु की शिक्षा-शुल्क देते थे और निर्धन विद्यार्थी अपनी सेवा द्वारा फीत भरा करते थे । जातकों में हन छात्रों द्वारा तत्कालीन विश्वविद्यालय में गुरुओं को पहले फीस देने का

साध उल्लेख पाते हैं। एक जातक (सं० २१२) में बनारस से बाए छात्र में गुरु वृज्जता है कि 'क्या तुम गुरु की पीस लाते हो या सुन्ने पढ़ने के बदले धेरी सेवा करना चाहते हो।' जो शिष्य गुरु की सेवा करके पाठ ले थे, उनके लिए शिक्षक रात को विशेष श्रेणियाँ लगाते थे, क्योंकि वे दिन में उनके काम में लगे रहते थे। पीस पढ़ते देने के प्रतिरिक्त घन में गुरु-दक्षिणा के रूप में भी कुछ देने का रिवाज था। कई बार गुरु इसकी अधिक दक्षिणा मांगते थे कि शिष्य उसे अपने व्यक्तियों से माँग कर पूरा करते थे। कोला ने अपने गुरु वरतनु की १४ करोड़ की दक्षिणा महासूत्र रूप में पाषाणों करके दी थी। प्राचीन शिक्षा-वर्द्धन की यह एक बड़ी विशेषता थी कि कोई ज्ञान-पिपासु उससे नीचत नहीं रह सकता था। गुरु सामान्य रूप से किसी शिष्य को ज्ञान देने से इन्कार नहीं कर सकता था। यदि कोई गुरु किसी शिष्य को ज्ञान-प्राप्ति के लिए घाने पर एक वर्ष तक नहीं पढ़ता था तो बहुमाना जाता था कि शिष्य के सब पाप गुरु की लगते हैं। छात्र की निर्धनता का बहाना करके वह उसे नहीं डरका सकता था; क्योंकि छात्र सर्वे गुरु की सेवा करने के लिए तैयार रहता था।

शिक्षा-काल—पुराने जमाने में शिक्षा का सत्र धावनी (अगस्त) में प्रारम्भ होता था तथा पौष या मार्ग (फरवरी-मार्च) में समाप्त हो जाता था। प्रारम्भ में यह छः महीने का था, विद्यार्थी तथा विद्वानों की वृद्धि से यह बढ़ा होने लगा। उन दिनों साम्प्रदायिक की भाँति प्रतिवर्ष पम्पियों की वृद्धि नहीं होती थी। किन्तु उस समय के विद्वानों भी अनुसंधान-प्रिय के और प्रति मात दर्श, योग्यमान तथा दो सप्ताहियों के चार अवकाशों के प्रतिरिक्त भाषाश सेपान्छय होने, विद्वत्ता बढ़ाने, सुसजाचार पाली, छाँधी, पाला पढ़ने पर भी लुट्टी मिल जाती थी। ये अवकाश उस समय की स्मृति कराते हैं, जब तुल-शिष्य भोपादियों में रहते थे और प्रत्यक्ष श्रुति-परिचयों में सम्पादन जारी रहता घनमय हो जाता था। शिक्षा-काल सामान्य रूप से १२ वर्ष का था। यह एक वेद के लिए पर्याप्त समझा जाता था। सामान्यतः ऊपर गिना १२ वर्ष की अवस्था में प्रारम्भ होकर २४ वर्ष की आयु में समाप्त हो जाती थी। चारों वेदों के लिए ४० वर्ष का ब्रह्मचर्य रखा जाता था, किन्तु आवश्यक इतने जगम नहीं समझते थे।

पाठ्यविषय—पुराने विद्यार्थी और विद्वानों के विचार के अनुसार प्राचीन शिक्षावर्द्धन के पाठ्यविषयों में समयावृत्त परिवर्तन होते रहे। कार्यात्मक वैदिक युग (२००० ई० पू०) तक मुख्य पाठ्यविषय वेद-मन्त्र, इतिहास, पुराण और गौरासलों माचारों (और दुष्कों के चरित्र) थी। पिछले वैदिक और ब्राह्मण युग (२००० ई० पू०—१००० ई० पू०) में वेद की व्याख्या और यज्ञीय श्रित्तिधियों की अतिमता में वृद्धि हुई, ब्राह्मण-समय निम्ने गए और इन्हें भी पाठ्य-क्रम में स्थान मिला। उपनिषद् और नुन नुन (१००० ई०—पहली श० ई०) तक वेद के विविध

सभी व्याकरण, शिक्षा (उच्चारण विज्ञान) कल्प, ज्योतिष, छन्द, निरुक्त के विकास के ऐतिहासिक अनेक प्रकार के शिल्लों तथा उपयोगी विज्ञानों का आविर्भाव हो चुका था। विद्वानों केवल वैदिक विषयों का ही अध्ययन नहीं करते थे, यशस्तु लौकिक विज्ञानों से भी धारणा होते थे। उस समय के विषयों का परिचय छन्दोग्योपनिषद् के एक संदर्भ में मिलता है (१०।१।२)। इसमें दर्शन की उच्च शिक्षा देने के लिए सनातनकुमार के पास आये नारद ने कहा है—“भगवन् त्वेने वेद-वेदाङ्ग के ऐतिहासिक इतिहास, पुराण, भणित (राशि) ज्योतिष, मलय विद्या, सर्व विद्या, देव (युक्त्व, वायु-वास्त्व आदि प्राकृतिक भूगोल सम्बन्धी विषय) विद्या, निधि (निद्रा विद्या) सम्बन्धी विद्या, लोकावली (लोक-विज्ञान) का पता लगाने का विज्ञान, वाकोवाक्य (तर्क-शास्त्र), कल्पविद्या, भूतविद्या (प्राणि-शास्त्र), राजशासन विद्या (सैनिक विज्ञान तथा राज-शास्त्र), एकादश विद्या (नीति-शास्त्र) का अध्ययन किया है”। उस समय के सभी छात्र नारद की भाँति मेधावी हों तथा सब विषयों का अध्ययन करते हों सो बात नहीं, किन्तु ऐसा व्यवस्था जान पड़ता है कि उस समय शिक्षा-पद्धति में साहित्यिक एवं उपयोगी दोनों प्रकार के विज्ञान का सुन्दर सम्मिश्रण हुआ था। जातकी ने यह बात जोड़ा है कि तक्षशिला में क्षत्रिय और ब्राह्मण युवक दोनों वेदों और अठारह शिल्पों का अध्ययन करते थे। इन शिल्पों में धनुर्विद्या, वैद्यक, वाङ्मय, सर्वविद्या, भणित, कृषि, पशु-पालन, व्यापार आदि का समावेश होता था। इस युग में भारत ने दर्शन, साहित्य, ज्योतिष, धर्म-शास्त्र, वायव्य-विद्या, उत्पत्ति-विद्या, मूर्ति, भवन तथा लोक-निर्माण-विद्या में बड़ी उन्नति की। इस समय बौद्ध और जैन साहित्य का विकास हुआ। वैदिक साहित्य में पद, पत्र और बड़ा पाठ का आविर्भाव हुआ। इन दिनों वेदों की लोकप्रियता घट रही थी, अतः ब्राह्मणों ने केवल १५ प्रतिपाद ही वैदिक विषयों का स्वाध्याय करते थे। अधिकांश विद्वानों का ध्यान अब विषयगत विद्याओं—व्याकरण, ज्योतिष, दर्शन और धर्मशास्त्र की ओर था। पहली स० ई०—१२०० तक के स्मृति, पुराणों और निबन्ध-ग्रन्थों के युग में वेदों का महत्त्व बहुत कम हो गया। तीनों धर्मियों के विवरण इस समय के विद्वानों और महाविद्यालयों के प्राध्यापक पर सुन्दर प्रकाश डालते हैं जिनमें वैदिक विषयों से भिन्न लौकिक विषय पढ़ाने जाते थे।

इतिहास के कल्पानुसार ६ वर्ष की आयु में विद्यार्थी वर्तमाना सीखना शुरू करते हैं, इसमें छः महीने लगते थे। इसमें वर्ष संस्कृत, मूर्ति, पशुपालन आदि था। ७वें वर्ष में १२वें वर्ष तक पाश्चिमीय सभ्यताओं और उगादि सूत्रों का स्वाध्याय कराया जाता था। ११-१४ वर्ष की आयु में विद्यार्थी का पढ़ाये थे, इतिहास एवं विषय से जोड़ है, सम्भवतः उन्हें काव्य, साहित्य और कौशल का ज्ञान कराया जाता था। १५वें वर्ष में विद्यार्थी उच्च शिक्षा की परीक्षाओं में कुछ विषयों का विशेष अध्ययन करते थे। विदेश अध्ययन के विषय व्याकरण, तर्क-शास्त्र, दर्शन, वैद्यक, कविता एवं तर्क ज्योतिष थे। इनमें सबसे अधिक जोरार्थ्य विषय व्याकरण था।

व्याकरण का उच्च पाठ्य-क्रम पाँच वर्ष का होता था और इसके प्रदान पाठ्य-ग्रन्थ काविकी और पातञ्जल महाभाष्य थे। अक्सरेन्सी के ग्रन्थ से ज्ञात होता है कि ग्यारहवीं शताब्दी में भी सबसे अधिक लोकप्रियता व्याकरण को प्राप्त थी। इनके अतिरिक्त पुरानी और माटकी का भी अध्ययन होता होगा, जोनी साधियों ने इसका अल्लेख नहीं किया।

पाठ्य-प्रणाली—प्राचीन काल में पाठ्य-प्रणाली प्रधान रूप से गुरु-मुख से पाठश्रवण करने तथा उसके सामने उसे दोहराने तथा प्रश्न पूछकर ज्ञान प्राप्ति करने की थी। इसका कारण यह था कि वेद उस समय लिखित रूप में नहीं थे। लिखन-कला में अभी-आदि परिचित होने पर भी भारतीयों ने वेदों को कई कारणों से लिखित नहीं किया। ऐसा होने से भगवती श्रुति के अविनाशिक हार्यों में पढ़ने की आशंका थी, लिखिकारों के अज्ञान और प्रमाद से वेद के स्वरों और वर्णों के दूषित इन से लिखे जाने की संभावना थी। छाठवीं, नवीं शताब्दी में कस्मीरी पण्डित वसुक ने पहली बार वेदों को लिखित करने का साहस किया। उस समय तक शिक्षा मौखिक ही होती थी। कुछ एक-एक विद्यार्थी को ध्यान पढ़ाता, उसका पाठ सुनता और गलतियों ठीक करता था। इस पद्धति से कई लाभ हैं। गुरु सब विद्यार्थियों पर वैयक्तिक ध्यान देता था, इसका अभाव वर्तमान शिक्षा-पद्धति को सबसे बड़ा कमी है। पुरानी पद्धति में पुस्तकीय शिक्षा पर बल न होने से विद्यार्थी प्रत्येक विषय को गुरु सीधे-समझकर याद करता था। यह कहना भलत है कि उस समय की शिक्षा-पद्धति में रटना और गोटन ही प्रधान था। बाल्यावस्था और मुमुक्षु ने गोटने की और निष्ठा की है, मुमुक्षु ने रटने वाले ज्ञान की उस स्तर से तुलना की है जो धारण पर बोझ का तो अनुभव करता है किन्तु यह नहीं जानता कि वह किस पस्तु का बोझ है। वेद का अध्ययन वेद-ग्रन्थों की व्याख्या के साथ होता था। समुदाय ब्राह्मण-साहित्य इसी प्रकार की रचना है। भारतीय विद्वान् परम-वर्णों के व्याख्या-कीर्षा के लिए उत्तमप्रसिद्ध थे। इसीलिए जोनी साधियों ने उनकी मुक्त कथ से प्रशंसा की है। इतिहास में लिखा है कि “यै इस बात से सर्वत्र बड़ा प्रसन्न है कि मुने भारतीय पण्डितों के घरों में बैठकर वह ज्ञान प्राप्ति करने का सौभाग्य मिला है, जो अन्यथा नहीं प्राप्त हो सकता था।” गुप्तान् व्यास ने भारतीय पण्डितों की विशेष प्रशंसा इस दृष्टि से की है कि ये अमन्य व्यक्तियों की सुन्दर व्याख्या करते हैं। प्राचीन पाठ्य-प्रणाली की यह बड़ी क्षमता थी कि वह समझकर एवं कष्टरहित करने पर बल देती थी। इस पद्धति से पढ़े व्यक्ति की वास्तविक बड़ा सम्पन्न होता था। वर्तमान काल की निंदता पुस्तकालयों में रखे विद्वान्-जोनों से है, प्राचीन पण्डित अपने ज्ञानों की अमन्य-किरता विश्व-कीर्षा बनाने का प्रयत्न करते थे।

इस प्रकार की पाठ्य-प्रणाली में गुरु व्यक्ति छात्रों की भली सेवा करता था। सामान्य रूप से प्रशिक्षता और भावना ने एक गुरु के पास १५-२० से अधिक छात्र नहीं होते थे। गुरु उन विद्यार्थियों पर पूरा ध्यान देता था। प्रत्येक विद्यार्थी को

पिछला पाठ सुनाने पर उसकी शोभता के अनुसार बगला पाठ दिया जाता था। मूल शिक्षण-कार्य में बड़े विद्यापियों का भी उपयोग करता था। महाभुक्तसोमनाथ के अनुसार कुरुदेश के एक राजपूत ने सत्य छात्रों की अपेक्षा पहले विद्या में प्रवीणता प्राप्त कर ली, उसे अपने छोटे भाई की शिक्षा का काम सौंप दिया गया, मूल की अनुपस्थिति में बड़े छात्र उसके अध्यापन की पूर्ति करते थे। हमसे एक घोर तर्जनी बड़े विद्यापियों की क्रियात्मक अनुभव मित्रता था, वहाँ दूसरी घोर इन छात्रों द्वारा निःशुल्क शिक्षण से शिक्षा का व्यय भी कम होता था।

विद्या प्रदर्शनेतर तथा कार्यान्वय की प्रवृत्ति से डी जाती थी। उपनिषद् में ब्रह्म-विद्या के द्वा तरकों का इसी तरह उपदेश दिया गया है। भगवान् बुद्ध की उपास-नीति भी इसी प्रकार की थी। इसका बड़ा ज्ञान यह था कि शिक्षा के समय शिष्य को उसमें पूरा मनोयोग देना पड़ता था, उसमें विचार और विश्लेषण की शक्ति विकसित होती थी। आवश्यक विषयों पर मूल तथा शिष्यों में वाद-विवाद होते थे। इनसे उनमें वाक्यदृढ़ता, चिन्तन, निरीक्षण, तुलना आदि की अनेक मानसिक शक्तियाँ प्रस्फुटित एवं पुष्ट होती थीं। वर्तमान शिक्षा-प्रवृत्ति में विद्यार्थी प्रायः निष्क्रिय रूप से अध्यापकों के व्याख्यान सुनता है, अतः उसका उचित मानसिक विकास नहीं हो पाता।

परीक्षाएँ और उपाधियाँ—प्राचीन भारत में न तो वर्तमान शिक्षा-प्रवृत्ति प्रचलित थी और न ही शिक्षा-समाप्ति के बाद कोई उपाधियाँ दी जाती थी। उस समय मूल ब्रह्मिनि सभा पाठ पढ़ाने से पहले इस बात की काफी कड़ी मौखिक परीक्षा लेता था कि शिष्य को पिछला पाठ भली भाँति स्मरण हो चुका है या नहीं, ऐसा न होने पर बगला पाठ नहीं दिया जाता था। अतः उस प्रवृत्ति में दैनिक परीक्षा होने के कारण वास्तविक परीक्षा की आवश्यकता ही नहीं थी। शिक्षा-समाप्ति के बाद समावर्तन से पहले कई बार शिष्यों को विद्वत्परिषद् में उपस्थित किया जाता था और उनके कुछ प्रश्न पूछे जाते थे। राजसेनर और चरक ने राज-दरबारी में वास्तविकी द्वारा होने वाली परीक्षाओं का उल्लेख किया है, किन्तु ये वर्तमान परीक्षाओं से सर्वथा भिन्न हैं। धार्मिक परीक्षाओं में मुक्तम उत्तीर्णों लेकर विद्यार्थी प्राप्त हो जाते हैं, किन्तु पुराने वास्तविकी में अधिकतम विद्वत्ता और पाण्डित्य दिखाने वाला ही प्राप्त हो सकता था। वे प्रायः विशेष अवसरों पर होते थे, सामान्य रूप से इनका प्रचलन नहीं था। परीक्षाएँ न होने के कारण, उस समय कोई उपाधियाँ भी नहीं दी जाती थी। मुघल ज्वाँव ने लिखा है कि राजसी सती में कुछ लोग अधिक सम्मान पाने के लिए यह कहा करते कि वे ताकन्दा के पड़े हुए हैं। ताकन्दा में उपाधियाँ न दी जाने से ही उन्हें ऐसी वृद्धता का भौका मिलता था। मध्य युग के अन्तिम भाग में विषयविद्या विषयविद्यालय के सराफा ज्ञानवर्षी राजा समावर्तन के समय विद्यार्थियों को उपाधियाँ देने लगे। मध्ययुगीन बंगाल में कुछ विद्वत्परिषदें मर्यादित जगदीश-जैसे प्रकाश विद्वानों

को तर्कचक्रवर्ती, तर्कालंकार को प्रतिष्ठित पदवियाँ देती थीं ; किन्तु यह पद्धति प्राचीन नहीं थी ।

परीक्षाओं और उपाधियों के न होने से वर्तमान काल के विद्यार्थियों को यह नहीं समझता चाहिए कि प्राचीन काल का शिष्य उनको अपने ही शायिक सौभाग्यशाली था । राजकुल का राज-परीक्षा से पहले सब-कुछ रटकर और परीक्षा-भवन में उसे उपलब्ध कर पाया हुआ है और फिर उपाधि प्राप्त करके अपना सारा पढ़ा-लिखा भुला सकता है । जब तक उसके पास उपाधि का प्रमाण-पत्र है, उसकी योग्यता में कोई संदेह नहीं कर सकता, किन्तु पुराने विद्यार्थी को न केवल प्रतिदिन गुरु की कड़ी परीक्षा देनी पड़ती थी, अपितु उसे विद्यास्वातंत्र्य के बाद भी अपने ज्ञान को समुष्ण हो नहीं किन्तु तनीतन्म खोजों से समृद्ध बनाये रखना पड़ता था । उसे सदैव सारी विद्या कटस्थ रखनी पड़ती थी । किसी भी समय उसे शास्त्रार्थ के लिए बुलाया जा सकता था और उस समय उसकी योग्यता की परीक्षा वाद-विवाद से होती थी । वह अपनी उपाधि के बल पर तथा तोटवुकों द्वारा वर्तमान विद्यार्थी की भाँति उस अग्नि-परीक्षा से नहीं बच सकता था ।

शिक्षा-संस्थाएँ—प्राचीन भारत में पाँचवी-छठी शती ई० तक शिक्षा प्रदान करने के लिए ग्रामाज या राज्य की ओर से वर्तमान काल की भाँति सुसंघटित शिक्षा-संस्थाएँ नहीं थीं । गुरु वैयक्तिक रूप से स्वयंसेवक शिष्य को शिक्षा दिया करते थे । संघटित शिक्षा-संस्थाओं का विकास सर्वप्रथम बौद्ध विद्वानों ने किया । इनमें पहले भिक्षु-भिक्षुणियों को तथा बाद में सर्व-साधारण जनता की व्यवस्थित रूप से शिक्षा दी जाने लगी । मानन्द्य इस प्रकार का पहला विश्वविद्यालय था । संभवतः इसके अनुकरण से हिन्दू-मन्दिरों के साथ शिक्षा-संस्थाओं का विकास हुआ । बौद्ध-बिहार लगभग १०० ई० से शिक्षा का कार्य आरम्भ कर देते हैं, किन्तु हिन्दू-मन्दिरों के उच्च शिक्षा का वेद्य करने के निश्चित प्रमाण दसवीं शती ई० से मिलते हैं ।

शिक्षा-केन्द्र—भारत में प्रधान रूप से पाँच प्रकार के शिक्षा-केन्द्र थे राजधानियाँ, तीर्थ, विहार, मन्दिर, अष्टाहार शाल । राजा लोग प्रायः विद्वानों के दरबारा होते थे, दूर-दूर से बड़े-बड़े विद्वान् उनके दरबारों में आते थे, राजधानी में रहने के, अपने काम उठाने के लिए विद्यार्थी आते थे और राजधानियों शिक्षा-केन्द्र बन जाती थीं । तक्षशिला, वनारस, कल्पीक, विजिता, वारा, उज्जयिनी, पैठन, भाजसेर, कल्याणी इसी प्रकार के केन्द्र थे । तीर्थ प्राचीन काल में विद्वान् आचार्यों के केन्द्र रहे हैं । वनारस, कोशी, तथा नागिक इन्हीं मन्दिरों के कारण प्रमुख शिक्षा-स्थान बने । भगवान् बुद्ध ने बौद्ध-विहारों में नये भिक्षुओं की बौद्ध-धर्म की शिक्षा देने के लिए १० वर्ष की अवधि नियत की थी । पहले इनका शिक्षण-कार्य भिक्षुओं तक सीमित था, बाद में साधारण जनता भी इनसे लाभ उठाने लगी । बौद्ध-विहारों की भाँति अब हिन्दू-मन्दिरों को बड़े-बड़े शाल मिलने लगे तो उनका कुछ नाम शिक्षा के लिए सुरक्षित

रखा जाने लगा। हिन्दू-मन्दिर न केवल हिन्दू धर्म, संस्कृति और सम्प्रदाय के प्रति हिन्दू धारणा के शिक्षण का भी केन्द्र बने। पहले बताया जा चुका है कि हिन्दू मन्दिरों द्वारा शिक्षण-कार्य के निश्चित प्रमाण दसवीं शती ई० में मिलते हैं। किन्तु यह संभव है कि मन्दिरों ने यह कार्य काफी पहले शुरू कर दिया हो। पुराने जमाने में विद्वान् ब्राह्मण-कुलों को अपने निर्वाह तथा छः प्रकार के शास्त्र-प्रतिपादित कर्तव्यों को पूरा करने के लिए जो गाँव दान में दिये जाते थे, वे ब्रह्महार कहलाते थे। ब्राह्मणों का एक कर्तव्य सम्भाषण भी था, सारंगपुर (हसन जिले के प्रसिकेरी) तथा राष्ट्रकुट राज्य के काडिपुर (प्राधुनिक कलस) नामक ब्रह्महार गाँव निश्चित रूप से शिक्षण-कार्य में लगे हुए थे। सारे देश में बिखरे हुए ऐसे सैकड़ों गाँव ज्ञान-प्रसार का पुनीत कार्य कर रहे थे।

प्रसिद्ध विश्वविद्यालय

तक्षशिला—प्राचीन भारतवर्ष का सबसे पुराना और प्रसिद्धतम शिक्षा-केन्द्र तक्षशिला था। रामायण के वर्णनानुसार भरत ने इस नगर की स्थापना की थी और अपने पुत्र तथा की उसका पहला शासक बनाया था। महाभारत में अतर्भव्य का नामगज इसी स्थान पर होने का वर्णन है (१।३।२०)। रामायण और महाभारत में इसके प्रसिद्ध केन्द्र होने का उल्लेख नहीं, किन्तु सातवीं शती ई० पू० तक यह स्थान विद्यापीठ के रूप में इतना प्रसिद्ध हो चुका था कि राजगृह, बनारस और मिथिला-जैसे दूरवर्ती स्थानों में छात्र यहाँ पढ़ने आने लगे थे। तक्षशिला पर विदेशी आक्रमण होते रहे और ऐसा प्रतीत होता है कि उनमें उसे काफी क्षति पहुँची। इस प्रदेश पर छठी शती ई० पू० में ईरानियों, दूसरी शती ई० पू० में सेलिडूना के यूनानी राजाओं, पहली शती ई० पू० में पाण्ड्य, पहली शती ई० में कुषाणों तथा पाँचवीं शती ई० के अन्त में हूणों के प्रबल आक्रमण हुए। फाहिमान की पाँचवीं शती के प्रारम्भ में शिक्षा की दृष्टि से यह स्थान महत्त्वपूर्ण नहीं प्रतीत हुआ। उस समय तक यह विद्यापीठ समाप्त हो चुका था।

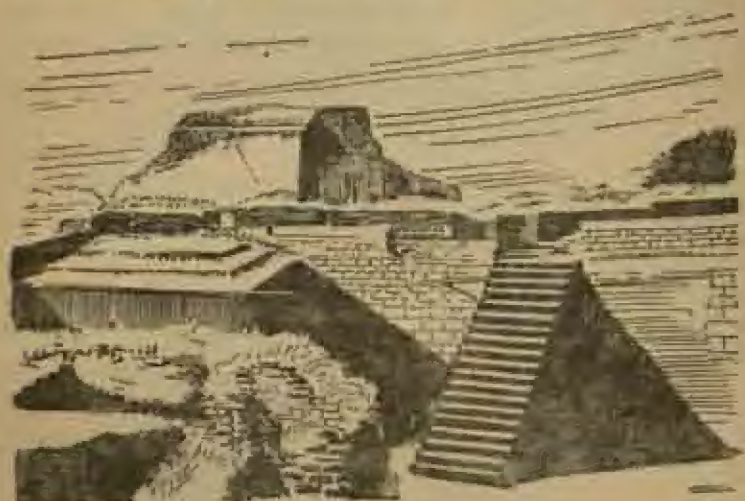
तक्षशिला प्राधुनिक काल के बड़े कालिबों या विश्वविद्यालयों की भाँति संपटित विद्यापीठ नहीं था। न तो उसके शिक्षक किसी केन्द्रीय नियन्त्रण में थे, न वहाँ का पाठ्य-क्रम और शिक्षा-काल निश्चित था। वहाँ कोई परीक्षाएँ भी नहीं होती थी और न ही कोई उपार्जिका दी जाती थी। यह केवल एक विकसित शिक्षा-केन्द्र था, जहाँ अनेक ब्रह्म-प्रतिष्ठ (दिनागामोवज) विद्वान् रहते थे। वे किसी कालिब से सम्बद्ध या उसके वेतनभोगी शिक्षक नहीं, किन्तु स्वतन्त्र थे। इनकी कीर्ति ने साकृष्ट होकर भारत के सभी प्रांतीयों से विद्यार्थी आते थे, इनके घर में रहते हुए इनके घरणों में बैठकर शिक्षा ग्रहण करते थे। यद्यपि जालणों में किसी मुन के पास ५०० से कम छात्रों का वर्णन नहीं, किन्तु वास्तव में वे प्रायः १५-२० से अधिक नहीं होते थे। इनमें पौन देने वाले छात्र मुन के घर में पुत्रों के समान रहते थे और निभान छात्र

दिन-भर गुरु का काम करके रात को उससे पढ़ते थे। प्रत्येक गुरु का अपना स्वतन्त्र कालिज था, उसका कोई भी उसकी इच्छा पर अवलम्बित होता था और विद्यार्थी को विषय-पढ़ने के लिए उन्मुख होते थे, वही उन्हें पढ़ाया जाता था। शिक्षा-बाल को कोई सबधि निर्दिष्ट नहीं थी। भगवान् गुरु के चिकित्सक जीपक को वही पढ़ते हुए जब हात पर घोंट गये तो गुरु ने अनुमति प्राप्त करके गुरु राजपुत्र लौट आया। यद्यपि उस समय गुरु ने उसको द्रव्य-गुण की व्याख्यान परीक्षा ली थी, तथापि वह व्याख्यान की परीक्षाओं से भिन्न थी।

तत्कालीन साहित्यिक एवं उपयोगी दोनों प्रकार की कलाओं का शिक्षा-केन्द्र था। वही 'गोर्गो' वेदों तथा धार्मिक शिक्षा की शिक्षा दी जाती थी। शिल्पों में वेदक और अनुविद्या प्रचलित थे। वेदक की शिक्षा बहुत उत्कृष्ट होती थी, जोकि वे वही से शिक्षा-ग्रहण करने के बाद पैद और गिर के जो आपरेषन किये हैं, उन्हें व्याख्यान के बहुत कम शब्द-चिकित्सक कर सकते हैं। अनुविद्या के गुरु 'अनन्तसिद्ध' आचार्य से देश के विभिन्न भागों से छात्रे हुए १०३ राजपुत्र शिक्षा ग्रहण करते थे। तत्कालीन में प्रायः विद्यार्थी १५-२५ वर्ष की आयु में जाते थे और छः से साठ वर्ष तक वही अध्ययन करके घर लौट जाते थे। जनारम के राजा अपने राजपुत्रों को शिक्षा के लिए तत्कालीन में ही भेजते थे। कौशलराज प्रमेनजित् ने भी वही शिक्षा पाई थी। पाणिनि षट्क के पास आनन्दपुर गाँव के रहने वाले थे। सम्भवतः वे वही के विद्यार्थी और बाद में गुरु गये होंगे। कुछ जनश्रुतियों के अनुसार आनन्दपुर वही के आचार्य थे।

नालन्दा—प्राचीन काल का दूसरा बड़ा प्रसिद्ध विश्वविद्यालय नालन्दा पटना के दक्षिण पश्चिम में ४०-मील की दूरी पर आधुनिक बङ्गाल था। इसका उत्कर्ष पाँचवीं शती के मध्य में गुप्त राजाओं के उत्तम राजाओं में हुआ। कट्टर हिन्दू होते हुए भी उन्होंने इसके संरक्षण और विकास में बड़ा भाग लिया। राजाशिल (जो सम्भवतः कुमार गुप्त प्रथम ४१४-४५४ ई०) ने एक विहार की स्थापना करके नालन्दा की नींव रखी। इस विहार का बौद्ध मन्दिर कई शतियों तक नालन्दा का केन्द्रीय देवालय रहा। इसके बाद तथामल गुप्त, सरसिह आनासिल (४६८-४७२ ई०), बुधगुप्त (४७५-४७७ ई०) ने एक तथा अन्य नामक राजा ने इसमें दो नये विहार बनवाये। छठी शती ई० में इसे सम्भवतः बौद्ध-धर्म के कट्टर डेरी हुए राजा मिहिरकुश और बंगाल के शशांक के हाथों काफ़ी क्षति उठानी पड़ी। किन्तु सातवीं शती के पूर्वार्ध में कुमार गुप्त के जाने तक यह पूर्ण हो गई तथा इस बीती शती के जीवन्त-नेतृत्व के शशुनागुप्त नालन्दा को सबसे उपरली मंजिल बादलों से भी ऊँची थी और वही पर बैठने वाला दर्शन यह देना सकता था कि बादल किस प्रकार अपने आकार बदलते हैं। इसमें भले ही प्रत्युत्ति हो, किन्तु नालन्दा की 'अनन्तसिद्धविहारमणि' का असंख्य शोधकर्ता के अभिलेख में भी है।

मुसलमन ज़ात के जीवनी-लेखक ने, जो कभी भारत नहीं आया था, सातवीं शती के दूसरे चरण में यहाँ के भिक्षुओं की संख्या दस हजार मिली है। इस्लाम यहाँ ६७५ ई० में आया। उसके वर्णनानुसार यहाँ तीन हजार से अधिक भिक्षु नहीं रहते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि सातवीं शती में यहाँ की साधारण छात्र-संख्या पाँच हजार



नागन्दा की प्राचीन-अवशेष

थी। नागन्दा की गुहाओं में भिक्षुओं के कमरे तथा बड़ी-बड़ी भट्टियाँ मिली हैं। कुछ कमरे एक ही भिक्षु के लिए होते थे कुछ दो के लिए। सबमें सोने के लिए एक या दो प्रस्तर-आवाराएँ दीवार के लिए तथा पुस्तकों के लिए तालक हैं।

सातवीं शती ई० के पूर्वार्ध में नागन्दा में धर्मपाल, चन्द्रपाल, मुसमति, स्थिरमति, प्रसाकर भिक्ख, जिनमित्र, जितचन्द्र, दीनभद्र नामक धर्मिष्ठ बौद्ध भ्रातृजनों के। एक हजार विद्वान् ऐसे थे जो लगूँक बौद्ध वाङ्मय की व्याख्या कर सकते थे। विश्वविद्यालय में साठ घंटे घोर तीन सौ छोटे कमरे थे घोर प्रतिदिन एक हजार व्याख्यान होते थे। उन दिनों नागन्दा की इतनी ख्याति थी कि कोरिया, चीन, तिब्बत, तथा मध्य एशिया से अनेकों छात्र यहाँ पढ़ने आते थे। नागन्दा में प्रवेश पावे के लिए कड़ी परीक्षा होती थी। मुसलमन ज़ात के वर्णनानुसार दसम बौद्ध या द्वादश प्रतिष्ठित विद्यार्थी ही पाठ होते थे। नागन्दा की एक बड़ी धियोवला 'पसंग्व' नामक विद्यालय पुस्तकालय था। चीनी यात्री पुस्तकों की प्रतिनिधि करने के लिए भी यहाँ आते थे। इस्लाम पाँच लाख इलाकों के चार सौ संस्कृत-ग्रन्थों की नकल यहाँ से ले गया था। नागन्दा के महापाल बौद्ध धर्म का केन्द्र होने से यहाँ मुख्य रूप से बौद्ध धर्म और दर्शन पढ़ाया जाता था। किन्तु इसके साथ ही वेद, वेदु विद्या (तर्क-शास्त्र), गण्य, घादि विद्या (व्याकरण),

विक्रिया तथा अनवधि (जादू-पन्थकी धर्म) और सांख्य दर्शन का भी अध्यापन होता था।

आठवीं शती में नालन्दा भारत का सबसे बड़ा शिक्षा-केन्द्र था, इसे उस समय तक अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व प्राप्त हो चुका था। इसके अनेक छात्राधी ने तिब्बत में बौद्ध धर्म के प्रसार में बड़ा भाग लिया। नवीं शती में जावा, सुमात्रा के राजा बाल-पुन्देव जे नालन्दा में एक विहार बनवाया। इसमें, ग्वाहूवी तथा बारहूवी शक्तिधर्म ने इसमें बौद्ध धर्म का साहित्यिक कार्य होता रहा, किन्तु ग्वाहूवी शती में बालवंशी राजाओं द्वारा विक्रमशिला को प्रोत्साहन देने से इसमें दीर्घता घटने लगी। यह उन दिनों तांत्रिक बौद्ध धर्म का केन्द्र बन गया। बारहूवी शती के अन्त में तुर्कों के आक्रमण से इसका अन्त हो गया।

बलभी—बलभी (काठिमाण्डू में आधुनिक बल) यह गतकी शती में नालन्दा के समान ख्याति प्राप्त विद्यापीठ था। इस्लाम के वर्णानुसार विज्ञान उच्च-शिक्षा पुरो करने के लिए यहाँ अनेक नालन्दा पो-नील वर्ग रहा करते थे। बलभी में सारे भारतवर्ष के विज्ञान विद्वानों पर विचार करने के लिए एकत्र होते थे। जिस पण्डित का विचार बलभी के विज्ञान में मानते, वह अपनी बुद्धिमत्ता के लिए सारे भारत में प्रसिद्ध हो जाता था। बलभी को भी राजाओं द्वारा सहानुभूति मिलती थी। बलभी की उन दिनों इसकी ख्याति थी कि उत्तर प्रदेश के व्यक्ति भी अपनी सम्मान को शिक्षा के लिए यहाँ भेजा करते थे।

विक्रमशिला—विक्रमशिला (भागलपुर से पूर्व में २४ मील दूर पचरपाट) को स्थापना पालवंशी राजा समपाल ने आठवीं शती में ही और बाद शतियों तक पूर्वी भारत का यह शिक्षा-केन्द्र प्रकाश विज्ञान पैदा करता रहा। तिब्बत के साथ इसका विशेष सम्बन्ध था। तिब्बती विद्वानों के लिए यहाँ एक विशेष धर्मशास्त्र भी बनाई हुई थी। यहाँ के अनेक छात्राधी तिब्बत जाते तथा संस्कृत ग्रंथों का तिब्बती में अनुवाद करते रहे। इनमें दीर्घकर भीज्ञान सबसे अधिक प्रसिद्ध है, वे ग्वाहूवी शती में तिब्बत गये, उन्होंने दो सौ पुस्तकें लिखी तथा अनुवाद की। बारहूवी शती में इसमें तीन सौ शिक्षु और एक विशाल पुस्तकालय था। इस विद्यालय में प्रवेशार्थी विद्वानों को परीक्षा के लिए छात्राधी पण्डित थे। यहाँ व्यवहार, भाव, दर्शन तथा ज्ञान का विशेष रूप से अध्यापन होता था।

विक्रमशिला अन्त में विश्वविद्यालयों की संस्था अधिक सुसंरचित और व्यवस्थित थी। यहाँ शिक्षा समाप्त होने पर विद्वानों को बंगाल के राजाओं द्वारा उपाधियाँ मिलाने की जाती थी। जेतादि और उत्तराखण्ड की महानपाल और कनक नामक राजाओं ने पदविधि प्रदान की थी। विद्वानों के गुराने प्रसिद्ध ज्ञानों की स्मृति कात्तिक-ज्ञान की दीवारों पर उनके चित्र-चित्र बनाकर सुरक्षित रखी जाती

सी। १२०३ ई० में मुहम्मद बिन बकित्यार खिलजी की सेना ने इसे दुर्ग भग्नात् ध्वस्त करके पूर्ण विध्वंस किया।

बनारस—बनारस इस समय संस्कृत शिक्षा का बहुत बड़ा केन्द्र है, किन्तु २,५०० वर्ष पहले यह स्थिति नहीं थी। सातवीं शती ई० पू० में हम बनारस के राजाओं के पुत्रों को अध्ययन के लिए तक्षशिला जाता हुआ पाते हैं। भगवान् बुद्ध के समय इसका कुछ धार्मिक महत्त्व प्रचलित था। उन्होंने सारनाथ में ही धर्मचक्र प्रवर्तन किया। अशोक ने यहाँ अनेक स्तूप स्थापित किये। हिन्दू धर्म का महत्त्वपूर्ण तीर्थ होने के कारण संस्कृत पण्डितों का यह बड़ा केन्द्र था। सारहवीं शती में अलबेर्नी ने इसे तथा काशीर को बिद्या का बड़ा केन्द्र लिखा है। यहाँ संस्कृतित अपने धर्म अध्ययन केन्द्र चलाते रहे। ऐसा नहीं प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में यहाँ कभी भाषाशास्त्र या विकर्मोपनिषद्-जैसे सुतन्त्रांश विद्यालय स्थापित हुए हों।

शिक्षा-प्रवृत्ति के उद्देश्य—भारतीय शिक्षा-प्रवृत्ति के चार प्रधान उद्देश्य थे और यह इनमें पूर्ण तरह सफल हुई।

पहला उद्देश्य चरित्र का निर्माण था, भाषाओं का धर्म ही भाषा का निर्माता है। ब्रह्मचर्यावस्था में संयम, सादगी और सच्चरित्रता पर बहुत बल दिया जाता था। भारतीय शिक्षा-प्रवृत्ति की चरित्र-निर्माण के उपाय जिन में कितनी सफलता मिली, वह मेगस्थनीज, यूधान्त ज्योतिष, इदरीसी, मार्कोपोलो प्रभृति विदेशी यात्रियों के विवरण से भली-भाँति स्पष्ट है। उन्होंने भारतीयों के चरित्र की मुक्त कंठ से प्रशंसा की है।

दूसरा उद्देश्य व्यक्तिगत विकास था। मृत के घर में रहते हुए विद्यार्थी को अपनी मानसिक और शारीरिक शक्तियों के विकास का पूरा अवसर मिलता था। युवक उसमें आत्म-सम्मान, आत्म-नियंत्रण और आत्मसंयम की भावना पैदा करता था। यह व्यक्तित्व जाति की संस्कृति और सम्मता का संरक्षक था। जाति का उद्धार और उन्नति उसके कामों पर अवलम्बित है, ऐसा उसे पूरा ज्ञान कराया जाता था। इसका महत्त्वपूर्ण व्यक्ति होने के कारण ही स्नातक की राज्या से ऊँचा स्थान दिया गया था। इससे उसमें उत्तरदायित्व और कर्तव्य की भावना का जन्म होता था और यह उसके व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास में सहायक सिद्ध होता था।

तीसरा उद्देश्य सामरिक एवं सामाजिक कर्तव्यों का बोध था। स्नातक होने समय उसे यह बताया जाता था कि तुमको स्वार्थ-विराग्य जीवन नहीं दिनाता चाहिए। समाज का तुम पर लक्ष्य है, भगवद्गीतादर्शन और उनकी उचित शिक्षा द्वारा वह लक्ष्य तुम्हें उपलब्ध है। अपने मन का विनियोग आत्म-विनाश के लिए नहीं, किन्तु लोक-हित के लिए करना है। विभिन्न पेशेवालों को अपने व्यवसाय के उच्चतम उदात्त भावों सर्वत्र समाने रखने पड़ते थे। उदाहरणार्थ दैत्यों के लिए यह नियम

बनाया गया था कि अपने प्राण चाहें-संकट में हों, किन्तु बीमारों की उपेक्षा नहीं होनी चाहिए ।

चौथा उद्देश्य प्राचीन संस्कृति का संरक्षण था । इसमें शिक्षा-पद्धति पूर्ण रूप से सफल हुई । विशाल वैदिक वाङ्मय सैकड़ों वर्षों तक गुरु-शिष्य-परम्परा ने ही सुरक्षित रखा है । इसे सुरक्षित रखते हुए, प्रत्येक पीढ़ी ने उसे समृद्ध बनाने का यत्न किया ।

उपसंहार—प्राचीन शिक्षा-पद्धति ने नाना जातियों वाले इस देश में एक मिलनसार साम्प्रदायिक एकता उत्पन्न की । इसी भारतीय मस्तिष्क का यह उन्नततम विकास हुआ, जिससे गुप्त युग तक हम दर्शन, न्याय, गणित, खगोल, वैद्यक, रसायन आदि शास्त्रों और ज्ञान के सभी क्षेत्रों में विश्व का नेतृत्व करते रहे । पुरानी शिक्षा-पद्धति की कुछ विशेषताएँ अद्वितीय हैं । उपनयन द्वारा समूचे समाज को साधर बनाना शिष्यों की शिक्षा की व्यवस्था, चरित्र-निर्माण तथा मार्गारक गुणों का विकास किसी दूसरे देश की प्राचीन शिक्षा-पद्धति में नहीं दिखाई देता । इसके कुछ मौलिक सिद्धान्त गुरु-शिष्य का वैयक्तिक सम्बन्ध, गुरुकुल जीवन का आदर्श, सादा रहन-सहन तथा उच्च विचार, साहित्यिक एवं उपयोगी कलाओं की शिक्षा वर्तमान युग में भी सर्वश्रेष्ठ तथा अनुकरणीय हैं ।

आधुनिक भारत

आधुनिक युग का महत्त्व—सठारहवीं शती के मध्य में बंगाल में ब्रिटिश सत्ता की स्थापना हुई, धीरे-धीरे सारा देश संघेजों के आधीन हो गया। १२० वर्ष (१७५७-१८४७ ई०) तक भारत परतन्त्र रहा। किन्तु सांस्कृतिक दृष्टि से इस काल का प्रसाधारण महत्त्व है। ब्रिटिश शासन में ही भारत ने कई गतिधियों की कुम्भकर्णी मिश्रा का पौरत्वान किया, इसी समय धार्मिक, राजनैतिक, सामाजिक, साहित्यिक, बौद्धिक, वैज्ञानिक, आर्थिक क्षेत्रों में प्रसाधारण जागरण और उन्नति हुई। धार्मिक क्षेत्र में राजा राममोहनराय, श्री देवेन्द्रनाथ ठाकुर, श्री केशवचन्द्र सेन महर्षि दयानन्द, स्वामी रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द प्रभृति महापुरुषों ने भारत का मसलक ऊँचा किया। राजनैतिक क्षेत्र में दादाभाई नौरोजी, मोतीलाल कृष्ण गोखले, बाल गंगाधर तिलक, महात्मा गांधी और जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में संघेजों से संघर्ष करके भारत ने स्वतन्त्रता प्राप्त की। सामाजिक क्षेत्र में सती-दाह, कन्या-वध, बाल-विवाह आदि कुप्रथाओं के हटाने, विधवा-विवाह, हरिजन-उत्थान, स्त्री-शिक्षा आदि उपयोगी सुधारों के प्रचार से हमारे समाज का काया-पलट हो रहा है। साहित्यिक क्षेत्र में आधुनिक भाषाओं के विकास तथा श्री रवीन्द्रनाथ-टैगोर, बिस्व-विख्यात विभूतियों के उत्पन्न करने का क्षेत्र सर्वमान्य भारत की ही है। इसी काल में श्री जगदीशचन्द्र बोस तथा रमण-चेंडे वैज्ञानिकी, टाटा-जैसे उद्योगपतियों, श्री धरविन्द-जति गोयियों और दार्शनिकों का आधुनिक हुआ है। सारे भारतवर्ष में एक नई भावना और नई चेतना का उदय हुआ और इससे भारत ने मध्य युग से आधुनिक युग में प्रवेश किया है।

यों तो प्रत्येक पीढ़ी अपने की आधुनिक कहती है, किन्तु इतिहास में कई विवेकपूर्ण उत्पन्न होने पर ही आधुनिक युग का औपगोय समझा जाता है। धीरान्वित परम्परा वर्तमान काल की कतिपय बताती है किन्तु ऐतिहासिक इसे कल-युग कहते हैं। आधुनिकता का प्रसाक निम्न कतिपयों होना प्रार्थित मशीनों की महाप्रसा में भारी परिवर्ण में उत्पादन तथा वैज्ञानिक साविधकारों का अधिकारिक उपयोग है। इसकी प्रन्न विवेकपूर्ण राश्ट्रीधता की भावना, प्रजातन्त्र प्रणाली तथा धार्मिक विचार-प्रजातन्त्र है। ये किसी भी देश में आधुनिक परिवर्णन कर देती हैं। पिछले ही वर्षों में इसी के कारण भारत में नवयुग का प्रारम्भ हुआ है। वही सांस्कृतिक दृष्टि से हुए

महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों का उल्लेख किया जायगा। के परिवर्तन धर्म, समाज, साहित्य और कला के क्षेत्र में हुए हैं और इनसे अभूतपूर्व भारतीय जागरण हुआ है।

धार्मिक आन्दोलन

साधुनिक भारत में नवयुग की ज्योति सर्वप्रथम धार्मिक आन्दोलनों के रूप में प्रकट होती है। इस समय भारत में जो जागृति दिखाई देती है, उसका सूत्रपात इन्हीं से हुआ है। इनसे भारत की सर्वप्रथम अपनी दार्शनिक वर्तमान स्थिति का बोध, स्वयंसेवक शरीर का ज्ञान तथा उत्कृष्टतम भविष्य में विश्वास उत्पन्न हुआ। इन्होंने सामोचनात्मक दृष्टि से धार्मिकों के व्यवहार पर बल दिया, धर्म-विश्वासों और कठिनाई के स्वरूप पर ठीक और बुद्धि की प्रधानता दी। इन आन्दोलनों के प्रेरक कारण ख्रिष्टियानिटी से उत्पन्न नवीन परिस्थितियों की। ईसाई-प्रचारक हिन्दु और मुस्लिम धर्मों पर प्रबल आक्षेप कर रहे थे, धर्मवीरों का प्रसार से पश्चिम के प्रसार विचार विधित, जगत् तक पहुँच रहे थे और ख़रीर की भाँति धीरे-धीरे उन्होंने समूचे भारत की अपने प्रभाव में खोल-खोल दिया। उन्होंने सभी शक्तों के प्रारम्भ में भारत के सभी धर्म अपने धर्म-प्रवर्तकों की धर्मवीर शिष्टाचार, भूतकर्म नामा प्रकार के धर्म-विश्वासों, कठिनाई आदिमूर्तों, शुद्ध कर्मकाण्ड तथा ज्ञान विचारों के मोह-बाल में फँसे हुए थे। पश्चिमी ज्ञान के आलोक से धर्मों को नष्ट करने पर तथा धर्मवीरता की पीड़ा अनुभव करने पर समस्त भारतीयों ने अपने देश की दुरवस्था देखी, उन्हें उसमें संशोधन की आवश्यकता प्रतीत हुई, उसके परिणाम उन्नीसवीं शती के धार्मिक आन्दोलन थे।

ये आन्दोलन दो प्रकार के थे। कुछ उस सुधारवादी थे, वे धर्म और समाज में नई धार्मिकारी सुधार चाहते थे, उनकी प्रेरणा का प्रमाण सेंट पश्चिमी शिक्षा और विचार-धारा थी। इनमें ब्रह्मसमाज और आर्य समाज मुख्य थे। इनके नेताओं ने पश्चिमी विचारों से आकृष्ट होकर इस धर्मधर्मिक धार्मिक परिवर्तन करने चाहें तो इसकी धार्मिकता बहुत सुधार-आन्दोलनों के रूप में प्रकट हुई। विद्योत्पत्ति और राम-कृष्ण मिशन ऐसे ही प्रमाण थे। दोनों धर्मधर्मिकों के बीच में धर्म-धर्म विचारों वाले सुधारक तथा धर्म-समाज के नेता थे, जो वैदिक परम्परा को धर्मपूर्ण रखते हुए धर्मधर्मियों में उत्पन्न हुई धर्मधर्मियों का संशोधन करना चाहते थे।

ब्रह्मसमाज—ब्रह्मसमाज के प्रवर्तक राजा राममोहन राय (१७७२—१८३३ ई०) थे। बचपन से ही वे भक्ति-भूतों के विरोधी थे, उनका विश्वास था कि सब धर्म एक ही ईश्वर को मानते हैं। १८१३ ई० के बाद ईसाई-मिशनरी हिन्दु धर्म पर बहुत प्रबल आक्रमण करने लगे। राममोहन राय पहले तो इनका उत्तर देते रहे और बाद में उन्होंने कुछ एकेस्वरवाद की आसना के लिए ब्रह्म-समाज की स्थापना की। इसकी पहली बैठक कलकत्ता में २० अगस्त, १८२८ को हुई। इसके साप्ताहिक धर्म-नेतृत्व में वेदों का पाठ, उपनिषदों के जगत् अनुवाद का ध्यान और संगीत में उपदेश

होते थे। राममोहन राय दो वर्ष बाद इंग्लैंड चले गए और १८३३ ई० में उनकी मृत्यु के बाद इसके प्रधान नेता श्री देवेन्द्रनाथ ठाकुर बने। उन्होंने ब्रह्म-समाज के संगठन को निश्चित विधान तथा नियम बनाकर सुदृढ़ किया। इन्होंने सम्पूर्ण देशों को प्रामाणिक मानने का विचार छोड़ दिया। १८२७ ई० में ब्रह्मसमाज में संघेजी शिक्षा-सम्प्रदाय, सत्यार्थिक भाषुक तथा बाग्यी युवक श्री केशवचन्द्र सेन का प्रामाण्य हुआ। इसने ब्रह्म-समाज को नई भावना और स्फूर्ति से धीत-प्रोत किया। इसके विचार बहुत ज़रूरत से और १८६० में इसने ज़ारता के नाम पर पवित्र यज्ञोपवीत को भी तिलाजलि दे दी। उन दिनों श्री केशवचन्द्र सेन पर ईसाइयत का प्रभाव अधिक पड़ रहा था। १८६६ ई० में उनके एक व्याख्याता से श्रोताओं ने यह समझा कि श्री सेन अब ईसाई होने वाले हैं। ११ नवम्बर, १८६६ को उन्होंने अपना पृथक् समाज स्थापित किया। इसके बाद ब्रह्मसमाज में अनेक मतभेद उत्पन्न हो गए और उसका प्रभाव भी हीन हो गया।

ब्रह्मसमाज ईसाइयत के विरोध में हिन्दू-समाज की रक्षा के लिए पहला बाध था, किन्तु वह अन्त में ईसाइयत के जबरदस्त प्रवाह का मुकाबला न करके उसी के साथ बह गया। मूर्ति-पूजा के विरोध में प्रतिनिधित्व ब्रह्मसमाज ने जाति-भेद आदि की कुरीतियों के निवारण की ओर भी बहुत ध्यान दिया। श्री केशवचन्द्र सेन के प्रयत्न से १८७२ ई० में 'विशेष विवाह कानून' पास हुआ, जिससे आड़ों के धर्म-जाति-विवाह वैध हो गए।

ब्रह्मसमाज हिन्दू-समाज में उच्च सुधार करना चाहता था, उस पर पाश्चात्य प्रभाव, ईसाइयत और संघेजी शिक्षा का गहरा प्रभाव पड़ा था। इसका क्षेत्र बंगाल तक ही सीमित था। पश्चिमी भारत में १८६४ ई० में श्री केशवचन्द्र सेन की बाधा तथा बाग्यी का शिक्षित जगत पर गहरा असर हुआ। १८६७ में बम्बई में 'प्रार्थना-समाज' की स्थापना हुई। यह ब्रह्मसमाज का ही दूसरा रूप था। इसके नेता डॉ० छात्रमाराज पाण्डुरंग रामकृष्ण गोसावळ भट्टाकर, महादेव गोविन्द रानाडे थे। वे जाति-प्रथा के उच्छेद, शिक्षा-पुनर्विवाह, स्त्री-शिक्षा को प्रसार तथा बल-विवाह-निषेध के सुधारी पर बल देते थे। निश्चित नियमों के आधार पर इस समाज का संगठन न होने के, यह आन्दोलन व्यक्तिगत ही नहीं बन सका।

ये सुधार-आन्दोलन केवल हिन्दू-धर्म तक ही सीमित न थे। संघेजी शिक्षा द्वारा जिस पाश्चात्य प्रभाव और ईसाइयत के प्रसार ने हिन्दुओं में ब्रह्मसमाज और प्रार्थना-समाज पैदा किये, उसी से बरमुम्बई एवं मुस्लिम धर्मों में सुधार की प्रवृत्तियाँ प्रबल हुईं। १८४१ ई० में शिक्षित पारसियों ने पारसी धर्म की रक्षा तथा कुरीतियों के संशोधन के लिए 'रहनुमाये मज्जायनास' नामक समाज की स्थापना की। इसका उद्देश्य पारसी समाज का पुनरुज्जीवन तथा पारसी धर्म की प्राक्कल पवित्रता की ओर लौटना था। इसके नेता शहा साई मोरोजी तथा जे० बी० कामा साहि महातुबाफ

थे। इस्लाम में तबे धार्मिक सुधारों का श्रावणोप करने वाले सर मजिद अहमद थे। कट्टर एवं कड़ि-वास्त इस्लाम को उन्होंने युक्ति-संगत बनाने का प्रयत्न किया, वे तर्कों को ही परम प्रमाण मानते थे। हजरत मुहम्मद की शिक्षाओं को समयानुकूल बनाने का दूसरा प्रयत्न भारत के सर्व-प्रथम त्रिषी कौन्सिलर श्री समीर सली ने किया।

उपर्युक्त सभी धान्दोलन उच्च सुधार तथा सामूल परिवर्तन के पक्षपाती थे। १८२८ से १८७० ई० तक इनकी प्रधानता रही। किन्तु उसके बाद उच्च सुधार धान्दोलनों की प्रतिष्ठा कट्टर धान्दोलनों के रूप में शुरू हुई। इन्होंने न केवल ईसाइयों के सतरे का अनुभव किया, किन्तु हिन्दू-धर्म के मौलिक सिद्धान्तों की उपेक्षा और तिरस्कार को भली भाँति समझा। पचास वर्ष पहले जहाँ मिश्रित हिन्दूधर्मात्मक हिन्दू धर्म के विविध सिद्धान्तों और अनुष्ठानों की मिली उड़ाता था, अब वह उसका वैज्ञानिक समर्थन करने लगा। प्रत्येक हिन्दूधर्मा और कड़ि का नाहे वह सामाजिक दृष्टि से हानिकार ही क्यों न हो, आत्मकारिक दृष्टि से इस प्रकार वर्णन किया जाने लगा कि वह स्वेच्छाय और आदर्श समझी जाय। इस प्रकार के धान्दोलनों में श्री रामकृष्ण तथा स्वामी विवेकानन्द का प्रचार और विमोक्षण मुख्य थे।

रामकृष्ण-मिशन-धान्दोलन—श्री रामकृष्ण परमहंस उच्छकोटि के सन्त और साधक थे। १८५६-१८७१ ई० तक उन्होंने कठोर साधना की, अन्य धर्मों के प्रति उनकी दृष्टि अत्यन्त उदार थी। वे मौलिक रूप से शिक्षाओं की उपेक्षा देते थे। उनके शिक्षाओं में नरेन्द्रनाथ (स्वामी विवेकानन्द) बहुत प्रसिद्ध हैं। मृत्यु की मृत्यु के बाद इन्होंने संन्यास ग्रहण किया, छः वर्ष तक सिखत आदि में बौद्ध धर्म के अध्ययन के लिए पर्यटन करते रहे। १८८२ ई० के सितम्बर मास में शिकागो के धर्म-सम्मेलन में सम्मिलित होकर उन्होंने वह प्रसिद्ध ऐतिहासिक वक्तृता दी जिससे अमरीका की भारत के धार्मिक महत्त्व का पहली बार बुरा ज्ञान हुआ। अमरीका और इंग्लैंड में हिन्दू-धर्म का प्रचार करने के बाद वे वापस भारत लौटे। सारे देश में उनका प्रभुत्वपूर्ण स्वागत हुआ। उन्होंने बेलूर और नायागरी (बन्नीड़ा) में दो केन्द्र स्थापित किये। देश में दुर्मिश पढ़ने पर उन्होंने महात्मन-कर्म का संगठन किया, इसी संगठन में बाद में श्री रामकृष्ण-संकाशम का रूप धारण किया। ४ जुलाई, १९०२ को स्वामी विवेकानन्द दिवंगत हुए।

रामकृष्ण-मिशन-धान्दोलन की कई विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं। वह सुधारों की दृष्टि से ब्रह्म-समाज की भाँति उच्च नहीं है, वेदान्त के सिद्धान्तों की आदर्श मानता है और आध्यात्मिकता का विकास ही इसका प्रधान लक्ष्य है। इस समय के अन्य सुधारक मुक्ति-युद्ध के विरोधी थे, किन्तु रामकृष्ण परमहंस इसे आध्यात्मिक भावना जागृत करने के लिए उपयुक्त मानते थे। जिन प्रयाशों और परम्पराओं को ब्रह्मसमाज या कट्टर हिन्दू-धर्म के अन्य आलोचक समाज के लिए आत्मक समझते थे, मिशन उन्हें उच्च रूप में नहीं देखता था। स्वामी विवेकानन्द हिन्दू धर्म के कार्यवाही

धातुगर्भ-प्रपात स्वकाय की कठोर भर्त्सना करते थे, किन्तु फिर भी सुधारकों का मार्ग ठीक नहीं समझते थे। उनका कहना था "पुराने सभी विचार अन्ध-विश्वास हो सकते हैं, किन्तु अन्ध-विश्वासों के विशाल समुद्र में सत्य की सुवर्ण कणिकाएँ हैं। क्या तुमने ऐसा साधन ढूँढ़ निकाला है जिससे सुवर्णों को भुरक्षित रखते हुए उनकी चमूँदिक को दूर कर सको?" रामकृष्ण-मिशन की दूसरी विशेषता यह है कि यह सब धर्मों की सत्यता में विश्वास रखता है और इसकी धार्मिक दृष्टि अत्यन्त उदार है। मिशन का समाज-सेवा का कार्य अत्यन्त सराहनीय है, दुग्ध, बाढ़ आदि विपत्तियों में देश-वासियों की सेवा के साथ, इसके सेवाश्रम रोगियों की चिकित्सा और लोक-शिक्षण में भी लगे हुए हैं। स्वामी विवेकानन्द के प्रयत्नों से पारच्यत्य देशों में भारत का मान बढ़ा, उन्होंने सर्वप्रथम वर्तमान युग में पश्चिम के सम्मुख भारतीय संस्कृति और सभ्यता के गौरव को प्रतिष्ठापित किया। इसीलिए इस देश में वे बड़े लोकप्रिय हुए। उनका कहना था कि पश्चिम का उद्धार भारतीय सभ्यात्मवाद से हो सकता है और भारत की उन्नति पश्चिमी देशों की उपयोगी विशेषताओं को धनाने से हो सकती है। विदेशों में हिन्दू धर्म तथा वेदान्त के प्रचार तथा भारत में लोक-सेवा के कार्य की रामकृष्ण-मिशन ने सफलतापूर्वक सम्पन्न किया है।

विद्योत्पत्ती—विद्योत्पत्ती की स्थापना मैडम अर्न्स्टेड्स्की तथा कर्नेल प्रन्काट ने १८७५ ई० में अमरीका में की थी। वे १८७२ में भारत आए। १८८६ ई० में मद्रास के निकट सबयार में उन्होंने अपना केंद्र बनाया। भारत में इस आन्दोलन की सफल बनाने का प्रधान ध्येय श्रीमती एती बीसेष्ट को है।

विद्योत्पत्ती आन्दोलन ने हिन्दू धर्म की प्राचीन कड़ियों, विश्वासों और कर्म-काण्ड का बड़ा प्रचल वैज्ञानिक समर्थन किया। इसका उद्देश्य प्राचीन भारतीय आदर्शों और परम्पराओं को पुनरुज्जीवित करना था। श्रीमती बीसेष्ट के प्रयत्न से इस गुरु की पुति के लिए बनारस में 'हिन्दू हिन्दू स्कूल' की स्थापना हुई, बाद में उसने कासेज तथा धंत में हिन्दू विश्वविद्यालय का रूप धारण किया। प्राचीन संस्कृति पर बल देने के कारण, यह आन्दोलन हिन्दू-समाज में बड़ा लोकप्रिय हुआ, किन्तु पुरानी कड़ियों और विश्वासों के समर्थन तथा रहस्यमय कर्मकाण्ड और तन्त्रवाद पर बल देने से शिक्षित समुदाय में इसके प्रति अलक्ष्य पड़ गया। इसका अधिक प्रभाव दक्षिण भारत के धार्मिक और सामाजिक आन्दोलनों पर ही पड़ा।

कट्टर सुधार आन्दोलनों का एक सुपरिणाम यह हुआ कि लम्बानु एवं निम्बानु हिन्दू धर्म ने धार्मिकवादीक रूप धारण किया। पारच्यत्य शिक्षा और सभ्यता की पहली शकाधीन में शिक्षित वर्ग हिन्दू-धर्म में विश्वास खो चुका था, उसमें तार्किकता और संदेह की वस्तुतया प्रचल हो गई थी, उन समय अनेक व्यक्तियों को धर्म के हिन्दू कहलाने में शब्दा अनुभव होती थी। १८७० से १८८० ई० तक यह मनोवृत्ति समाप्त हुई। बंगाल में पश्चिमी शतधर तक पुनर्जाति और ब्रह्मचर्य इन आन्दोलन

के नेता थे। उनका प्रधान कार्य हिन्दुओं की मानसिक दासता को दूर करना था। उन्होंने वैज्ञानिक प्रमाणों के आधार पर हिन्दू कर्मकाण्ड तथा स्त्रियों की ग्याय्य एवं आवश्यक ठहराया। अधर के मतानुसार केवल भारत ही ऐसा देश था जहाँ सभ्यता का पूरा विकास हो सकता था, बाकी सब धर्म और सभ्यताएँ हिन्दू-धर्म की तुलना में अधुना, सबैज्ञानिक और हानिप्रद थे। शिक्षाधारण इसलिए उचित एवं विज्ञान-सम्मत था कि इससे शरीर में विषमता आरामों का एक ठीक तरह फैलता रहता है। अधर ने उसके साथियों की सुक्तिर्षी में भले ही पूरी सत्यता न हो, किन्तु समय के हज़ारों कलकों, व्यापारियों तथा शिक्षकों पर उनका सहारा बसर पड़ा, इनमें उनमें अपने धर्म के प्रति आत्मविश्वास और आत्मानुमान जागृत हुआ। शिक्षित धर्म में यही कार्य श्री धर्म ने किया, उन्होंने पादरियों द्वारा कुल-भक्ति पर किये गए धर्मों का सुन्दर समाधान किया।

धर्मसमाज—धर्म सुधार तथा समाजसंशोधन के पिछली राती के धार्मिकों में सम्भवतः सर्वोच्च स्थान धर्मसमाज का है। इसके संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती (१८२४-१८८३ ई०) थे। २२ वर्ष की अवस्था में सत्य की खोज में उन्होंने भगवान् बुद्ध की भाँति महाभित्तिभक्षण (वृहत् स्नान) किया। १४ वर्ष तक सत्येयुग की खोजें रहे, उन्होंने दुर्गम तीर्थों में योग-साधना करते हुए ज्ञान-संचय किया। १८६० ई० में वे मथुरा में बड़ी स्वामी विद्यानन्द के शिष्य बने। ३ वर्ष तक उनके चरणों में बैठकर विद्याभाषण करते रहे, उनमें उन्होंने प्रत्येक वस्तु के सत्यार्थ निर्णय की धर्म-दृष्टि प्राप्त की। १८६६ में हरिद्वार के कुम्भ में हिन्दू-धर्म की शोक-नीच दशा देखकर उन्होंने इसके महान् पालन के विरुद्ध आत्म-सन्निधी पताका गाड़कर अपने जीवन का महत्वपूर्ण कार्य आरम्भ किया। उनका दमन जीवन हमें सहसा संकराचार्य की स्मृति कर देता है। अगि दयानन्द का प्रधान मन्त्र्य था कि मूर्तिपूजा केद-विहित नहीं है। सर्वत्र वे पण्डितों को उसे केदानुकूल सिद्ध करने की चुनौती देते थे। काशी के तीन ही पण्डित स्वामी जी को वेदों में से मूर्तिपूजा सिद्ध करने वाला एक भी प्रमाण ढूँढ़कर नहीं दे सके (१६ नवम्बर, १८६२ ई०)। इससे बहकर उनकी विजय क्या हो सकती थी। स्वामी जी ने अपना सभ्य जीवन मूर्तिपूजा तथा हिन्दू धर्म के अन्य-विधियों तथा गुरीतियों के सम्मन और वैदिक शिक्षाओं के प्रचार में लगाया। १८७४ ई० में उन्होंने 'सत्यार्थ-प्रकाश' लिखा। जीवन के अन्तिम चार वर्ष वे वेदाँ राजवाड़ी में रहे। 'सत्यार्थ-प्रकाश' के बाद उन्होंने 'संस्कार-विधि' 'यजुर्वेद भाष्य' (सम्पूर्ण), 'अथर्व-भाष्य' (अपूर्ण), 'अथर्वविद्याभाष्य भूमिका' आदि महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे। ३० दिसम्बर, १८८३ ई० को दोषमातिका के दिन, अपने ६० में उन्होंने अपनी जीवन-बीजा पूर्ण की।

धर्मसमाज की विशेषताएँ—स्वामी दयानन्द ने अपने कार्य की स्थायी रूप देने के लिए पहले राजकोट और पुना तथा फिर बम्बई में १८७४ ई० में धर्मसमाज

की स्थापना की। यद्यपि उन्होंने उत्तर भारत के सभी प्रांतों में वैदिक धर्म का प्रचार किया, किन्तु इसका सबसे अधिक प्रभाव पंजाब में ही पड़ा। कर्मठ पंदावियों ने इस आन्दोलन को उन्नीसवीं शती का सबसे महत्वपूर्ण आन्दोलन बना दिया। धर्म-समाज के आन्दोलन की कई विशेषताएँ थीं। उसने मूर्तिपूजा का खण्डन करते हुए हिन्दू धर्म के मूल स्रोत वेद को प्रधान आधार बनाया था। श्री धरविन्द के शब्दों में राममोहन राय उपनिषदों पर ही उल्टर गए थे, दयानन्द ने उपनिषदों से भी थोड़े देखा और यह जान लिया कि हमारी संस्कृति का वास्तविक मूल वेद ही है। सामाजिक क्षेत्र में धर्मसमाज ने जाति-भेद, प्रत्युद्भेदता, बाल-विवाह, दहे-विवाह की सर्वेकर कुरीतियों के उन्मूलन का यत्न किया, स्त्रियों की दशा उत्तम की। इस दिशा में धर्मसमाज का सबसे अधिक महत्वपूर्ण काम मुद्रित था। पिछली शती के किसी अन्य समाज-सुधारक को इस बात की कल्पना भी नहीं हुई थी कि यह विधर्मियों को हिन्दू-समाज में मिलाने की व्यवस्था करे। अहि दयानन्द और धर्मसमाज को इस बात का श्रेय है कि इस व्यवस्था से उन्होंने हिन्दू जाति को सचल और किमानीय बनाया। राष्ट्रीय दृष्टि से स्वामी दयानन्द का यह काम बहुत महत्व रखता है कि उन्होंने भारतीयों की मानसिक पराधीनता को दूर किया। शिक्षित वर्ग पश्चिम की वैज्ञानिक उन्नति ने उसका संशय-भक्त बनकर भारत गौरव को बैठा था। उसमें अपनी प्राचीन संस्कृति और राष्ट्रीय प्रतिभा का खोप हो चुका था। ऐसे समय में अहि दयानन्द ने यह प्रचार किया कि वेद-सब सत्य विचारों का भण्डार है, उसमें विज्ञान के सभी धातुनिक साधनप्रार तथा विचारों की रूप से निहित है। हमें इस विषय में पश्चिम से सीखने होने की आवश्यकता नहीं, वैदिक काल में धार्मिक जगद्गुरु था। अहि दयानन्द के इस प्रचार ने संकल्प की भाषा से मुख्य भारतीयों की मोह-निद्रा को भंग किया। उनमें धर्म-विश्वास और राष्ट्रीयता की भावना को पुनः किया। भारत में स्वराज्य का मार्ग उन्नावरण करने वाले पहले भारतीय अहि दयानन्द थे। १८८३ ई० में कापिल की स्थापना में दो वर्ष पहले प्रकाशित 'धर्मार्थ-प्रकाश' ने उन्होंने लिखा था कि अन्धे से अन्ध विदेशी राज्य स्वदेशी राज्य की तुलना नहीं कर सकता।

अहि दयानन्द की मृत्यु के बाद, धर्मवीर, मेखाराम, मुन्दरत निवासी, बासा राजपुतराय, महात्मा हंसराज, तथा स्वामी धर्मानन्द आदि ने धर्मसमाज के आन्दोलन की शक्तिशाली बनाया। शिक्षा के क्षेत्र पर धर्मसमाज में कापिल तथा मुन्दरत नामक दो दल हो गए। कालेज-न्द ने बी० ए० बी० कापिल स्थापित करके शिक्षा का प्रचार तथा वैदिक शिक्षाओं का प्रचार किया। मुन्दरत दल के नेता महात्मा मुन्शीराम (स्वामी धर्मानन्द) ने १९०२ में बंगाल पर हरिद्वार के पास मुन्दरत कापिल की स्थापना की। यह देश का पहला विश्वविद्यालय था जहाँ भारतीय हिन्दी के माध्यम द्वारा उच्च शिक्षा सकलतापूर्वक दी गई। धर्मसमाज ने शिक्षा, हिन्दी-प्रचार

श्रुति, समाज-सुधार, रक्षितोद्धार, वैदिक धर्म के प्रसार, जाति-भेद के उन्मूलन, लोक सेवा तथा राष्ट्रीय आधुनि के कानों में बड़ा महत्त्वपूर्ण भाग लिया है।

समाज-सुधार

ब्रिटिश शासन स्थापित होते पर भारतीय समाज की दशा परिलक्ष्य थी। इसमें कन्या-श्रम, सती-प्रथा जैसी भीषण एवं बाल-विवाह जैसी घातक और असुख्यता तथा जाति-भेद जैसी द्वांष्टिप्रद कुुरीतियाँ प्रचलित थीं जो देश के अर्थ-पतन का कारण बनी हुई थीं। उन्नीसवीं शती के पची धार्मिक सम्प्रदायों—बुद्ध-समाज, प्रार्थना-समाज और विशेषतः आर्यसमाज ने इनके निवारण के लिए बहुत प्रयत्न किया।

१८८५ ई० में जब देश की राजनैतिक दशा उन्नत करने के लिए कांग्रेस की स्थापना हुई उस समय यह अनुभव किया गया कि सामाजिक दशा सुधारने के लिए भी प्रयत्न करना आवश्यक है। इस उद्देश्य को पूर्ति के लिए १८८८ ई० से कांग्रेस की प्रत्येक बैठक के साथ प्रतिवर्ष 'राष्ट्रीय समाज सुधार परिषद्' के अधिवेशन होने लगे। इस परिषद् के प्राण महादेव गोविन्द रामादे थे। इसमें हर साल स्त्री-विद्या के प्रसार, बाल-विवाह और पर्व के विरोध, विधवाओं और असुख्यों की दशा सुधारने, प्रकृतात्मीय कान-भाल और विवाहों के प्रोत्साहन आदि विषयों पर प्रस्ताव पारित होते थे। १८९० से समाज-सुधार का प्रबल समर्थक 'इण्डियन सोशल रिफार्मर' नामक साप्ताहिक पत्र निकला। १८९७ ई० में बम्बई तथा मद्रास में समाज-सुधार के राष्ट्रीय संगठन बने। बीसवीं शती में समाज-सुधार का कार्य पहले आर्यसमाज और फिर कांग्रेस द्वारा हुआ। महात्मा गांधी ने हरिजनोद्धार और सादक-द्रव्य-निर्लेप पर बहुत बल दिया। १९२० के बाद ने भारतीय नारियों में धूम्रपान जाहल हुई है। यहाँ काल-क्रम से सामाजिक सुधारों का संज्ञित वर्तित होगा।

सती-प्रथा—पिछली शती में ब्रिटिश शासकों तथा भारतीय समाज-सुधारकों का ध्यान सबसे पहले सती-प्रथा और कन्या-श्रम की ओर गया। पति की मृत्यु पर पत्नी द्वारा उसकी चिता पर लौने की प्रथा का विशेष प्रचार अन्ध पुन में हुआ था। धारम्भ में पति के दिवंगत होने पर पत्नी के सामने साक्ष्य संग्रह या चिता-रोहन के विकल्प थे। किन्तु बाद में धर्मशास्त्रों में लौने की महिमा गाई जाने लगी। न्यूनिचारों ने यह कहा कि सती होने वाला स्त्री न केवल पति के साथ अन्त काल तक स्वर्ग के सखी का उपभोग करती है किन्तु वह अपने इस कार्य से पति और पितृकुल की तीन पीढ़ियों का भी उद्धार करती है। इस प्रकार धार्मिक व्यवस्था होने पर लौने की स्थिति सती होने लगी, किन्तु कई बार विधवाओं की सम्पत्ति के लोभपुत्र एवं सखी भी स्थितों की सती होने के लिए बाधित करने लगे। इस उद्देश्य को पूर्ति के लिए बड़े दायण उपायों का अवलम्बन किया जाता था। स्थितों में सती होने की स्वीकृति पाने के लिए उन्हें अश्लील आदि सादक पदार्थ खिलाकर विनकुल अनुप

कर दिया जाता था। स्त्रियों चित्ता की ज्यादा प्रशंसित होने पर वहाँ से उठकर भागतीं तो उन्हें बाँतों से जबरदस्ती चित्ता में डेला जाता था, उनका कण्ठ पीछार दर्शकों के हृदय को विदीर्ण न कर सके, इसलिए अंल, डील, चड़ताल आदि बाध नुक़ ज़ोर से बजाये जाते थे। स्त्रियाँ चित्ता से उठकर भाग न सकें, इसलिए प्रायः स्त्रियों को चित्ता के साथ रस्तियों से नुक़ करके बाँध दिया जाता था।

मध्ययुग में मुहम्मद तुग़लक़ तथा अकबर ने इस कुप्रथा की समाप्ति करने का प्रयत्न किया, किन्तु यह बन्द नहीं हुई। ब्रिटिश शासन की स्थापना के समय से अंग्रेज सरकार और ईसाई पादरी इसे बन्द करने पर बल दे रहे थे, किन्तु ब्रिटिश सरकार पार्लियामेन्ट में हस्तक्षेप नहीं करना चाहती थी। धीरे-धीरे सरकारी अफ़सरों द्वारा इस दारुण प्रथा का निरन्तर विरोध किये जाने पर सरकार ने १८१२, १८१५ और १८१७ ई० में कुछ ऐसे नियम बनाये जिनसे छोटी धातु की, गर्मबत्ती तथा बच्चों वाली विषबायी के सतों होने पर रोक लगा दी गई, किन्ती स्त्री को इसके लिए बाधित करना और उसे धमकी आदि से बेमुश्क़ करना भी दण्डीय अपराध बना दिया गया।

श्री राममोहन राय १८११ ई० में अपनी भाभी के जबरदस्ती सती किये जाने का दारुण दृश्य देखकर इस प्रथा के घोर विरोधी हो गए। उन्होंने अनेक साधनों द्वारा इसके विरुद्ध प्रचार किया। १८१७ का सती प्रथा विरोधी नियम बनने पर जब बंगाल के कट्टरधर्मियों ने इसे रद्द करने के लिए सरकार को यावेदन-पत्र भेजा तो राममोहन राय ने इसका जबरदस्त प्रत्युत्तर देते हुए सती-प्रथा की तुल्य विचारक मटनाथी का वर्णन करते हुए लिखा कि सब शास्त्रों के अनुसार यह सारी-दस्ता है और इसका अंत होगा चाहिये। अंत में दिसम्बर, १८२८ ई० को लार्ड बैटलर ने सरकारी कानून द्वारा इसे अवैध और दण्डनीय अपराध बना दिया।

बालवध—बालवध की दुर्गाई दो कर्णों में प्रचलित थी। बंगाल में यह बड़ी पुरानी प्रथा थी कि कोई अमीर पूरा होने पर बच्चे की बलि दी जाती थी। उदाहरणार्थ निजामान्द रिजवा यह संकल्प कारती थी कि यदि उनके एक से अधिक बच्चे हुए तो वे एक बच्चा भगा-याता की भेंट करेंगे। १७६५ ई० में बंगाल में इस प्रथा को कानून द्वारा नर-हत्या का अपराध घोषित करके बन्द किया गया। दूसरी दण्डनीय प्रथा बालिका-वध की थी। मध्य तथा पश्चिमी भारत के राजपूतों, जाटों, मेवों में कन्या का अन्ध होते ही उसे पत्नीय आदि देकर या अन्य डंगों से मार दिया जाता था ताकि कन्या के विवाह के समय दोष आदि के कारण जो अपमान सहना पड़ता है तथा परेशान होना पड़ता है, उससे मुक्ति हो जाय। १८०२ ई० के एक कानून के अनुसार इसे भी बन्द करने का यत्न किया गया।

विधवा-विवाह—सती-प्रथा बन्द हो जाने के बाद विधवाओं की समस्या विशेष रूप से विपन्न हो गई। बाल-विवाह और वैवाहिक विवाह की प्रथा के कारण हिन्दु

समाज में बाल-विधवाओं की संख्या बहुत अधिक थी। प्रचलित प्रथा के अनुसार विधवाएँ पुनर्विवाह नहीं कर सकती थीं। उन्हें अश्वत्थ संवम और ब्रह्मचर्य का जीवन बिताना पड़ता था। हिन्दु परिवार में उन्हें प्रतिदिन भयंकर अपमान सहना होता था। श्री ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के प्रयत्न से भारत सरकार ने १८५६ ई० में विधवा पुनर्विवाह को जायज ठहराने वाला कानून बनाया।

किन्तु इस कानून से भी विधवा-विवाहों की संख्या नहीं बढ़ी, क्योंकि सोकमत इसके पक्ष में नहीं था। धर्म-धर्म: इस प्रथा के विरुद्ध अत्यन्त प्रबल होने लगा और इन विवाहों को अब समाज में पहले की तरह बुरी दृष्टि से नहीं देखा जाता। विधवाओं की सहायता करने तथा उनको दया सुधारने के लिए देश में अनेक संस्थाएँ काम कर रही हैं। १८८७ ई० में दक्षिणद बतर्जी ने इस प्रकार की सर्व प्रथम संस्था कलकत्ता के पास बरहानगर में खोली थी। १८८६ में एक ईसाई स्त्री पंडिता रमा बाई ने पूना में हिन्दु विधवाओं के लिए शारदा सदन खोला। इस सदन की विधवाओं के ईसाई हो जाने से हिन्दु विधवाओं की सेवा के लिए भी कर्त्त ने १८८६ में हिन्दु विधवाधर्म की स्थापना की। १९०६ के बाद अनेक समाज ने विधवाधर्म स्थापित किये। उत्तर भारत में इस प्रकार का सबसे बड़ा प्रयत्न मूर गंगाराम का था। १८९४ में उन्होंने लाहौर में विधवा-विवाह-सहायक समा की स्थापना की और इसके लिए लाहौर की सम्पत्ति का दान किया। पंजाब, उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश के अनेक शहरों में इसकी शाखाएँ हैं।

बालविवाह—मध्य युग में बालविवाह की बुराई अपनी चरम सीमा तक जा पहुँची थी। ऐसे भी उदाहरणों की कमी नहीं मिलने देव गीते तथा पत्रशिलालेख सिधुओं की यावी तप हो जाती थी। बड़ा समाज, छोटे समाज और एक पारसी पत्र-कार बहराम की मलाबारी ने सर्व प्रथम इस बुराई की ओर देश का ध्यान खींचा। श्री मलाबारी ने १८८० ई० में अनेक हिन्दु नेताओं और सरकारी अधिकारियों की सम्मतियों के साथ इसके विरोध में एक पुस्तिका प्रकाशित की। १८८० में एक बंगाली लड़की कुलमणि दासी के बलिदान से देशव्यापी बालविवाह की बुराई की तीव्रता ने अनुभव करने लगे। म्दारह् वर्ष की अवस्था में गति द्वारा सहवास में पुनर्मणि की मृत्यु हो गई और अब गति पर हत्या का अभिमेय नसाया गया तो उसने अपनी सच्चाई में भारतीय दण्ड विधान की वह धारा पैम की जिसके अनुसार विवाहित जीवन में सहवास के लिए न्यूनतम आयु दस वर्ष थी। श्री मलाबारी धार्मिक सुधारकों ने तथा ईसाइयों ने भारत सरकार पर सहवास-धामु बसाने तथा बाल-विवाह रोकने के लिए कानून बनाने पर बल दिया। भारत सरकार ने अब सहवास-धम को दम से बरह् वर्ष करने का प्रस्ताव पान किया तो कट्टरपन्थियों ने उसका धोर विरोध किया। फिर भी १८८९ में यह प्रस्ताव कानून बन गया। देशी राज्यों में बड़ीश ने सर्व प्रथम १९०१ में बाल-विवाह-निषेधक कानून द्वारा लड़के-लड़कियों के विवाह के लिए न्यूनतम आयु कमशः सोनह् और बारह् वर्ष रखी। ब्रिटिश भारत में श्री हरविनास शारदा के प्रयत्न

से १६२६ में बाल-विवाह-निषेधक कानून पास हुआ। इसके अनुसार सदाशिव वर्ग से कम आयु के लड़के तथा चौदह वर्ष से कम आयु की लड़कियों का विवाह नहीं हो सकता। बाद में इस कानून में कई संशोधन हुए। शिक्षा के प्रसार से बालविवाह भी बुराई शहरों में बहुत घट रही है।

जाति-भेद—हिन्दू समाज की सबसे बड़ी विशेषता जात-पात बताई जाती है। हिन्दू जाति लगभग तीन हजार ऐसे वर्गों में विभक्त है जिनका ज्ञान-दान और विवाह अपने ही वर्गों तक सीमित रहता है। ब्रिटिश शासन के प्रारम्भिक काल में जाति-भेद की व्यवस्था बड़ी कठोर थी। एक जाति का व्यक्ति न केवल ज्ञान-दान और विवाह के विषय में जातीय-जन्यों में अलग हुआ था किन्तु वह अपने पौत्र-पंथा भी नहीं छोड़ सकता था, विदेशियों के सम्पर्क से दूषित होने के भय से विदेश-यात्रा समुद्र-यात्रा भी नहीं कर सकता था। ज्ञान-दान में ब्राह्मणों के कुछ ऊँचे वर्ग शुद्ध का इतना अधिक विचार रखते थे कि एक ही उप-जाति के व्यक्ति एक दूसरे के हाथ का बना भोजन भी नहीं खाते थे। यही बात 'मौ कनौजी तरह चुल्हे' प्रायः कहावतों में प्रतिबिम्बित हुई है। स्वामी विवेकानन्द को इसी परिस्थिति से प्रेरितकर कहना पड़ा था कि 'हमारा धर्म रमोईश्वर में है, हमारा ईश्वर माना जनने के बतों है—हमारा सिद्धान्त है 'नृने न दुष्मि, मै पतिव तु'।'

शिक्षित व्यक्तियों द्वारा सर्व प्रथम ज्ञान-दान और विदेश-यात्रा के बन्धन तोड़े गए। पिछली अती के घन्ट में कांग्रेस के साथ होत जाती समाज-सुधार-परिषदों की सम्पन्न जनजातीय भीलों के साथ होती थी। माधारण बनगा में रेलों ने इस विचार को प्रोत्साहित करने में बड़ी सहायता की है, क्योंकि इसने छुमाछुत और शुद्ध की मर्यादाओं का पालन करना बड़ा कठिन है। होटल भी इसमें बहुत सहायक सिद्ध हुए हैं। आज से भी वर्ष पहले विदेश-यात्रा करना बड़े साहस का कार्य था। राजा राममोहन राय इंग्लैण्ड जाते हुए अपने साथ ब्राह्मण-स्त्री-पुत्रा लेते गए थे ताकि सर्वाधिक विदेशी भोजन से वे सर्व-अष्ट न हों। विदेश जाने वालों को भारत वापस आते पर बड़ी कठिनाइयाँ उठानी पड़ती थी। प्रायश्चित्त से शुद्ध न करने पर वे जाति से बहिष्कृत कर दिए जाते थे। किन्तु धीरे-धीरे शिक्षा के लिए यूरोप और अमरीका जाने वालों की संख्या बढ़ने से यह कठिन थिक्क हो गया।

जाति-भेद का सबसे जबरदस्त बन्धन विवाह-विषयक था। धर्म समाज ने चारों वर्गों को पुनर्कर्मानुसार मानते हुए इसे तोड़ने पर बहुत बल दिया। इसने समाज की बड़ी हासियाँ हो रही हैं, चुनाव का क्षेत्र संकुचित होने से रहस्य बहुत अधिक सीधा जाता है, इसलिए या तो विवाह कठिनाई से ही होते हैं या लड़कियाँ सर्वविध रह जाती हैं अथवा केवल विवाह होते हैं। स्व० श्री विठ्ठलभाई पटेल ने इस दुरवस्था को दूर करने के लिए १९१७ में एक बिल पेश किया था, किन्तु उसका कटुपक्षी वर्ग ने इतना विरोध किया कि वह पास न हो सका। १९२२ में लाहौर में जात-पात का

विरोध करने के लिए बात-बात-मोड़क-मण्डल स्थापित हुआ। १८३७ में सार्व-विवाह-कानून द्वारा सार्वसमाजिकों के धर्मवर्तीय विवाहों को वैध बना दिया गया।

जाति-भेद की श्रृङ्खलाएँ पश्चिमी शिक्षा, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य, समानता पर बन देने वाली उदार विचार-धारा तथा नए धार्मिक सामगन से तथा नई धार्मिक परिस्थितियों से टूट रही थी। पेशे का बन्धन, जो पहले प्रायः नीची जातियों के साथ था, लभभय समाप्त हो रहा है, क्योंकि अपने पुराने पेशों की अपेक्षा नये कारखानों में काम करने से अधिक लाभ होती है, दूसरी ओर ब्राह्मण आदि उच्च वर्गों के व्यक्ति सामाजिक परिस्थितियों से बाध्य होकर शर्तों, व्यापारी, बुजुर्गों के साथ रह रहे हैं। हमूँचे देश में एक कानून लागू होने तथा समानता के सिद्धान्त का शासन होने से भी पुराना जातीय भेदभाव समाप्त हो रहा है। स्वतन्त्रता पाने के बाद यह अनुभव किया जा रहा है कि हमूँचे लोकतांत्रिक स्थापना के लिए जाति-भेद की मिटाना अनिवार्य है। हाल में ही पुना में इसी उद्देश्य से 'जाति-निर्मुक्तन' नामक संस्था स्थापित हुई है। १८४६ ई० में बम्बई में जाति-भेद पर कुठाराघात करने वाला एक नया कानून पास हुआ है, इसके अनुसार जाति-वहिकार को उच्छेदीय घोषित बना दिया गया है।

सामाजिक क्षेत्र में आधुनिक भारत के दो बड़े क्रान्तिकारी सुधार हरिजनोद्धार और महिलाओं की आरक्षणजनक उन्नति है। हिन्दू समाज ने कई सौ वर्ष तक नीच जातियों तथा स्त्रियों के साथ कृत्त व्यवहार और और उत्पीड़न किया था, पिछले पचास वर्षों से वह उसका प्रान्तिष्ठित करने में लगा हुआ है, उन्हें मध्ययुगीन हीन स्थिति से उन्नत के नमी संभावित प्रयत्न किये जा रहे हैं।

हरिजनोद्धार—ब्रिटिश शासन के प्रारम्भ में नीच जातियों के करोड़ों हिन्दू प्रछुत माने जाते थे, इनके साथ असह्य और अकथनीय व्यवहार होते थे। दलित में यह प्रथा उत्पन्न बन में थी। वहाँ उच्च जातियों नीच जातियों के साथ ही नहीं, अपा तक से अपवित्र हो जाती थी। कीर्तन की सरकारी रिपोर्ट के अनुसार ब्राह्मण नायर के स्थान में दूधित समझे जाते थे, किन्तु कम्मलन (राज, बर्द्ध, मुहार, गहार) ब्राह्मणों की २४ फुट की दूरी से अपवित्र कर देता था, ठाही निकालने वाला ३६ फुट से, वेष्टमन कुणक ४८ फुट से, और परैयन (तांगस-महाक परिव्रा) ६४ फुट से। वह मन्तीय की बात थी कि इससे पुरानी रिपोर्टों में पारिहा ७२ फुट की दूरी से अपवित्र करने वाला माना गया है। अनाथे प्रछुत गहरी से बाहर रहते थे, पारियों में इनका प्रवेश बजित था, क्योंकि सब भक्तों का उठार करने वाले देवता भी इनके दर्शन से दूषित हो जाते थे। ये फुँधों से पानी नहीं भर सकते थे, इनका भी और गलतवालाओं का साथ नहीं उठा सकते थे। उच्च वर्ग के देवार आदि के व्यवहार सहते हुए ये बड़े दुःख से अपने नारकीय जीवन की शक्तियाँ बिताते थे।

इनके उधार और और सबसे पहले सार्व समाज ने ध्यान दिया। १८७६-७७ ई० में हमारे देश में सर्वकर दुर्घिष पड़ा। देहातों में हजारों अनुग्रह बुरी तरह मरने

लगे। इस समय ईसाइयों ने सहायता-नाम का संगठन किया। १८८० ई० में दलित जातियों बड़ी संख्या में ईसाई होने लगीं। कार्य समाज ने इस खतरों को अनुभव किया और उनके उद्धार का बहुत प्रयत्न किया। ब्रह्म समाज और प्रार्थना-समाज में भी इस क्षेत्र में कुछ काम किया। १८२० ई० के बाद से महात्मा गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस ने असह्यता-निवारण को रचनात्मक कार्यक्रम का अंग बना लिया। हरिजनों के मन्दिर-प्रवेश के लिए कानून बना। १८२२ में सर्वोच्च शासन-योजना बनाते हुए ब्रिटिश अधिकारियों ने निर्वाचन के लिए जब थकानों को हिन्दुओं से अलग रखने का प्रयत्न किया तो महात्मा गांधी ने पूना में अनशन करके इसका विरोध किया और उनकी बात स्वीकार कर ली गई। इसी समय उन्होंने थकानों को हरिजन का नाम दिया और उनको दया सुधारने के लिए 'हरिजन सेवक संघ' और 'हरिजन' पत्र की स्थापना की और हरिजनोद्धार के लिए देश का दौरा किया।

१८२३ में कांग्रेसी सत्कारों के स्थापित हो जाने के बाद हरिजनों की उन्नति, शिक्षा तथा सामाजिक आघातों को दूर करने की और अधिक ध्यान दिया गया। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद तथा विशेषतः भारत के स्वतन्त्र होने के बाद कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों ने परिगणित एवं दलित जातियों के उत्थान के लिए पुरा प्रयत्न किया है। भाव सभी धार्मिकों में असह्यता-निवारक कानून पास हो चुके हैं। इनके अनुसार असह्यता कानूनी ढंग से दण्डनीय अपराध बना दिया गया है। हरिजन जब तक पुरानी सामाजिक व्यवस्था के अनुसार सार्वजनिक जलस्रोतों, मन्दिरों तथा शिक्षा-संस्थाओं का सञ्चालन में उपयोग नहीं कर सकते थे। असह्यता के कारण होटलों में भोजन करने तथा घनेक स्थानों पर बोला-भाषकी आदि सचवातियों पर बैठने का अधिकार नहीं रखते थे। १८२५ ई० के असह्यता उन्मुलन के नये कानून द्वारा थकानों को ऊंची जातियों के बराबर समझते हुए उपर्युक्त सभी सामाजिक अधिकार सर्वसम्पन्न एवं दण्डनीय अपराध बना दिए गए हैं। शिक्षा की दृष्टि से हरिजन जातियाँ बहुत पिछड़ी हुई हैं। उनमें शिक्षा-प्रसार का विशेष प्रयत्न किया जा रहा है, हरिजन विद्यापियों के लिए शिक्षण संस्थाओं में पर्याप्त स्थान सुरक्षित रखे जाते हैं, उनके लिए प्रथम श्रेणी में विरसविद्यालय की उच्चतम कक्षा तक निशुल्क शिक्षा देने की व्यवस्था है, सरकारी होस्टलों में रहने की विशेष सुविधाएँ हैं, छात्रावास के सभी कार्य भाग हैं। सरकारी नौकरियों में इस प्रतिभा स्थान उनके लिए सुरक्षित है। इन पक्षों पर निरुक्ति के लिए नियत प्राप्ति में उन्हें तीन वर्ष की छूट है। व्यवसायिका-समाजों में उनके स्थान सुरक्षित हैं तथा राष्ट्रीय व केन्द्रीय सभी मन्त्रिमण्डलों में असह्यता के प्रतिनिधि हैं। भारत के नये संविधान में असह्यता को एक अपराध घोषित किया गया है और उस प्रकार कानूनी दृष्टि से इसकी अनुपेक्षित कर दी गई है।

शिक्षा का उत्थान—बच्चों सभी में हरिजनों के जातिरहित समाज में शिक्षा की दया भी समस्त धार्मिकों और निरी हुई थी। सार्वजनिक समाज में सर्वप्रथम विरसकार की दृष्टि से दया जाता था, उन्हें धर्म की कुली सम्पदा जाता था। सभी-

समाज की शिक्षा से वंचित एवं ज्ञान-भूतकर पर्व में रखा जाता था। पुरुषों की अपेक्षा उनके साम्राज्य एवं साम्यतिक अधिकार साम-भाष को ही थे। पिछले पचास वर्षों में इस स्थिति में घामुन परिवर्तन आ गया है। हमारे देश की नारियों में असाधारण जागृति हुई है और उन्होंने सभी क्षेत्रों में पुरुषों के समान अधिकार और स्थिति प्राप्त कर ली है।

पिछली शती में स्त्रियों के उत्थान का अमरेश्वर स्त्रीशिक्षा से हुआ। ईसाई मिशनरियों ने ईसाइयत के प्रचार की दृष्टि से इसे प्रारम्भ किया। बंगाल में बहा समाज ने तथा ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने स्त्री-शिक्षा के लिए बड़ा प्रयत्न किया। १८६० के बाद से धार्मिक समाज ने उत्तर भारत में और विशेषतः पंजाब में इस कार्य को बड़े जोर-शोर से किया तथा मान ही पर्व की सुरीति के बिच्छ भी आन्दोलन किया। स्त्रियों में शिक्षा का प्रसार होने से बड़ी जागृति हुई। वे भी अपने राजनीतिक अधिकारों की माँग करने लगीं। १८ दिसम्बर, १८१७ को भारतीय स्त्रियों के प्रतिनिधि मण्डल ने पहली बार भारत-मन्त्री साष्टेय से भद्राश में मताधिकार की माँग की, किन्तु १८१८ की साष्टेय-नेम्सकोर्ट रिफार्म स्कीम में स्त्रियों के मताधिकार का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं था। इस पर भारतीय स्त्रियों ने इसके लिए और आन्दोलन किया और नारियों का एक प्रतिनिधि-मण्डल पार्लियामेंट के सदस्यों से यह माँग मनवाने इगनेष्ट भी गया। १८१८ के शासन-विधान के अनुसार प्रान्तीय व्यवस्थापिका-परिषदों को नारियों को चोट करवाने का अधिकार दे दिया गया। इसके अनुसार सबसे पहले मद्रास ने १८२६ में स्त्रियों को व्यवस्थापिका-परिषद के सदस्यों के निर्वाचन का अधिकार प्रदान किया और दो वर्षों में लगभग सभी प्रान्तों में स्त्रियों निर्वाचक बन गईं। यूरोप में नारियों को भी अधिकार और संघर्ष के बाद प्राप्त हुआ, वह भारतीय स्त्रियों का प्रथम प्रयास से और फ्रांस आदि कई देशों को स्त्रियों से पहले मिल गया।

यही दशा सामाजिक और कानूनी अधिकारों की भी है। १८२० के बाद स्त्रियों ने राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य संघर्ष में भी बहुत भाग लिया। उनमें शिक्षा और जागृति बढ़ रही थी। १८२६ में श्रीमती मार्गरेट कर्जिस ने महिलाओं के संगठन का प्रयास किया, फलस्वरूप अखिल भारतीय महिला परिषद की स्थापना हुई। इसका पहला प्रतिनिधित्व जनवरी, १८२६ में हुआ। यह शिक्षित महिलाओं का प्रथम संगठन है और निम्नलिखित व्यक्तियों में भारतीय नारियों पर अपने प्रतिस्पर्धियों और कानूनी-वाक्ताओं को हटाने तथा समान अधिकारों की माँग करने में इस संस्था ने मुख्य भाग लिया है। इसमें समाप्रति पद को बड़ीदा तथा टाउनकोर की महाराजिनी, नवाब सुपाल की बेगम, श्रीमती गरीबिनी नायडू, राजकुमारी अमृतकोर, रामेश्वरी मेहता, विजयलक्ष्मी पोंडित-बैती वभिन्न भारतीय नारियाँ सुशोभित कर चुकी हैं। अतिवर्ष यह स्त्रियों की स्थिति में सुधार करने के लिए अनेक महत्वपूर्ण प्रस्ताव पास करती है।

भारत सरकार की नीति भी नारों-आन्दोलन के अनुकूल रही है और नारियों को बड़ी तेजी से राजनीतिक अधिकार मिले हैं। १९३५ के आसन-विधान में प्रांतीय एवं केन्द्रीय समसमितिओं में स्त्रियों के लिए कुछ स्थान सुरक्षित रखे गए। मद्रास में इनको संघदास थाट भी, बम्बई और पू० पी० में छ. अविभक्त बंगाल में पांच, पुराने पंजाब तथा बिहार में चार, मध्यप्रान्त में तीन, उड़ीसा तथा सिन्ध में दो तथा आसाम में एक, आनकम पर्याप्त संख्या में स्त्रियों केन्द्रीय व्यवस्थापिका-परिषद् में सदस्या हैं। स्त्रियों के भार-समाप्ति में पहुँचने का एक सुपरिणाम यह हुआ है कि उन्होंने समाज-सुधार और स्त्रियों को नवीन कानूनी अधिकार दिलाने के प्रस्ताव पेश किये हैं। सर्वप्रथम बम्बई की व्यवस्थापिका-सभा की महिला-सदस्याओं ने इस प्रकार के घनेक विना उपस्थित किए। वहाँ पुरुषों के बहु-विवाह पर प्रतिषेध लगाने वाले तथा हिन्दू स्त्री-पुरुषों को कुछ विशेष व्यवस्थाओं में समाज का अधिकार देने वाले कानून पास हो चुके हैं। १९५५ में भारतीय संसद् ने इस प्रकार का हिन्दू विवाह कानून पास किया।

कामेसी सरकारों ने स्त्रियों को ऊँचे पद देकर नारियों को उच्चतम प्रतिष्ठा देने के प्राचीन भारतीय आदर्श का पालन किया है और स्त्रियों की स्थिति को बहुत ऊँचा उठाया है। सं० रा० अमेरीका तथा ग्रेट ब्रिटेन में भारतीय राजदूत के पद को श्रीमती विजयलक्ष्मी पण्डित ने धनस्तुत किया, राजकुमारी चमूताकौर, श्रीमती तार-केशवरी सिन्हा आदि कई स्त्रियाँ केन्द्रीय मान्यमण्डल में, मन्त्रिणी बनीं हैं। दिवंगत भारत-कोकिला सरोजिनी नाथू उत्तर प्रदेश के गवर्नर पद पर आसीन थीं। इनकी पुत्री गणदा नाथू पश्चिमी बंगाल की राज्यपाल बनीं। यह स्मरण रखना चाहिये कि समानाधिकारकारी पश्चिमी देशों में स्त्रियाँ अभी तक इतने ऊँचे पदों पर नहीं पहुँची। संयुक्त राज्य अमेरीका में १९४६ ई० पहली बार एक महिला को राजदूत बनाया गया है। स्वतन्त्र भारत ने न केवल अपने आसन-विधान में स्पष्ट रूप से स्त्रियों और पुरुषों के अधिकार समान माने हैं किन्तु १९४८ में केन्द्रीय सरकार ने भारतीय प्रजासैनिक सेवा (आई० ए० एस०) की प्रतियोगिता-परीक्षाओं में नारियों को भी बैठने का अधिकार देकर उका घोषणा की किमतीक रूप प्रदान किया है। यह अधिकार अभी तक स्त्रियों को पश्चिमी देशों में बहुत कम प्राप्त है।

नये कानून—नारियों की पुरुषों के तुल्य कानूनी अधिकार देने का सबसे बड़ा और कारगर परिणाम नये सामाजिक कानूनों का निर्माण है। भारतीय पालिका-संसद ने हिन्दू स्त्रियों की स्थिति सुधारने के लिए निम्नलिखित सामाजिक कानून बनाये हैं।

(१) १९५६ का हिन्दू विवाहित स्त्रियों के पृथक् निवास और विवाह व्यवस्था कानून।

(२) १९५५ का हिन्दू विवाह कानून।

(३) १९५६ का हिन्दू उत्तराधिकार कानून।

(४) १९५६ का हिन्दू दत्तकपुत्र ग्रहण तथा निर्वाह व्यवस्था कानून।

(२) १८५३ का हिन्दू अल्पवयस्कता तथा अभिभावकता कानून (Hindu Minority and Guardianship Act) ।

इस कानून से स्त्रियों की दशा पहले की अपेक्षा बहुत उन्नत हो गई है, जब अत्यंत क्षेप में उनके अधिकार पुरुषों के बराबर हो गये हैं । पहले विवाहित स्त्री पूर्ण रूप से पति की कुला और दशा पर अवलम्बित थी । एक बार विवाह हो जाने पर पुरुष यथेच्छ विवाह कर सकता था, किन्तु तत्पति के क्रूर, अत्याचारी अत्याचरों से पीड़ित होने पर भी उसके साथ रहने की साम्य थी । पति की सम्पत्ति का वह केवल उपयोग कर सकती थी, किन्तु उस इस सम्पत्ति को पूर्ण रूप से प्राप्त करने तथा यथेच्छ विनिमोग करने का कोई अधिकार नहीं था । महिलाओं की पिता की सम्पत्ति में पुरुषों की तरह कोई हक नहीं मिलता था । सबे उपर्युक्त कानूनों से स्त्रियों को पति और पिता की सम्पत्ति में अधिकार मिल गये हैं और कुलमन विवाहों की विशेष अवस्थाओं में बंध करने का हक पति-तत्पति दोनों को समान रूप से प्राप्त है । स्त्री-पुरुषों के कानूनी अधिकारों में पूरी समानता स्थापित हो गई है ।

उपर्युक्त महत्त्वपूर्ण समाज सुधारों के अनिवार्य मादक-व्यव-निषेध की ओर भी कांग्रेसी सरकारों ने बहुत ध्यान दिया है । देवदासियों के सुधार, मन्दिरों की सम्पत्ति के उचित उपयोग, बेपैल विवाह आदि कुप्रथाओं के निरोध, दहेज की बुराई तथा शादी का खर्च कम करने का भी मान्दोक्त हो रहा है । ध्यान है स्वतन्त्र भारत में कुछ दशाविवर्धों में अधिकारा सामाजिक दुरीतियों का धन हो जायगा ।

साहित्यिक जागृति

साधुनिष्ठ काल में साहित्य एवं सामाजिक जागृति के साथ साहित्यिक जागृति भी हुई । अंग्रेजों द्वारा संस्कृत के अध्ययन में भारत-विषयक अध्ययन का उदय हुआ जिससे हमें अपने देश के युवा गौरव और अतीत इतिहास का प्राथमिक परिचय मिला । अंग्रेजों विद्या के प्रचार और छात्रावासों के माध्यम से भारत का बौद्धिक जागरण प्रारम्भ हुआ और इसका सबसे बड़ा और निराला परिणाम प्राचीन साधुनिष्ठों के साहित्य का विकास है ।

भारत-विषयक अध्ययन का प्रारम्भ—अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में ब्रिटिश व्यापकों की वास्तव-व्यवस्था के लिए भारतीय साधुनिष्ठों का ज्ञान भाषा की भाषा-व्यवस्था अनुभव हुई । पहले हेमिन्टन ने संस्कृत एवं संस्कृत की शिक्षा के लिए बंगाल में संस्कृत कॉलेज और कनकता में संस्कृत मन्दिरों की स्थापना की । उसके प्रोत्साहन से संस्कृत सीखने वाला पहला अंग्रेज चार्ल्स विल्किन्स था, किन्तु भारत-विषयक अध्ययन की जीव रक्तने वाता दशा संस्कृत का महत्त्व अभी-भी अनुभव करने वाले पहले व्यक्ति सर विलियम जोन्स (१७८६-१८०८ ई०) के । वे १८०३ ई० में सुवीप कोर्ट के जज बनकर भारत भागे के और १८०८ में इन्होंने गौरव्य वाङ्मय और ज्ञान-निदान की ओर के लिए बंगाल राज्य ऐंग्लो-हिन्दिक सोसायटी की स्थापना की ।

इन्होंने सर्वप्रथम विद्वानों का ध्यान इस ओर खींचा कि यूनान की पुरानी साहित्यिक भाषाओं—यूनानी तथा लैटिन की तथा ईरान की पुरानी कब्र का संस्कृत से अभिन्न सम्बन्ध है, वे एक भाषाएँ एक मूल स्रोत से प्रादुर्भूत हैं। बाद में इन्हीं भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन से यूरोप में तुलनात्मक भाषा-शास्त्र (Comparative Philology) की नींव पड़ी। इसी में यह भी बात हुआ कि इन्होंने खोजी जातिनों के धर्म-कर्म, देवतावाची, प्रथाओं तथा संस्थाओं में भी बड़ा सदृश था, जो धार्मिक जाति का पता लगा। यूरोपीय विद्वानों द्वारा संस्कृत की खोज विश्व के सांस्कृतिक इतिहास में कोलम्बस द्वारा अमरीका की खोज-जैसा ही महत्त्व रखती है।

कोलम्ब ने पुराणों के बन्दमुक्त तथा यूनानी लेखकों के मेग्नाग्रोटस की अभिज्ञता मानकर, प्राचीन भारत के विधि-कर्म की आधारभूतता रखी। १७८५ ई० में पुराने अभिलेख पढ़ने की ओर विद्वानों का ध्यान गया। पहले मुक्त-युग तक की लिपि पढ़ी गई और बाद में १८३७ तक फिरोज ने यूनानी सिक्कों की सहायता से। मोर्रे-युग की ब्राह्मी लिपि पढ़ ली। इन सिक्कों के एक ओर यूनानी लेख थे और दूसरी ओर उन्हीं के प्राकृत अनुवाद। यूनानी लिपि की मदद से प्राकृत लेख पढ़े जाने से पुराने अभिलेख पढ़ना आसान हो गया। कनिष्क ने मारहुत तथा साँची आदि स्थानों की खुदाई कराई। कोलम्ब के समय पुरातत्त्व-विभाग की स्थापना हुई, सारे देश का पुरातत्त्वबीज विरोक्षण किया जाने लगा और उसकी रिपोर्टें प्रकाशित हुईं। लार्ड कर्जन के समय प्राचीन इमारतों का संरक्षण-कानून बना तथा उत्खनन की ओर अधिक ध्यान दिया गया। उस समय में पुरातत्त्व विभाग ने उत्खनित, नागन्दा, मोहेंजोदड़ो (सिन्ध), हड़प्पा (पंजाब), पट्टाड़पुर, साँची, मारनाथ, नागार्जुनीकोण्डा आदि प्राचीन ऐतिहासिक स्थानों की खुदाई कराई। इनमें भारत के प्राचीन इतिहास का मूलबिहार हुआ। इस कार्य में गण-प्रदर्शक संघों के, भारत भरने गौरवपूर्ण धनीत पर प्रकाश चलने वाले इन विद्वानों का सर्वेक्ष कर्णी रहेगा। यह प्रसन्नता की बात है कि अब भारतीय विद्वान् और संस्थाएँ इतिहास की खोज और संशोधन-कार्य में व्यस्त हो रही हैं।

प्राचीन भाषाओं का विकास—ब्रिटिश शासन की स्थापना के समय सिन्ध एवं मुसलमान भारतीय घरों तथा संस्कृत का अध्ययन करते थे। हिन्दी बंगाल, गुजराती, मराठी, उर्दू, तामिल, तेलगू बहुत बाल में लोक-प्रचलित थीं, किन्तु इनमें उस समय पद्यात्मक साहित्य—गीतिका, लज्जार रस और भक्ति रस की कविताएँ तथा महाकाव्य ही थे। ब्रिटिश शासन में घनेक कारणों से लोक-भाषाओं में मध्य साहित्य का निर्माण तथा इसका प्रसारण उत्कृष्ट हुआ। ईसाई पादरियों ने बाइबिल का संदेश प्रसारित तथा पहँचाने के लिए लोक-भाषाओं की उन्नति की ओर ध्यान दिया, तिराम-पुर के डीप्टिस्ट मिशनरी इन कार्य में व्यस्त थे। इन्होंने सबसे पहले बंगला, हिन्दी आदि लोक-भाषाओं के टाइप बमारे, छापेवाले स्थापित किये, इनका मुक्त ज्ञान पाने के लिए व्याकरण और शब्द-कोष बनाये। प्रायः सभी प्राचीन भाषाओं के पहले व्याकरण-लेखक ईसाई पादरी हैं। पुरानी मुद्रितलिख लोक-भाषाओं के प्रतिरिक्त

इन्होंने छोटी और अधिकमित भाषाओं को भी ईसाइयत के प्रचार के लिए अपनाया, उनका स्वरूप निम्नलिखित किया और उनमें साहित्य बनाया। अन्य अनेक दृष्टियों से ईसाई प्रचारकों का कार्य साराहुनीय नहीं रहा, किन्तु लोक-साहित्य के निर्माण द्वारा उन्होंने भारत की समुल्लेख सेवा की है।

प्राचीन भाषाएँ देर तक अंग्रेजी के प्रभाव से दबी रही किन्तु राष्ट्रीय जागरण और गृह-युद्धियों के प्रकाशन से लोक-भाषाओं को बड़ा उत्तेजन मिला है। पिछले बीस वर्षों में साहित्य की विविध शाखाओं—उपन्यास, नाटक, निबन्ध, कविता आदि में सभी प्राचीन भाषाओं के साहित्यों में उत्कृष्ट रचनाएँ लिखी गई हैं। बंगला राजा राममोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यानाथ, माइकेल मधुसूदनदास, बंकिमचन्द्र चटर्जी, रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा शरच्चन्द्र चटर्जी की समुल्लेख कृतियों में समृद्ध हुई है। हिन्दी के उत्थान और उत्थान में अल्लुलाल, सदनविषय, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, महाधीरमराय द्विवेदी तथा प्रेमचन्द आदि लेखकों और काशी नानदी प्रचारियों तथा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन आदि संस्थाओं ने बहुत सहयोग दिया। उर्दू मुगल बादशाहों की राजनय व्यवस्था में भी अत्यन्त प्रसिद्ध एवं परिभाषित हुई। दूद, मौदा, गालिब और जौक ने इसे चमका दिया। १८३५ ई० में सरदारों भाषा हो जाने के बाद उत्तरी भारत में उर्दू का प्रचार बहुत बढ़ा। सर सय्यद अहमदखान, शाजाद तथा अकबाल-अमृति विद्वानों ने तथा अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय और हैदराबाद की उस्मानिया यूनिवर्सिटी और प्रजुमल-नाकवी-उर्दू आदि संस्थाओं ने उर्दू के साहित्य को बहुत उत्थान किया है। मराठी साहित्य की यह विशेषता थी कि ब्रिटिश शासन में पहले उसमें काफी गद्य था, वह उन इतो-मिर्ता आचार्यों से है जिसका बल्य-काल पद्य में नहीं किन्तु गद्य में बीता है। अनेक पाठकों के लोगों तथा व्याकरणों से मराठी का गद्य रूप प्राचीन परम्परा में चलने लगे मिला। श्री विष्णुबालजी शिपलुकर ने अपनी निबन्धमाला में इस अंग्रेजी 'वतार' (कथ) की एक खबर की और मराठी साहित्य में नवयुग का आरम्भ किया। विष्णुभावे, राममोहन चटर्जी, केदारमृत, विश्वनाथ, काशीनाथ राजवाड़े, जगताराधन धाष्टे तथा लोकमान्य तिलक ने मराठी साहित्य के विविध शक्तों को समृद्ध किया। गुजराती में साधुनिक साहित्य अंग्रेजी शिक्षा के साथ आरम्भ हुआ। १८५८ में काशी द्वारा 'गुजरात बनोमनर-सोसायटी' की स्थापना द्वारा इस साहित्य की उत्थान के लिए संगठित प्रयत्न होने लगा, दत्तपतिराय और मन्दाकर के साथ अर्जुन साहित्य का भीगमोह होता है। रघुनाथ भाई उदयराय, मधुकर तुलजा-शंकर, गोवर्धनराम विपाठी, कन्हैयालाल भाणिकलाल मुखी, महादेव दसाई, तथा महात्मा गांधी आदि की रचनाओं से इस साहित्य की विविध शाखाओं की उत्थान हुई है। ताम्रिल में साधुनिक गद्य का आरम्भ श्रीमंथुन तथा अच्युतनाथन ने किया। महाभारत महाभारत राजगोपालाचार्य की कृतियों में शामिल समृद्ध हुई। तेलुगु के उत्थानकों से किन्तु गुरि तथा चरित्तियम उल्लेखनीय है। साधुनिक धाराओं साहित्य 'मोनाको' नामक मासिक पत्रिका के प्रकाशन से १८६६ में आरम्भ हुआ। इसके सम्पादकों—सर्वमोनाथ बरधवा,

चन्द्रकुमार तथा हेमचन्द्र गोस्वामी ने साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र में रचनाएँ मिली और इनके बाद कमल कान्त, लक्ष्मीबाला, विरंजि कुमार, बदका आदि लेखकों ने इस साहित्य को उन्नत किया। वर्तमान उद्दिष्ट साहित्य को समृद्ध बनाने का श्रेष्ठ राधानाथ राय, फकीर मोहन, सेनापति और मधुसूदन आदि साहित्यकारों को है।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद लोक-साधकों का स्वतंत्र युग आरम्भ हुआ है। पहले राज्य की भाषा अंग्रेजी होने से इनके विकास में बड़ी बाधा थी। विधान परिषद् ने हिन्दी को राष्ट्र-भाषा स्वीकार कर लिया; यह उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश, राजस्थान की राजभाषा पहले ही थी। राजभाषा होने से हिन्दी का अक्षिण आकाश उमंगवत् है।

वैज्ञानिक उन्नति

छठी शताब्दी तक वैज्ञानिक क्षेत्र में भारत संसार का नेता था। पहले यह बताया जा चुका है कि मध्य-युग में किन कारणों से स्वतन्त्र वैज्ञानिक अनुसन्धान बन्द हो गया। बारह सौ वर्ष की मोह-निद्रा के बाद ब्रिटिश शासन स्थापित होने पर जब भारत में स्वतन्त्रता मिली तो राममोहनराय आदि नेताओं ने यह अनुभव किया कि पश्चिम की अग्रगण्य उन्नति का एक प्रधान कारण विज्ञान की उन्नति है, भारतीयों को वैज्ञानिक विषयों की शिक्षा दी जानी चाहिए। आरम्भ में सरकार की ओर से केवल चिकित्सा-शास्त्र या सिविल इंजीनियरिंग के अध्ययन की व्यवस्था थी। १८५८ में १९०७ ई० तक शासकों ने भौतिक-शास्त्र, रसायन आदि के अध्ययन की ओर कोई ध्यान नहीं दिया, विश्वविद्यालयों में उच्च वैज्ञानिक विषयों के शिक्षण तथा परीक्षाओं का कोई प्रयत्न नहीं था। श्री मोहनलाल सरकार द्वारा १८७६ ई० में संस्थापित 'वैज्ञानिक अनुसन्धान की भारतीय परिषद्'-जैसी इसी-गिनी संस्थाएँ वैज्ञानिक शिक्षण और प्रोत्साहन का कार्य कर रही थी। भारतीय वैज्ञानिकों को राज्य या विश्वविद्यालयों की ओर से न अध्ययन की सुविधाएँ थी और न कोई प्रोत्साहन। इस निराशापूर्ण वातावरण में जब जगदीशचन्द्र बसु ने १८८७ में अपनी भौतिक शास्त्र-विषयक थोकी में यूरोपियन विद्वानों को आश्चर्य-वर्कित किया तो भारतीयों में यह भाव-विकास जाह्नप हुआ कि वैज्ञानिक क्षेत्र पर यूरोपियनों का ही एकाधिकार नहीं है। १९०२ में श्री बसु के नेतृत्वों में चौक-विषयक सम्मेलन यूरोप में मान्य हुए। इसी वर्ष श्री प्रफुल्लचन्द्र रान का 'हिन्दू रसायन का इतिहास' प्रकाशित हुआ, जिससे पश्चिम की भारतीयों की प्राचीन रासायनिक उन्नति का ज्ञान हुआ। इसी साल कलकत्ता-विश्वविद्यालय ने वैज्ञानिक विषयों की स्वातंत्र्य परीक्षा (बी० एम०सी०) तथा १९०८ में वाचस्पति (एम० एल०सी०) की शिक्षा का प्रबन्ध किया। स्वदेशी आन्दोलन के समय १९०६ ई० में बंगाल में स्थापित 'भारतीय शिक्षा परिषद्' ने वैज्ञानिक और औद्योगिक शिक्षा की ओर विशेष ध्यान दिया। १९११ में श्री जमशेद पटरवाज की ताता के पुत्रों-सर दोराब जी तथा सर रत्न जी ताता के उदार दान से भौतिक-शास्त्र तथा रसायन शास्त्र

शास्त्रा करेकुडी (मद्रास), केन्द्रीय समक अनुसन्धानशास्त्रा भाषासगर, केन्द्रीय इतिहासिक इजीवियरिन अनुसन्धानशास्त्रा विद्याली है। वैज्ञानिक अनुसन्धान में अनुराग की पुष्टि देश के उन्मुख नवियन को सुचित करती है।

सलित कलाएं

ब्रिटिश शासन के प्रारम्भिक काल में शासकों की उमेका तथा विविध व्यक्तियों पर पश्चिमी कला की चकाचौंध का गहरा असर होने से भारतीय नवित कलाओं की दशा प्रत्यन्त शोचनीय थी। मुगल बादशाहों के मरणपण में कलाओं की बड़ी उन्नति हुई थी, उनके पतन के बाव कलाकारों की देशी रीतियों का मोसाहन मिला, किन्तु वे भी धीरे-धीरे विलायती वस्तुओं की वसन्द करने लगे, चर्चता सरती और तहक-भड़क वाली विदेशी वस्तुओं के भुलावे में पड़ गई। भारतीय कलाओं के मष्ट होने की तीव्रता का गई। किन्तु इसी समय राष्ट्रीय जागृति का आरम्भ होने से भारतीयों का ध्यान कलाओं की ओर भी गया। भारत-सरकार ने कलकत्ता, बम्बई, मद्रास तथा लाहौर में कला-विद्यालय (आर्ट स्कूल) खोले और भारतीय कलाओं का पुनरुज्जीवन प्रारम्भ हुआ। ऐसे प्रारम्भ करने का श्रेय वास्तविकता के सरकारी कला महाविद्यालय के प्रिन्सिपल श्री हैवल तथा डॉ० धानन्दकुमार खार्सी को है। उनकी रचनाओं द्वारा भारतीयों की सर्वप्रथम अपनी प्राचीन कलाओं के समे और महत्व का परिचय मिला और उनमें धार्मिकविशेष उत्पन्न हुआ। उन्नीसवीं शती में भारतीय कलाकार की प्रतिभा पाश्चात्य शैली के सामने पराभूत भी थी, वर्तमान शती के प्रारम्भ से उसने अपने स्वल्प और गौरव को गृहणाना तथा प्राचीन परम्परा से प्रेरणा पाकर नई शैली का विकास किया। इसका सर्वोत्तम उदाहरण निम्न-जाना है।

पिछली शती के अन्त में रविशर्मा नामक केरल के विचकार ने पश्चिमी शैली में भारतीय कल्पनाओं को प्रकट करना चाहा, पर उसकी रचनाएं बहुत प्रशंसी नहीं हुई। इस शरी की पहली दशान्दी में हैवल ने प्राचीन भारतीय विच-कला के पुनरुज्जीवन पर बल दिया, १९०३-४ में श्री प्रमतीन्द्रनाथ आकुर ने एक नई चित-शैली का विकास किया जो विदेशी शैलियों की अनेक बातें अपना लेने के बावजुद भी पूरी तरह भारतीय है। यह पुनं और पश्चिम की कलाओं का सुन्दर सम्मिश्रण है। श्री बकनौन्द के शिष्यों में श्री नन्दलाल वसु सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं। वर्तमान काल के अन्य विचकारों में अचितकुमार हालदार, वासिनी राय, देवीप्रसाद राय चौधरी, रहमान चुगताई, जैनुलखाबदीन विशेष उल्लेखनीय हैं। मूर्ति-कला में भी अचनौन्दनाथ आकुर ने प्राचीन परम्परा को पुनरुज्जीवित किया। इस क्षेत्र में उनके प्रधान शिष्य श्री देवीप्रसाद राय चौधरी हैं। भारत की आधुनिक वास्तु-कला के दो प्रधान शैलियां हैं—

(१) देशी कारीगरों द्वारा बनाये गए भवन—ये प्रवाल रूप से राजपुताना में हैं।

(२) पश्चिमी देशों पर जनों द्वारा—ब्रिटिश सरकार ने भारत की प्रचीन वास्तु-परम्परा का कोई ध्यान न रखते हुए देश में पश्चिमी ढंग की हज़ारों इमारतें बनवाईं। अब पुरानी वास्तु-कला की ख़ोर कुछ ध्यान दिया जाने लगा है। अन्य कलाओं की भाँति संगीत का भी पुनरुज्जीवन हुआ और इसका श्रेय स्व. विष्णु दिगम्बर तथा भातखण्डे को है। कलकत्ता, बम्बई, पुना, बड़ोदा आदि बड़े नगरों में भारतीय नर्चीत और नाचों की शिक्षा के लिए सम्बन्ध विद्यालय खूब गए हैं। मद्रास में भी पुरानी नर्चियों का उद्धार हो रहा है। उदयमकर, रामगोपाल, दक्षिणी देवी और मेनका ने विदेशों में भारतीय नृत्य के गौरव को बढ़ाया है। भारतवाद्य, कमाकली, मणिपुरी आदि नृत्य इस समय भारत में लोकप्रिय हो रहे हैं। धार्मिक-निकेतन, केरल कला-मन्दिर, कला-श्रेय जैसी संस्थाएँ भारतीय नृत्य कला के पुनरुज्जीवन में सहयोग दे रही हैं। भारत सरकार ने ललित कलाओं के प्रोत्साहन के लिए संगीत नाटक अकादमी स्थापित की है। इसकी ओर से उत्तम कलाकारों की प्रतिष्ठा पुरस्कारों से सम्मानित किया जाता है।

उपसंहार—पिछले तीसरी सदी में हमारे देश में गुगान्तर हुआ है। इसका भीतरोंज तक हुआ जब हमने ज्ञान और प्रकाश के लिए, अपना मुँह पूर्व से पश्चिम की ओर मोड़ा। पश्चिमी शिक्षा और विचार-धारा ने प्रभावित भारतीयों के देश में सर्वोत्तम सुधार की ग्योति की जगाया। अन्ध-विश्वास और अज्ञान का त्याग बुद्धि और तर्क ने ग्रहण किया। उदारता और स्वतन्त्र विचार फटुरता तथा शास्त्रवाद पर विजय होने लगे। धार्मिक और सामाजिक कटिबों को बेहियों में भारत मुक्त होने लगा। सती-दण्ड, बाल-व्यव आदि क्रूरताओं की अन्तर्वेष्टि हुई, जाति-भेद का दुर्ग पराजयी हो रहा है, अस्पृश्यता का जनाजा निकल रहा है। पश्चिम की समानता, स्वतन्त्रता तथा राष्ट्रीयता की विचारधाराओं ने हमारे देश पर गहरा प्रभाव डाला है। संविधान परिषद् द्वारा स्वीकृत नवीन शासन-विधान पर इसकी स्पष्ट छाप है। पश्चिम में हुए वैज्ञानिक आविष्कारों और मशीनों के सहज द्वारा भारत के भौतिक एवं सामाजिक और सामाजिक जीवन का काम-चल हो रहा है। पश्चिम की भौतिक उन्नति के कारण भारत उन्नत परामुत है। राजनैतिक दृष्टि से स्वतन्त्रता या विने पर भी देश में पश्चिमी संस्कृति की, अच्छा समझते हुए उनके अनुकरण की प्रवृत्ति प्रबल है।

इसमें तो कोई संदेह नहीं कि अच्छी बातों की सकल होनी चाहिए, किन्तु बुद्धिपूर्वक नज़र ही लाभदायक हो सकती है। महारमा यापी दुन से कहा करते हैं कि हम लोग ज्ञान-दान, रहन-सहन और फैशन में तो पश्चिम का अनुसरण करते हैं किन्तु संगठन, अनुशासन, समय-पालन, स्वच्छता, धार्मिक सेवा की भावना, कार्य-पालन, बालीय हित के सर्वोपरि ध्यान, विद्या-प्रेम, वैज्ञानिक अनुसंधान आदि पश्चिम के प्रसंगीय गुणों को अपने जीवन में नहीं डालते। पश्चिम का अनुकरण करते हुए हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि हम जापान की भाँति उनकी बुराइयों की भी

न लेती। आपात यूरोप का पक्का चेला बना और गुप्त से विमान ग्रहण करने के साथ-साथ, उसने उसकी आक्रमणशीलता, उच्च राष्ट्रीयता, संहार-शक्ति, और कमबोरे देशों की साथ उभरने वाली लोचों और हवाई जहाजों से 'भयंकरता' का मांड बढ़ाने का मन्त्र भी सीख लिया। इसका जो भयंकर परिणाम हुआ, उसे देखते हुए पश्चिम के अन्धानुकरण से बचना चाहिए।

पश्चिम की वर्तमान तथा पूर्व की प्राचीन संस्कृतियों में कुछ समुचितताएँ हैं। आध्यात्मिकता की उत्कृष्टता में कोई मतभेद नहीं हो सकता, किन्तु कोरी आध्यात्मिकता जीवन की सुखों नहीं बना सकती। इसके होते हुए भी भारत पराधीन और पुरस्कर्ता रहा है। जब तक इसका भौतिकता के साथ उचित सामंजस्य नहीं होगा, भारत की गरीबी रहेगी। एक प्रसिद्ध पश्चिमी वैज्ञानिक द्वारा दिये गए दुष्टान्त से यह बात स्पष्ट हो जायगी। भारत में अम्लों की संख्या बहुत अधिक है, यदि वेदा होते ही बच्चों की शक्ति चाँदी के एक समास (द्रवत नक्षित Silver Nitrate) में भी सी साथ तो यह अन्धागन रुक सकता है। एक और भारत के मन्दिरों में अम्ल चाँदी है और दूसरी ओर हथारों अक्षिप्त अम्ल है। चाँदी के उपयोग से अन्धागन दूर हो सकता है किन्तु कट्टरपंथियों की दृष्टि से यह महान् अघम होगा और अन्धागन यहाँ दूर किया जाय, वह तो पूर्वजन्म के पापों का फल है। यह स्पष्ट है कि इस प्रकार की कोरी आध्यात्मिक बुद्धि से हमारे भौतिक उत्थान नहीं हो सकती।

दूसरी ओर पश्चिमी संस्कृति भौतिक उत्थान की पराकाष्ठा पर पहुँच चुकी है। उसे देवताओं की शक्ति मिल गई है, किन्तु वह स्वका उपयोग दानवों की तरह कर रही है, जहानापुर की भक्ति अलुवन, उद्वेगन वग, कोबास्त वग जैसे प्रत्येक कस्बों से अपने सर्वनाश को घोर बना रही है। गोर्गों के कृषक की भक्ति एक भारतीय यूरोपियन को कह सकता है—“तुम आकाश में पक्षियों की तरह उड़ सकते हो, समुद्र में मछलियों की तरह तैर सकते हो किन्तु यह नहीं जानते कि पृथ्वी पर कैसे रहना चाहिए।” यूरोपियन राष्ट्रों में घोर अमीरों के उन तन-भली जंगलियों से कोई अन्तर नहीं बिनके भगड़ों का संसारा गया वस्त्राव ने होता है। पश्चिमी संस्कृति को भारत की आध्यात्मिकता शान्ति प्रदान कर सकती है और भारतीय संस्कृति को पश्चिम की भौतिकता सुखी बना सकती है। पूर्व और पश्चिम का यह आदान-प्रदान, सुखद सम्मिलन और सामंजस्य दोनों के लिए अत्यन्त सिद्ध होगा।

भारतीय संस्कृति की विशेषताएँ

भिन्न-भिन्न अध्यायों में धर्म, दर्शन, कला, विज्ञान, राजनीति आदि विविध क्षेत्रों में भारतीय संस्कृति की प्रगति का परिचय दिया जा चुका है। अब ध्यान में उसकी प्रधान विशेषताओं, उसके विकास और ह्रास के कारणों तथा भविष्य पर प्रकाश डाला जाएगा।

विशेषताएँ

प्राचीनता—भारतीय संस्कृति की पहली विशेषता प्राचीनता है। चीन के अतिरिक्त किसी अन्य देश की संस्कृति इस दृष्टि से उसकी तुलना नहीं कर सकती। अपने यूनान और रोम का उत्थान तथा पतन देखा। जस्युस्सी, सहूदी, ईसाई और मुस्लिम धर्मों के आविर्भाव से पहले इसका जन्म हो चुका था। मोहेंजोदड़ो की खुदाई के बाद ये मिस्र और मेसोपोटामिया की संस्कृताएँ भी इनसे पुरानी नहीं रही। विद्व-कवि रवीन्द्र के इन शब्दों में बड़ी सचाई है—“प्रभात उदय तप गगने। प्रथम सामर्य्य तप शोभते।”

वैविध्यविता—किन्तु प्राचीनता के साथ इसकी दूसरी बड़ी विशेषता वैविध्य-विता, चिरस्थायिता और अमरता है। वह पुरानी होते हुए भी अब तक जीवित और क्रियाशील है। इसके साथ ही सुमेर, बाबुल, मिस्र, यूनान, रोम की मौर्यपूर्व प्राचीन संस्कृतियाँ एक केवल शब्दहरो के रूप में बची हैं, उनके निर्माता मर चुके हैं और यूरोपियन विद्वान् उनकी कच्चे खोदकर उनका ज्ञान प्राप्त कर रहे हैं। किन्तु भारतीय संस्कृति की परम्परा मोहेंजोदड़ो से महात्मा गाँधी के युग तक कई महाकाव्यों का सृष्टीपूर्ण स्रष्टात्व हो जाने पर भी अक्षुण्ण है। संस्कृत भाषा भी पवित्र-मण्डपों में आई-चीन हजार वर्ष पहले की भाँति मिली, पढ़ी, बोली और समझी जाती है। अनेक सामाजिक परिवर्तन होने पर भी पुरुषार्थों में अति वैचारिक विधि-नियम आई-हजार वर्षों से एक-जैसी हैं। भारतीय समाज का आदर्श और आकांक्षाएँ रामायण, महाभारत के समय से समझ में आती हैं। हममें कोई संदेह नहीं कि विविध समयों में नवीन प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होती रहीं, वे भारत पर अपना अव्यक्त प्रभाव डालती रहीं, इस पर ईरानी, यवन, शक, पल्लव, कुशाण, हूण, क्षत्रप, गुर्जर, पठान, मंगोल व यूरोपियन आदिओं के आक्रमण हुए; किन्तु फिर भी भारतीय संस्कृति

को परम्परा का कर्मो सत्त नहीं हुआ। धर्मोका के प्रसिद्ध लेखक विल ह्यूरेण्ड ने भारतीय संस्कृति की इस विशेषता को बड़े सुन्दर शब्दों में प्रकट किया है—“महाँ ईसा से २६०० वर्ष पहले या इससे भी पहले मोहेन्द्रोदड़ों से महाराजा मान्धी, रमण और दैमोर तक उत्पत्ति और सम्पत्ता का धामदार मिलमिला जारी रहा है। ईसा से आठ अठान्दो पहले उपनिषदों ने आरम्भ होकर ईसा के आठ सौ वर्ष बाद धरकर तक ईश्वरवाद के हज्जारों रूप प्रतिपादन करने वाले दार्शनिक बढी हुए हैं। यहाँ के वैज्ञानिकों ने तीन हजार वर्ष पहले व्योतिष का आविष्कार किया और इन जमाने में भी नोबल पुरस्कार जीते हैं। कोई भी लेखक मिस्र, बेबीलोनिया और असीरिया के इतिहास की भाँति भारत के इतिहास को समाप्त नहीं कर सकता, क्योंकि भारत में इतिहास का अभी तक निर्माण हो रहा है, उसकी सम्पत्ता अब भी क्रियाशील है।” महाकवि शकबात ने इसी बात को लक्ष्य में रखते हुए लिखा था—“पुनान मिस रोमाँ सब मिट गए वहाँ से, कुछ बात है कि हस्तो मिटली नहीं हमारी।” यह ‘कुछ बात’ क्या है, अमली विशेषताओं में अभी-भीति स्पष्ट हो जायगा।

आनुकूल्य—भारतीय संस्कृति के दोषों जीवन का रहस्य उसकी तीन विशेषताओं में छिपा हुआ है—आनुकूल्य, सहिष्णुता, बहुलधर्मता। आनुकूल्य का शासन है—अपने की परिस्थितियों के अनुकूल बनते रहना। जीवन-शासन का यह नियम है कि वहाँ प्राणी दोषी-बोधी होते हैं, जिनमें यह विशेषता पाई जाती है। सुलभ पर पहले हाथियों से भी नई गुना बने भीमकास जानवर रहते थे, वे जीवन-संघर्ष की प्रतियोगिता में समाप्त हो गए; क्योंकि नई परिस्थितियाँ उत्पन्न होने पर वे अपने को उनके अनुकूल नहीं ढाल सके। संस्कृतियों पर भी यही नियम लागू होता है। मिस्र, मेक्सिको और ईरान की संस्कृतियाँ विदेशी आक्रमणों में अपने को नहीं संभाल सकी, उनका अन्त हो गया, किन्तु भारतीय संस्कृति अपने इस गुण के कारण इन सब विषम परिस्थितियों में उपयुक्त परिवर्तन करती हुई जीवित रही। हमारे धर्म, समाज, आचार-विचार में निरन्तर अन्तर आता बना गया, किन्तु यह इतना अने-अने और सूक्ष्मता से हुआ कि हम उसका बिनाकुल ज्ञान नहीं। वैदिक युग से वर्तमान युग तक पहुँचते-पहुँचते हम काफी बदल चुके हैं, जैसे उस समय में हमारा धर्म यज्ञ-उपधान का, आज भक्ति-युक्त है। इसी प्रकार विभिन्न आक्रान्ताओं के आने से जो नवीन परिस्थिति पैदा हुई, उसमें भी इसी अनुकूलता ने भारतीय संस्कृति को बचाये रखा। यह स्वरूप रखना आश्रिये कि गुप्त युग में भारत के भौतिक आदर्शों में कोई अन्तर नहीं आया। मुसलमानों और अरबों के शासन-काल में शिक्षित वर्ग द्वारा विदेशीयों का राजन-महान, वेध-भुषा और जाया आदि ग्रहण करने पर भी भारत ने अपने परम्परानेक धर्म और सामाजिक कदियों का परिचय नहीं किया, इस्लाम और ईसाइयत को अंगीकार नहीं किया।

सहिष्णुता—यह भारतीय संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता है। विदेशियों से प्रायः सहिष्णुता होती है, पुराने जमाने में सब धर्मों और जातियों में यह भावना

उस रूप से वादे जाती थी। इन्सान में मुकरत को इसीलिए चहुर का प्यासा पीना पड़ा था, फिलस्तीन में इसी कारण ईसा को मूली पर लटकना पड़ा था। प्राचीन इतिहास में सम्भवतः भारत ही एक मात्र ऐसा देश था, जहाँ हिंसा और सन्तुष्टता का प्राधान्य नहीं रहा। सामान्य विजेताओं की नीति प्रायः विध्वंस और विनाश की होती है। युरोपियनों ने अमरीका में सम संस्कृति का अन्त किया, अरबों ने भिन्न की पुनानी और ईरान की पुरानी सभ्यताओं को समाप्त की। धर्म की दृष्टि से न केवल एक धर्म ने दूसरे धर्म पर कियु अपने ही धर्म में विभिन्न मत रखने वालों पर जो औपचारिकताएँ किये, उनमें युरोपियन इतिहास के अनेक पृष्ठ रक्तस्त्रित हैं। सोलहवीं शती में चालीस वर्ष के शासन-काल में केवल हावैड में रोमन कैथोलिकों से भिन्न सिद्धान्तों वाले जित प्रोटेस्टेण्टों को चिता पर जलाकर या अन्य रंगों में मारा गया, उनकी संख्या पचास हजार थी। यह स्मरण रखना चाहिए कि यह कम-से-कम अन्धाका है। कास में कागिस प्रथम ने १५४४ ई० में अपनी मृत्यु से पूर्व आन्ध्र पंजाब-माला के तीन हजार विरोध निःशस्त्र कृषकों के कले-घास की छाया देकर आत्मिक शानति प्राप्त की। उनका एक मात्र उपनाम यह था कि वे ईसाइयत के मूल सिद्धान्तों में विश्वास रखते हुए योग तथा पारसियों की प्रभुता नहीं मानते थे। इस प्रकार की दारुणतामय घटना फ्रांस में इस समय हुई जब कि एक ही रात (२३-२४ अगस्त १५७२ ई०) को पेरिस में दो हजार कासू-जनाओं (जो प्रोटेस्टेण्टों) का नष्ट किया गया। समूचे फ्रांस में एक महीने तक यह क्रूर हत्याकाण्ड चलता रहा। इस अल्प काल में ही सत्तर हजार नर-नारियों और छोटे-छोटे शिशुओं की धर्म के नाम पर बलि चढ़ाई गई। यह सब इसलिए हुआ कि रोमन कैथोलिक यह नहीं चाहते थे कि कोई उनसे भिन्न विश्वास रहे।

किन्तु भारत में प्रारम्भ से ही सहिष्णुता की प्रवृत्ति प्रचल रही। सबको सामिक विश्वास और पूजा-विधि की पूरी स्वतन्त्रता दी गई। ऋग्वेद में कहा गया था—एक साक्षि बहूषा वेदन्ति (एक ही भगवान् का जानी माना रूप से वर्णन करते हैं)। गीता में इसी विचार को पराकाष्ठा तक पहुँचाया गया है। भगवान् कृष्ण को इस कथन से ही सन्तोष नहीं है कि 'मे वया मां प्रपन्नान् तान्त्वेकं सज्जाम्यहम्।' किन्तु उन्होंने यहाँ तक भी कहा है कि अन्य देवताओं को अष्टाशुर्वेक उपासना करने वाले भी मेरा ही भजन करते हैं। (६/२३) असीक ने इस सत्य पर जोर देते हुए कहा—'भगवान् एक साधु'। भारतीयों का यह विश्वास था कि भगवान् एक व्यक्ति, अक्षयक, सर्वशक्तिमान् सत्ता है, विविध प्रकार की उपासनाएँ उस तक पहुँचने के मार्ग हैं। जब जन्म एक है तो मर्त्य के बारे में क्या समझा किया जाय। यही कारण है कि यहाँ सभी पन्थ प्रीतिपूर्वक रहते रहे। इन सहिष्णुता से पापों ने अपने दो भिन्न अनादी और विधियों को उपासना-विधियों भी स्वीकार की। भारत ने विदेशों से सामिक अन्धकारों द्वारा पीड़ित होकर आने वाले पारसियों, बहुरिधियों और सोरियन ईसाइयों को अपने यहाँ उदारतापूर्वक स्वीकार दी। इसी से ज्ञान विविध आचार-

विचार और धार्मिक-विश्वासों वाली भारत की जातियों में न केवल एकता उत्पन्न कर सके, प्रत्युत भारत में अपनी संस्कृति का प्रसार करने में भी समर्थ हुए।

ग्रहणशीलता—सहिष्णुता से भारतीय संस्कृति में ग्रहणशीलता या सारस्वी-कारण की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई। इसका आशय यह है कि भारत में जो नये तत्व आते गए, भारतीय उन्हें पचाकर अपनी धर्म बनाते गए। शरीर तभी तक बढ़ता है जब तक वह खाई जाने वाली वस्तुओं को अपनी धर्म बनाता रहे। भारतीय संस्कृति का उक्त समय तक उत्कर्ष होता रहा जब तक वह बाहर से आने वाले सब तत्वों को पचाती रही। प्राचीन काल में उसने ईरानी, ग्रीक, पार्स, कुषाण, हूण आदि अनेक विदेशी तत्वों को शास्त्रसात् कर लिया। जातियों को पचाने के प्रतिरक्षा, अपने दूसरी संस्कृतियों के सुन्दर तत्व ग्रहण करने में कभी संकोच नहीं किया। भारतीय ज्योतिष और कला के ग्रीकों तथा इस्लामी प्रभाव से समृद्ध होने का पहले उल्लेख किया जा चुका है, वर्तमान काल में उसने यूरोप से बहुत-कुछ सीखा है।

इस ग्रहणशीलता के कारण भारत में जिवन्ता वैविध्य, विज्ञानता और स्वा-पक्ता दिखाई पड़ती है, उतनी शायद ही किसी दूसरे देश में हो। हमने ग्रहणशीलता के कारण जो कुछ धामा उसे रखा लिया और सहिष्णुता के कारण उसे नष्ट नहीं किया। यही कारण है कि जैसे हमारे देश में सब प्रकार का जल, वायु, वृक्ष, वनस्पति और पशु-पक्षी आने जाते हैं वैसे ही सब प्रकार के धार्मिक विश्वास, तथा रहन-सहन के ढंग भी मिलते हैं। श्री कृष्णजी ने इस विशेषता का बड़े मतोरकक रूप से प्रति-पादन किया है—“हमारा जोवन और पोशाक हर मुग में बदलती रहती है। पहले दाल-भात और रोटी जोवन था फिर लिचड़ी आई; पठान, मुगल और तुर्क पुनाव, कुरमा तथा कबाब आये, यूरोपियों ने चाम, केक, इधल रोटी, बिस्कुट आये, ये सब भारत में बिना कोई मजकूर किये साम्प्रतिक रह रहे हैं। खाने के व्यंजनों का भी यही हाल है। पहले केले के तथा दूसरे पत्ते, मिट्टी और घास के बर्तन थे, फिर सुवर्णमालों का सोटा भावा और धातु में चीनी के बर्तन, बम्बय और यूरो-कटि। ये सब भी इच्छे चल रहे हैं। तन्वाकू होने तक के ढंग में एकता नहीं है, इससे दुश्मने से किलम, बीसी, गिगरेट, गिटार और पाइप तक सब फैशन चलते हैं।—संश्लेष में मानव जाति को विभिन्न हिस्सों में बाँटने वाले सब पन्थ नहीं पाए जाते हैं। सब प्रकार की पुनः-पद्धतियाँ यहाँ प्रचलित हैं। प्राचीन काल के वेद, कपिल और बार्वाह से साधुनिक युग के इन्द्रायक योगित्यनाथ तक सब विचारभारार्थ और दर्शन नहीं मिलते हैं।”—सब प्रकार के वैयक्तिक कानून यहाँ प्रचलित हैं। विवाह पवित्र संस्कार है और इच्छा से छोड़ा जाने वाला सम्बन्ध-नाश भी। बहुपत्नीत्व भी है और बहुपत्नित्व भी। पुराने चार वर्ण भी हैं और वे चार हजार जातियों तक जा पहुँचे हैं। जो वेदा, संस्था या व्यवस्था एक बार ग्रहण की जाती है, उत्पन्न हो जाती है, वह कभी नष्ट नहीं होती। भारतीय संस्कृति की विशेषता ग्रहण और संश्लेष है, विनाश और विच्छेद नहीं। यहाँ का मुख्य विज्ञान विषय और जीने की कला है।

भारत इसी से पसीत में घमर रहा है और जब तक यह इसका ध्यान करेगा, घमर बना रहेगा।"

सर्वांगीणता—भारतीय संस्कृति की एक और विशेषता सर्वांगीण विकास की ओर ध्यान देना था। उसका लक्ष्य ऐहिक और पारलौकिक दोनों प्रकार की उन्नति करना था। यहाँ शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक तीनों प्रकार की शक्तियों के विकास पर समान बल दिया गया। पुराने यूनानियों की दृष्टि शारीरिक और मानसिक उन्नति से घागे नहीं गई। सुकरात का आत्मा को पहचानने का उपदेश यहाँ धर्म-रोदन ही सिद्ध हुआ। आज पश्चिमी संस्कृति भी भौतिकवाद में आपाद-मस्तक निमग्न है। उसने प्रकृति के अधिकार रहस्य ढूँढ़ लिए हैं, उत्तरी-दक्षिणी ध्रुवों को जोड़ डाला है, समुद्रों के घने जंगल और भू-मण्डल के सब सामर भग जाने हैं। सब प्रकार के विज्ञानों के अनुसन्धान द्वारा भूतल की प्रत्येक वस्तु को समझने का प्रयत्न किया है, यदि उसने किसी विज्ञान का विकास नहीं किया तो वह है आत्म-विज्ञान। किन्तु भारत में प्राचीन काल से शरीर, मन और आत्मा के सामं-जस्यपूर्ण विकास को जीवन का ध्येय माना गया था। शास्त्रकारों के मतानुसार मनुष्य को चार पुण्यार्थ प्राप्त करने का दल करना चाहिये। ये हैं—धर्म, धर्म, काम और मोक्ष। इनमें पहला और अन्तिम आध्यात्मिक विकास के लिए था और दूसरा तथा तीसरा शरीर और मन की उन्नति के लिए। इनकी समुचित प्राप्ति के लिए जीवन भर आध्यात्म में डीठा गया था। ब्रह्मचर्य और गृहस्थ पहले तीन पुण्यार्थों के लिए थे और अन्तिम दो आध्यात्मिक मोक्ष-प्राप्ति का दल किया जाता था। प्रायः भारतीय संस्कृति में आध्यात्मिक उत्थ को प्रधानता मानी जाती है : किन्तु अपने सर्वोत्तम काल में उसने आध्यात्मिक और भौतिक दोनों उत्थों पर समान रूप से बल दिया। धर्म और मोक्ष का पावन उत्थ ही आध्यात्मिक था, जितना कि धर्म और काम का सेवन। यह कहा जाता था कि चारों की प्राप्ति का प्रयास समान रूप से करना चाहिए, जो एक का ही सेवन करता है, वह निन्दा का पाव है (धर्मोर्वकामाः सममेव सेव्याः, जो ह्येकमेवतः स जनो जयन्तः)। मनुष्य का आदर्श सर्वांगीण विकास है, वह न तो धर्म की उपेक्षा करे और न ही काम और धर्म की ओर अधिक ध्यान दे। जब तक भारतीय संस्कृति ऐहिक और धार्मिक दोनों उत्थों पर समान ध्यान देती रही, उसका उत्कर्ष होता रहा। उसके पतन का सुषणव इसी काल से आरम्भ हुआ जब उसने दोनों के उचित सामंजस्य और समन्वय की ओर ध्यान न देकर केवल परलोक की ही चिन्ता की।

संचरणशीलता—भारतीय संस्कृति पर प्रायः यह दोष लगाया जाता है कि संन्यास और वैराग्य के उत्थों पर बल देने के कारण यह दिग्विपत्ता की प्रेरणाहित करती है। किन्तु दूसरे सम्प्रदाय में यह बलाया का चुका है कि प्राचीन काल में इसका भूत भन्त निरन्तर घागे बढ़ने की आशंका थी, उसने मोक्षरथी भावों की प्रपातता थी। 'कृष्णगी विद्वद्भार्यम्' का ध्येय सिंह हूए, वह दुनिया की किसी आह्वितिक का

मानवीय भाषा के माये द्वार मानने की संसार नहीं थी। उसे अपने पुरुषार्थ की संकलता में पूरा विश्वास था, उसमें वह पराक्रम, साहस, महत्वाकांक्षा, ऊँची कल्पना, विनाश दुष्टि, माये बढ़ने की उमंग थी, जो मनुष्य को नये देश खोजने और जीतने की तथा नई जिम्मेदारियाँ उठाने की प्रेरणा देती है। प्राचीन संस्कृति में लगभग वही शोचनिचता और महाप्राणता थी, जो मध्य काल में अरबों ने प्रदक्षित की और आजकल यूरोपियन जातियों द्वारा रही है।

जगद्गुरु—संस्करणशीलता के कारण भारतीय संस्कृति का विदेशों में प्रभूत-पूर्व प्रसार हुआ। दुनिया की किसी दूसरी प्राचीन संस्कृति ने इतने बड़े भाग को प्रभावित नहीं किया। मिल्के लेवी के शब्दों में "ईरान से चीनी समुद्र तक, साइबेरिया के तुंगराबत प्रदेशों से जावा, बोर्नियो के टापुओं तक, प्रशान्त महासागर के द्वीपों से सोकोत्रा तक भारत ने अपने धार्मिक विश्वासों, कथा-साहित्य और सभ्यता का प्रसार किया। उसने मानव जाति के अतुल्य पर अनेक शक्तियों के सुदीर्घ काल तक अपना प्रभुत्व प्रभाव डाला।" एशिया के अधिकांश भाग में संस्कृति और सभ्यता का घालीक फैलाने वाले भारतीय ही थे। यही उस समय का ज्ञात जगत् था, अतएव भारत को जगद्गुरु कहा जाता है।

अपनी उपर्युक्त विशेषताओं के कारण, गुप्त युग तक भारत ने असाधारण उन्नति की, उसके बाद सदावति प्रारम्भ हुई। पहले ग्रन्थों में उत्कर्ष और अवनति के कारणों पर प्रकाश डाला जा चुका है। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि संकीर्णता और घनुरारता की दृष्टियाँ, धर्म तथा परलोक की अत्यधिक चिन्ता, मोह-निद्रा और मिथ्याभिमान, ग्रन्थ-विद्वत्ताओं और संकुचित मनोवृत्तियों का प्राधान्य इसके मुख्य कारण थे। इनसे मध्य एवं वर्तमान युग में प्राचीन काल की भाँति हमारी अचानकी की स्थिति नहीं रही।

भारतीय संस्कृति का भूत अत्यन्त उज्ज्वल है, भविष्य की उपर्युक्त भूलों से बचते हुए और भी अधिक शौर्यपूर्ण बनाया जा सकता है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद, इस विषय में हमारा उत्तरदायित्व बहुत अधिक बढ़ गया है। प्राचीन काल में भारत ने लगभग सारे एशिया में ज्ञान की ज्योति जलाई थी, छठी सदी ई० तक विषय का तेजस्व किता था। इसके बाद हम प्रगाढ़ मोहनिद्रा में पड़ गए। शेरशक्ति की सुदीर्घ विद्या के बाद हम आज फिर अगे हैं; किन्तु इस बीच में दुनिया में अद्भुत-पूर्ण परिवर्तन हो चुके हैं।

इस समय ज्ञान का सूर्य पश्चिम में अस्त रहता है। वैज्ञानिक आविष्कारों ने मानव-जीवन का काया-पट हो गया है। विज्ञान ने मनुष्य को ऐसा गुरु-मत्त्व प्रदान किया है, जिससे प्रकृति की कुछ त्रिचियों के द्वार सहज में खुल जाते हैं, देवताओं की अतीतिक शक्ति मुक्तता से प्राप्त हो जाती है। हमारे देश की पुरानी परिपाटी यही है कि हम दूसरों के अनेक ज्ञान और संपादों को ग्रहण करें तथा उसमें बुद्धि

करके, उसे दूसरे देशों को दें। जो कार्य भारत ने पहले मणित और ज्योतिष के क्षेत्र में किया, वह आज ज्ञान-विज्ञान की प्रत्येक शाखा में होना चाहिए। इसी प्रकार भारत दूसरों का मुक्त बन सकता है और अपने जयदण्ड होने की प्राचीन परम्परा को धतूण रख सकता है।

किन्तु इसमें मध्य युग की उपर्युक्त प्रवृत्तियाँ अवश्य बाधक हैं। आज हमें संकीर्ण एवं सनुदार भावों को तिलाप्यलि देनी होगी, मिथ्याभिमान का तर्पण और धर्म-विश्वासों की होमी करनी होगी। जातीय जीवन को दुर्बल बनाने वाले प्रभुत्वता आदि कलकों का परिमार्जन करना होगा। कर्मयोग की विचारधारा को प्रधानता देनी पड़ेगी। परलोक से इसलोक की ओर भुँह मोड़ना होगा। इसको यह कहकर समझाना नहीं की जा सकता कि यह तो जड़वाद की ओर कदम बढ़ाना है। पश्चिम में विज्ञान की दृष्टि दानवी शक्ति की ओर संकेत करके सध्यात्मवाद का समर्थन नहीं किया जा सकता।

कहा जाता है कि प्राचीनता में केवल संयम है, गति नहीं। प्राचुरिकता में केवल गति है, संयम नहीं। एक जगह समान है, घोड़ा नहीं; दूसरी जगह घोड़ा है, खगाम नहीं। युरोप ने गतिशील विज्ञान का आश्रय लेकर संयम-प्रधान धर्म को छोड़ दिया है। अतएव वहाँ सत्त्वम आदि के रूप में सृष्टि का संहार करने वाली तब की अरब मूर्ति प्रकट हो रही है।

यह सत्य है। किन्तु सध्यात्मवाद और प्रकृतिवाद दोनों आवश्यक हैं। दोनों का उचित सामंजस्य होना चाहिए। प्रकृतिवाद सध्यात्मवाद के बिना लंगड़ा है, सध्यात्मवाद प्रकृतिवाद के बिना लंगड़ा है। 'धन्वपनुन्वाय' में दोनों का सम्मिश्रण होना चाहिए। धर्म का लक्ष्य पारलौकिक ही नहीं किन्तु ऐहिक उन्नति भी है। 'यतो अमुमनिःश्वेतमिन्द्रिः स धर्मः' जिससे इसलोक और परलोक दोनों में उत्कर्ष हो, वही धर्म है। पश्चिम में धर्म और उत्पत्ति इसगिए है कि वहाँ केवल जड़वाद है, भारत में बुद्ध और ब्रह्म का कारण यह है कि वहाँ केवल योग साधन और प्राणागाम है। क्वेकानन्द कहा करते थे—“भारत को विद्वान् भुजाने की आवश्यकता है, पश्चिम को सध्यात्म सीखने की जरूरत है।”

सावकल प्राचीन संस्कृति के गुनस्मजीवन पर बड़ा बल दिया जा रहा है। किन्तु यदि इसका सामय केवल इतना ही हो कि हम उस संस्कृति की शीरष-भाषा का गान करें, उस पर सभिमान करके, उससे सनुष्ट होकर बैठ जाएँ तो यह उनके साथ और सग्याय होगा। मिथ्याभिमान सध्यात्म में हमारी निष्कियता और पतन का कारण बना, आज भी वह हमारी उन्नति में बाधक होगा। हमारे पूर्वज भले ही बहुत बड़े हों, किन्तु सोचना तो यह है कि हम क्या हैं? यदि वे सगार के नेता थे तो हमारा उनके बंशज होने का सभिमान तनी सार्थक होगा, जब हम भी अपने प्रयत्नों से देश की सर्वांगीण उन्नति का प्रयत्न करें और उसे फिर जयदण्ड बनाएँ।

यह काम कोरी बातों का नहीं, किन्तु उनकी भावनाओं और गुणों—श्रवणशीलता, सहिष्णुता, ग्रहणशीलता, समन्वय, निरन्तर कर्मशीलता आदि—के धारणने और उदात्त साम्प्रदायिक आदर्शों को क्रियात्मक रूप देने से होगा।

पान संसार के उद्धार की भाषा भारतीय संस्कृति पर है। इस समय यूरोपियन राष्ट्रों की साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा से तृतीय विश्व-युद्ध के कोसे बाचने की पड़ा का रही है, चारों तरफ घनान्धकार फैला हुआ है, मानव अपने सर्वनाश की आशंका से भयभीत और संवस्त है। किन्तु इस धीरे विमिर में भारतीय संस्कृति तथा उसकी साम्प्रदायिकता ही एक-मात्र प्रकाश की किरण है, घने बादलों में आशा की चमकीली रेखा है। विश्व की भस्म कर देने वाले महाभू-द्धी में ब्रह्मण्ड शाश्वतत्व की बुझाने का सामर्थ्य यूरोपियन राष्ट्रों या संयुक्त राष्ट्र संघ के पास नहीं। यह अन्त-राष्ट्रीय परिषदों और संधियों से भी नहीं शान्त हो सकता। उसे भारतीय संस्कृति, अहिंसा तथा वागु के उपदेशामृत पर आचरण ही बुझा सकता है। विश्व शान्ति की समस्या का हल भारत के ही पास है। अतः भारतीय संस्कृति का भविष्य मृत की अपेक्षा अधिक उज्ज्वल और गौरवपूर्ण है।

सामान्य प्रश्नावली

पहला अध्याय

१. संस्कृति और सभ्यता का क्या अभिप्राय है ?
२. 'भारतीय संस्कृति सम्मिश्रण का परिणाम है' इसे स्पष्ट कीजिये ।
३. भारतीय संस्कृति की मौलिक एकता पर प्रकाश डालिये ।
४. विभिन्न युगों की भारतीय संस्कृति का विहंगम परिचय कीजिये ।

दूसरा अध्याय

१. भारत की प्रधान मूल्य कौन सी हैं ?
२. व्यास और ऋषि नालों ने भारतीय संस्कृति को किस प्रकार समृद्ध किया है ?
३. हिन्दु संस्कृति का संक्षिप्त परिचय कीजिये ।

तीसरा अध्याय

१. वैदिक साहित्य का प्रतिपादन कीजिये, उसका निर्माण काल क्या समझा जाता है ?
२. वैदिक युग के धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक जीवन पर प्रकाश डालिये ।

चौथा अध्याय

१. रामायण और महाभारत का भारतीय संस्कृति में क्या महत्व है ?
२. उपर्युक्त दोनों महाकाव्यों का कब निर्माण हुआ ?
३. इनसे भारतीय संस्कृति पर क्या प्रकाश पड़ता है ?

पाँचवाँ अध्याय

१. जैन और बौद्ध धर्म की उत्पत्ति के समय भारत की क्या स्थिति थी ?
२. जैन धर्म के प्रवर्तक की जीवनशैली और शिक्षाओं का वर्णन कीजिये ।
३. महात्मा बुद्ध के जीवन और उपदेशों का परिचय कीजिये ? जीवनान, महायान; विप्लवक तथा चार बौद्ध सम्प्रदायों पर प्रकाश डालिये ।
४. बौद्ध धर्म की स्थापना के क्या कारण थे ? इसका भारतीय संस्कृति पर क्या प्रभाव पड़ा ?

छठा अध्याय

१. भक्ति-प्रधान पौराणिक धर्म की पिछले धर्म से क्या विशेषता थी ? इसका विकास कितने कालों में बाँटा जाता है ? इसका प्रारम्भिक स्वरूप क्या था ?
२. भागवत या वैष्णव, शैव और शाक्त सम्प्रदायों का संक्षिप्त परिचय दीजिये ।

सातवाँ अध्याय

१. दर्शन का भारतीय संस्कृति में क्या महत्त्व है, उसका ऐतिहासिक विकास किस प्रकार हुआ ?
२. नास्तिक दर्शन कौन से हैं ? उनके प्रधान सिद्धान्त क्या हैं ?
३. छः नास्तिक दर्शनों के प्रमुख ग्रन्थों तथा भाष्यकारों का परिचय देते हुए इन में से किन्हीं दो के मुख्य सिद्धान्त बताइये ।

आठवाँ अध्याय

१. मौर्य-सातवाहन युग की सामान्य विशेषताएँ बताइये ।
२. इस युग में साहित्यिक, धार्मिक और सामाजिक जीवन का विकास किस प्रकार हुआ ?

नवाँ अध्याय

१. गुप्त युग की भारतीय इतिहास का स्वर्णयुग क्यों कहा जाता है ?
२. इस युग की साहित्यिक, सामाजिक और धार्मिक दशा किस प्रकार की थी ?

दसवाँ अध्याय

१. भारतीय संस्कृति भारत से बाहर किन देशों में फैली ? इसका प्रसार किन कारणों से हुआ ? इसे फैलाने वाले कौन थे ?
२. चीनका, मध्य एशिया, चीन, जापान तथा तिब्बत में भारतीय संस्कृति कब और कैसे पहुँची ?
३. दक्षिण पूर्वी एशिया में भारतीय संस्कृति का प्रसार कब और कैसे हुआ, वहाँ भारतीयों ने कौन से अन्तिमाली राज्य स्थापित किये ?
४. पश्चिमो जल पर भारतीय संस्कृति का क्या प्रभाव पड़ा ?

ग्यारहवाँ अध्याय

१. मध्य युग के साहित्य और विज्ञान का परिचय दीजिये ?
२. मध्य युग में किन कारणों से वैज्ञानिक और औद्योगिक विकास की प्रगति मन्द पड़ने लगी ?

बारहवां अध्याय

१. इस्लाम का भारत में प्रवेश किस प्रकार हुआ ? मुसलमान, यूनानी, शक, तुर्क आदि आक्रान्ताओं की भाँति भारतीय संस्कृति ग्रहण कर के हिन्दु समाज में ही क्यों नहीं घुल-मिल गए ?
२. इस्लाम का भारतीय संस्कृति पर धर्म, कला और साहित्य के क्षेत्र में क्या प्रभाव पड़ा ?

तेरहवां अध्याय

१. प्राचीन भारत में मुख्य रूप से कौन सी शासन-प्रणालियाँ प्रचलित थी ?
२. वैदिक युग या मौर्य युग की शासन-व्यवस्था पर प्रकाश डालिये ।
३. प्राचीन भारत में राजतन्त्र पर जो प्रतिबन्ध थे, उनका वर्णन कीजिये ।
४. प्राचीन काल में भारत में कौन से गणराज्य थे ? इनकी कार्य-प्रणाली वर्णन कीजिये ।

बीसहवां अध्याय

१. भारतीय कला की क्या विशेषताएँ हैं ?
२. मौर्य युग की कला पर प्रकाश डालिये । मारुत, साँची, मथुरा, सम्रावत और गान्धार कला-शैलियों का परिचय दीजिये ।
३. गुप्त युग में भारतीय सुति और चित्र-कला अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गई थी, इस उक्ति को पुष्ट कीजिये ।
४. मामलपुर, इलौरा, चारानुरी, कोरोबुदुर, खजुराहो, देलवाड़ा और भुवनेश्वर के कला-बैभव का परिचय दीजिये ।

पन्द्रहवां अध्याय

१. प्राचीन भारत में शिक्षा की क्या पद्धति प्रचलित थी ? शिक्षा किस प्रकार की जाती थी ? इसका क्या माध्यम था ?
२. तज्जगिता, मालन्दा, बलनी, त्रिकमगिता, उदन्तपुरी के विश्वविद्यालयों का परिचय दीजिये ।

सोलहवां अध्याय

१. आधुनिक भारत में तब जापरज किस कारणों से हुआ है ?
२. उन्नीसवीं शती में भारत में कौन से धर्म-मुबारक आन्दोलन हुए ?

३. वर्तमान युग की साहित्यिक, कलात्मक और वैज्ञानिक उन्नति का परिचय दीजिये। सामाजिक क्षेत्र में कौन से आविष्कारी परिवर्तन हुए हैं ?
४. पश्चिम का भारत पर क्या प्रभाव पड़ा है ?

सत्रहवाँ अध्याय

१. भारतीय संस्कृति की मुख्य विशेषताएँ क्या हैं ?
२. वर्तमान युग में भारतीय संस्कृति का क्या महत्त्व है ?

पहला परिशिष्ट

- संस्कृति-विषयक संस्कृत के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों तथा लेखकों का काल संकेत प्र०—प्रग्व, ल०—लगभग, ले०—लेखक, र०—रचना काल, मृ०—मृत्यु काल
- अग्निपुराण—८००-६०० ई० (हरप्रसाद व्यास) ।
 अग्निवेद—१२०० ई० पू० वैकुण्ठसूक्त, २५०० ई० पू० विष्णुसूक्त, ४००० ई० पू० तिलक ग्रीर याकोषी, अविताग-चन्द्र दास २५००० ई० पू० ।
 अमरसिंह—ब० अमर कोश ४००—४५० ई० ।
 अमरक—नवीं श० से पूर्व ।
 अथर्वानुशतक—१०० ई० से २०० ई० ।
 अथर्ववेद—१वीं श० ई० ।
 अथर्वशास्त्र—७वीं श० ई०, नारद स्मृति का टीकाकार ।
 अथर्व—ल० ४५० ।
 अथर्ववेद—१वीं श० ।
 अथर्ववेद—६००-३०० ई० पू० (काण्व) ।
 अथर्ववेद—३री श० ई०, माध्यमिक सम्प्रदाय के आचार्य ।
 अथर्वभट्ट—ज० ४७६ ई०, र० ४६६ ।
 ईश्वर कृष्ण—य० सांख्य कारिका ५५०-८३ ई० में भीलो अनुवाद ।
 उदयनाचार्य—ल० ६८४ ई०, प्रसिद्ध नैयायिक प्र० कुमारानन्दजी, न्यायशास्त्रिक का टीका ।
 उद्योतकर—६३५ ई०, य० न्याय दर्शन पर टीका ।
 उवाचपाणि—मृ० ८५ ई०, जैन दार्शनिक, प्र० तत्त्वार्थप्रियम ।
 व्यास—१२०० ई० पू० वैकुण्ठसूक्त, २५०० ई० पू० विष्णुसूक्त, ४००० ई० पू० तिलक ग्रीर याकोषी, अविताग-चन्द्र दास २५००० ई० पू० ।
 कपालरिस्तामर—ले० सोमदेव र० १०६३-८२ ई० ।
 कविता—८००-५०० ई० पू० (विष्णुसूक्त) सांख्य दर्शन का प्रणेता ।
 कमलाकर भट्ट—१६१०-४० प्र० निर्णय-सिन्धु ।
 कन्हय्य—ब० राजतरंगिणी, र० ११४०-५० ई० ।
 कातन्त्र—ले० अथर्ववेद, १वीं श० ई० ।
 कात्यायन स्मृति—४००-६०० ई० ।
 काभन्धक—३००-४५० ई० प्र०, नीतिशास्त्र ।
 कालिदास—२री श० ई० पू० दास मुद्रा, १री श० ई० पूर्व चिन्तामणि वैद्य ।
 १८०-४६३ भव्यास्कर । पाँचवीं श० ई० पाठक । ६ठी श० ई० मैत्रसूक्त ।
 कुमारदास—३००-४५० ई० ।
 कृत्तुक भट्ट—११५०-१३०० ई०, ल०, मनुस्मृति का टीकाकार ।
 कूर्म पुराण—२री श० ई० (हरप्रसाद-व्यास) ।
 कंसद—महाभाष्य की प्रतीप टीका का कर्ता १००० ई० के बाद ।

महाभर-भट्ट—लगभग १६५० ई०, नव्य-
न्याय के आचार्य ।

महर्षि पुराण—१३वीं श० ई० (६०५०) ।

मंगेश जगन्नाथ—१३७६ ई०, नव्य न्याय
के प्रवर्तक ।

गृह्य सूत्र—८००-४०० ई० पू० ।

गोवर्धनाचार्य—आर्यसप्तशती ११५०-
१२०० ई० ।

गौडपादाचार्य—न० ७८० ई० ।

गौतम—न्यायसूत्रकार, ४वीं श० ई० पू० ।

गौतम धर्मसूत्र—६००-४०० ई० पू०
(काश्या) ।

जगन्नाथ—लगभग १०५० ई०, मुद्गुत
टीकाकार, चिकित्सा-संग्रह का लेखक ।

जबरक—१वीं श० ई० कनिष्क का राजवंश ।

जगन्नाथ—१३१४ ई०, धर्मशास्त्रकार ।

जगन्नाथ—३वीं श० ई० बौद्ध विचारण ।

जगन्नाथ तर्कालंकार—१६२५ ई०, प्रतिज्ञा
तत्त्व नैयायिक ।

जगन्नाथ तर्क पंचानन—न० १८०६
श० विद्यादासवंशसेतु ।

जगन्नाथ पण्डितराज—उत्कर्ष-काल
१६२०-४०, श० रस मंगाधुर, मंगा
कहरी ।

जगन्नाथ—१२०० ई०, श० गौतम गोविन्द ।

जगन्नाथ—न० ६६२, श० काशिका ।

जगन्नाथ बुद्धि—न० ६०० ई०, जेनेन्द्र
व्याकरण ।

जगन्नाथ—११००-५०, श० आपराज
व्यवहार मालुका ।

जगन्नाथ—नीमाया सूत्रकार ५००-२००
ई० पू० ।

जगन्नाथ—११वीं श०, मुद्गुत का टीकाकार ।

जगन्नाथ—न० जगन्नाथ निध १२७१ ई०

जगन्नाथ—२३५० ई० पू० (तिरुक्क)

जगन्नाथ—न० ६४०-४५० ई० ।

जगन्नाथ—न० ५०० ई०, बौद्ध
नैयायिक, श० प्रमाण समुच्चय, व्यास
प्रवेश ।

जगन्नाथ—१वीं श० ई० ।

जगन्नाथ—नवीं श० नरक-महिता का
संशोधक ।

जगन्नाथ भट्ट—न० ११२५-१२२५
श० स्मृति चिन्तिका ।

जगन्नाथ स्मृति—४००-६०० ई० ।

जगन्नाथ—न० ६७३, श०, तिरुक्क-मन्त्राली ।

जगन्नाथ—न० ६६७ ई० श०-दशरथक

जगन्नाथ—न० ६३५ ई०, श० प्रमाण
वास्तविक ।

जगन्नाथ—३३ ई० पू०-३३० ई०, श०
सांख्यिक कारिका प्रमाणानुसार ।

जगन्नाथ—न० (१७००-५०), श०
शब्देन्दुसूचक ।

जगन्नाथ पुराण—५००-६०० ई० ।

जगन्नाथ स्मृति—१००-४०० ई० ।

जगन्नाथ—४वीं श० ई० का आदर्श
का भाव एतिया से मिला शब्द ।

जगन्नाथ वास्तविक—८००-५०० ई०,
७०० ई० पू० वेदमन्त्र ।

जगन्नाथ भट्ट—(१६१५-४५ ई०), श०
व्यवहार मन्त्र ।

जगन्नाथ—हर्ष के मन्त्रानुसार इसका
मूल जगन्नाथवाक्य २०० ई० पू०
की रचना है ।

पतञ्जलि—१५० ई० पू० ।

प्रबोध-चन्द्रोदय—ले० कृष्णमिश्र, १०५०
१११६ ई० ।

प्रज्ञातपात्र—५वीं श० ई० (कीच) ।

पराशर स्मृति—१००-५०० ई० ।

पाणिनि—५०० ई० पू० (विष्णुनिम्न),
१५० ई० पू० (कीच) ।

पुराण—इनका काल-निर्णय बहुत कठिन
है। इनके दो प्रधान वर्ग हैं (१) पहले
पुराण—वायु, विष्णु, मार्कण्डेय, कूर्म,
श्रीरामायण, ये ३००-६०० ई० में
बने किन्तु इनका बहुत-सा भाग
३०० श० ई० से भी बहुत पहले
का है (२) पिछले पुराण-निगम, ब्रह्मा
संहिता-दीप, भाव, स्कन्द, ब्रह्म,
अतिथ्यत् ६००-१००० ई० ।

वाणभट्ट—६४८ ई० ।

मिलतुंग—१०३०-११००, व० विक्रमांक
देवचरित ।

मुद्राकथा ले० गुणादय—२री श० ई० ।

मुद्रदेवता—५वीं श० ई० पू० कीच ।

मुद्रस्मृति स्मृति—३००-४०० ई० ।

बीधायन धर्मसूत्र—५००-२०० ई० पू०

ब्रह्मगुप्त—५२०-६६५ ई०, व० ब्रह्म स्मृत
मिश्रान्त ।

ब्राह्मण धर्म—रक्षता-कर्म ऐतरेय, तैत्तिरीय,
जैमिनीय, अथर्विष, कौषीतकी शातपथ,
गोथ, २०० ई० पू० (कीच) ।

भगवद्गीता—२०० ई० पू० (विष्णु-
निम्न) ५०० ई० पू० (शिवक) ।

भट्टि—३वीं श० ई० ।

भरत—पहली श० ई०, व० नाट्यशास्त्र ।

भर्तृहरि—वाणभट्टीय २० ६५१ ।

भवभूति—३००-३५० ई० ।

भामह—६ठी शती मध्य ।

भारवि—१७५ ई० ।

भागवत पुराण—नवीं श० ई० ।

भाष्यप्रकाश—ले० भाष मिश्र, १५५०
ई० ।

भाग—मणपति यास्वी ६ठी श० ई०
पू०, वासगुप्ता ३री श० ई० पू०;
बार्नेट ७म श० ई० ।

भास्कराचार्य—८० मिश्रान्त शिरोमणि
२० ११५० ई० ।

भट्टनपाल निघण्टु—२० १३६०-६० ई० ।

मध्वाचार्य—११६६-१२०० ई० के
प्रचारक ।

मनुस्मृति—२०० ई० पू०—२०० ई० ।

मम्मट—लगभग ११०० ई० ।

मल्लिनाथ—१४५० ई० ।

महाभारत—४०० ई० पू०—४०० ई०,
२०० ई० पू० के लगभग पू०
(कीच, तृणकित्त) ।

महाभारतु—१मी श० ।

मंस—११२०-३० ई०, प० श्रीकण्ठचरित ।

माघ—लगभग ६२५ ई० ।

माधवाचार्य—पू० १३७२ ई० व० पराशर
माधवीय ।

माधव निदान—८वीं नवीं श० ।

मुद्राराक्षस—विद्यालक्ष ५०० ई० (जामस-
काल) धर्म, ५ठी श० ई० ।

मुरारि—१०५०-११३५ ई० ।

मेदिनी—४० धर्मकार्य धर्मकोष (५वीं
शताब्दी) ।

मेघादिधि—०२५-२०० ई०, मनुस्मृति का

प्रथम टीकाकार ।

मिहिरकुल—५१०-४० ई० ।

मिलिन्द—१५० ई० ।

याज्ञवल्क्य-स्मृति—१००-३०० ई० ।

रघुनन्दन—१५२०-७५ ई० ।

रघुनाथ शिरोमणि—१४७७—१५४७

प्रसिद्ध नव्य नैयायिक तत्त्वचिन्तामणि
दीक्षिति के प्रसूता ।

रस-रत्नाकार—ले० गंगाधरन, ७वीं-८वीं
श० ।

राजनिघण्टु—ले० नरहरि, १२३५-५० ई०

राजशेखर—११७ ई० काव्य सीमांताकार

रामायण—८००-५०० ई० पू० जेकोवी,
४०० ई० पू० कीय ।

रघुट—८००-५० ई० काव्यालकार ।

रघुक—११५० ई० धनंकार शास्त्री ।

सहित विस्तर—दुसरी श० ई० ।

सप्तमोषर—११०४-५४ ई० कलौज के
राजा गोविन्दचन्द्र के मन्त्री, कल्प-
कल्प तर के लेखक ।

श्रीनिम्बराल—१६३३ ई०, ५० वें
जीवन ।

शरद्वि—(श० २०० ई०) श० प्राकृत
प्रकाश ।

शराहमिहिर—(५०१-५८७) श०
भृगुसंहिता ।

शरत्नाथ—१४७६-१५३१ गुदावत-
वादी के लेखक ।

शरित्त धर्मसूत्र—३०० ई०-१०० ई० पू०

समुच्चय—४८० ई० बौद्ध दार्शनिक; श०
अभिपम कीय ।

शाम्भू—(१) बुद्धशाम्भू, अष्टांग संह
करी यादवी श० ई० ।

(२) शाम्भू-अष्टांग हृदय का लेखक
नवी श० ई० ।

शास्त्रपति मिश्र—(१) ८४१ ई०, न्याय,
सांख्य योग वैशान्त के प्रसिद्ध
भाष्यकार ।

(२) लगभग १४५० ई०, प्रसिद्ध
धर्मशास्त्री विवाद-चिन्तामणि के
लेखक ।

शास्त्रपायन—(१) न्यायभाष्य-प्रसूता १वीं
श० ई० पू० ।

(२) कामसूत्र के प्रसूता २री श० ई०
पू०, कीय ५०० ई० ।

शाम्भू—८०० ई०, श० काव्यालकार सूत्र ।

शाम्भू पुराण—४वीं श० ई० (सिध) ।

शाम्भू पुराण—२री श० ई० (ह० प्र०)

विद्यापति—१३७५-१४५० ई० ।

विद्यनाथ—१३२० ई० श० साहित्यदर्पण

विद्यनाथ पञ्चानन—१६३४ ई० प्रसिद्ध
नैयायिक ।

विद्यन कथ—८००-८२५ ई० माज० स्मृति
की जालकीरानामक टीका का कर्ता ।

विष्णु धर्मसूत्र—१०००-३०० ई०, ३री
श० ई० (ह० प्र०) ।

विष्णु पुराण—३री श० ई० (हरप्रसाद
दास्त्री) ।

विज्ञान विष्णु—१६वीं श०, सांख्य सूत्रों
का भाष्यकर्ता ।

विज्ञानेश्वर—१०७०-११०० ई०, माज०
स्मृतिपर मिताक्षरा टीका का लेखक ।

वीरमित्रोदय—ले० मित्रमित्र, १६१०—
४० ई० ।

वृत्तरत्नाकार ले० केदारचन्द्र—१२५० ई०
के पूर्व ।

विष्णो संहार—मह नारायण, चर्चा आ. का
पूर्वाङ्क ।
खंडभाष्य—१०५०-११५० ई० खन्नेद
भाष्यकार ।
वैदिक संहितायें—ब्राह्मण और उपनिषद्
४०००-१००० ई० पू० ।
व्यास-स्मृति—२००-५०० ई० ।
शबर—२००-५०० ई०, सं० मीमांसा
दर्शन का भाष्य ।
शंकराचार्य—७८८-८२० ई० ।
शंखलिलित धर्मसूत्र—३००-१००
ई० पू० ।
शार्ङ्गधर—१२४७ सं० संगीत रत्नाकर ।
शूद्रक—मुख्यकालिक २०० ई० ।
श्रीहर्ष—लगभग ११७३, सं० नैषधीय
चरित ।
श्रीतनुव—८००-४०० ई० पू०, रचनाक्रम
मानव, बोधायन, शालाघन आरभ्यक
आश्वलायन (४०० ई० पू०) शान्नायन
श्रीतनुव, आपस्तम्ब (३५०-३००
ई० पू०) (बौध), गण्वापाङ्क, काठक ।
सचनभद्र जेनाचार्य—१०० ई०, सं०
आप्तमीमांसा ।
सद्यन्तपुंडरीक—२०० ई० ।
साम्बन्धाचार्य—मृ० १५८७ ई०, १३८१ ई०

में वेदभाष्य पूरी किया ।
सिद्धसेनगणि—६०० ई० उमास्वाति के
तत्त्वाभाषिणन के टीकाकार जैन
विद्वान् ।
सिद्धसेन विद्वाकर जैन दार्शनिक—
(५३३ ई०) सं० न्यायामता ।
सोदंडल—१०२१-५०, सं० उदयमुन्दरी,
कथा ।
सीमदेव—१०६२-८१, सं० कथा-
सरित्सागर ।
सोमदेव सूरि—८५६ ई० सं० नीति
वाक्यामृत ।
हरदत्त—११०० ई०, आपस्तम्ब भन्त पाठ,
आश्वलायन गृह्य सूत्र, धर्म सूत्रों के
टीकाकार ।
हर्षवर्धन—मृ० ६४८, सं० रत्नावली,
श्रियदर्शिका, भाषातन्त्र ।
हारीत धर्म सूत्र—४००-७०० ई० ।
हेमचन्द्र—१०८८-११७२ ई० ।
हेमाद्रि—लगभग १२६०-१२७५, सं०
कतुर्वर्ग चिन्तामणि ।
शोरस्वामी—१०५०-११००, अमरकोश
का टीकाकार ।
श्रेमेन्द्र—१०२०-१०८०, सं० बृहत्कथा-
संवर ।

दूसरा परिशिष्ट

संस्कृति सम्बन्धी प्राचीन भौगोलिक स्थानों के वर्तमान रूप

संकेत—घ० घाटी, रा० राह, न० नदी, प० पर्वत, दे० देश,

जा० जाति, राज० राजधानी, लग० लगभग

अंग वे०—भागलपुर, मुँगेर का प्रदेश ।

अग्नि घ०—कराचहर (मध्य एशिया) ।

अपरान्त वे०—उत्तरी कोकण ।

अमरावती घ०—गुण्टूर जि० में कुष्मा
नदी पर ।

अमोघ्या घ०—अमृता (स्वाम), हृदय-
राज द्वारा ल० १३५० में संस्थापित ।

अरिमवंतपुर घ०—जगान (बर्मा) ।

अश्मि—पश्चिमी सातवा ।

अश्मक—अहमदनगर ।

अडकवायन जा०—अपमान ।

अस्तिनी न०—चिनाब ।

अहिच्छया घ०—रामनगर, जिला बरेली ।

अनन्त दे०—पाठियावाड़ का पश्चिमी भाग,
राजधानी डारका ।

आग्ने दे०—मोवाबरी कुष्मा का दोषाव
प्राचीन राज० अमरावती या अमकटक ।

आर्षावर्त दे०—उत्तर भारत ।

इन्द्रधुम्न—अण्डमान द्वीप ।

इरावती न०—इरावती (बर्मा) ।

उद्दिपाल दे०—स्वाय नदी की घाटी,
इसका अन्य नाम उद्यान है ।

उम् (ओम्) दे०—पश्चिमी सिन्धुपुर पु०
सिन्धुभि, द० बीकुवा के बिचे ।

उत्कल दे०—(उत्तरी कर्नाट) आन्ध्रप्रो
थे सरगुना तक का प्रदेश ।

उत्तर कुरु—साइबेरिया ।

उपरिशान प०—हिन्दूकुश पर्वत ।

उशीनर दे०—भंग मन्थिमाना (पश्चिमी
पंजाब) ।

ऐरायण दे०—ईरान ।

ऋषिका दे०—खानदेश ।

कटाह द्वीप—केडा (मलाया) ।

कपिलवस्तु—नेपाल में बुद्ध की जन्मभूमि
कस्मिन्वेई (सुन्धिनी कम) में १० मील
पश्चिमी तिनीरा गाँव ।

कपिषा दे०—काफिरिस्तान ।

कपिषा—बैथान, काबुल से ५० मील उत्तर ।

कम्बुज—कम्बोजिया (फारसी हिन्दूचीन) ।

कम्बोज—रामीर बरकवा ।

कर्णावती—अहमदाबाद ।

कसिमखन द्वीप—ओमिया ।

कलिग—बालासोर के भद्रक से दक्षिण में
विजयापट्टम् तक का उड़ीसा का प्रदेश ।

कमु—कुरंग न० ।

काण्डकुबज—कलोज (जि० फर्रुखाबाद) ।

काम्पिल्य—व० कपिल (जि० फर्रुखाबाद) ।

कानक्य—घासाम ।

काँची—काँचीकरम् ।

कुम्भिन्य—वसुना का उपरला प्रदेश ।

कुमा न०—काबुल नदी ।

कुङ्ग—सतलुज वसुना के मध्य का भूभाग,
सम्बाला द्वीपजन ।

कुशीनगर—कसिया (जि० गोरखपुर), बुद्ध
का निर्वाण स्थान ।

कैकय—साहपुर गुजरात जिले (पश्चिमी
पंजाब) ।

कोरुनद—बजीरिस्तान ।

कोशल—अरुण (राजधानी धर्मोप्या) ।

कौशार—हार्थन (फैज हिन्दुनीन) ।

कौशास्त्री—कोसम, दलाहाबाद से ३० मी.
द. ९० ।

गन्धार दे०—रावलपिण्डी और पेशावर के
जिले, पूर्वी गान्धार की राजधानी तक्ष-
शिला की और पश्चिमी की काबुल और
स्वात नदी के संगम पर बसी पुष्करा-
वती (धार्मुनिक प्रांग और कारमहा) ।
चीन का दक्षिणी प्रान्त मुश्तान भी
गन्धार कहलाता था ।

निरिखज ब०—अरुण की राजधानी धार्मुनिक
राजमिर के निकट इसके समक्ष है ।

गुजंर—नबी, दसवीं शती में वर्तमान राज-
पुताना गुजंर जाति का प्रदेश होने से
गुजंरभूमि कहलाता था । इसकी एक
खाला बालुखर्मी द्वारा जोते जाने पर
वर्तमान गुजरात का यह नाम पड़ा ।

गोमती—गोमल न०

गोड़ दे० तथा ब०—बंगाल, इसकी राज०
का नाम भी गोड़ (गारेन्ड)
सहमणावती या लखनौती था ।
मालदा से १० मील दूर ।

घोरक—गोर्धनकोरा (गौरी) नदी के
उद्गम पास का देश ।

चम्पा—(१) अन्ताम (हिन्दुनीन) (२)
भागलपुर के पास प्राचीन अग देश
की राजधानी ।

चमन्वती—सम्बल ।

चेदि—वसुना के दक्षिण में बुन्देलखण्ड
का प्रदेश, इसका दूसरा नाम बाहल
भी था ।

चेर—केरल, मलाबार ।

चोल—मेल्लुर से पुद्दु कोटे तक का
प्रदेश, राजधानियाँ उरयपूर, (कावेरी
पर त्रिचनापल्ली के पास), काँची
और तंजौर ।

बाहल दे०—चेदि ।

तक्षकोल—तक्षुभाषा (बमों) ।

तक्षशिला—रावलपिण्डी से १२ मी०
उत्तर पूर्व शाहदोरी की बस्ती ।

ताक्षिक जा०—अरुण ।

ताम्रनिधि—ताम्रमुक (जि० मेदिनीपुर) ।

तोषासि—घोली (उड़ीसा) ।

वृषद्वती न०—गण्डर (पूर्वी पंजाब) ।

दक्षिणापथ—नर्मदा से दक्षिण का प्रदेश ।

द्वारावती—मेनान नदी का निकला काँटा ।

नक्कजारम्—निकोबार ।

मगरहार—जलालाबाद ।

मालम्बा—राजमिर से ६ मी० उ०
बहमाँव की बस्ती ।

मेमियारण्य—मीमसार (जि० सोतापुर)

पक्कन जा०—पदान ।

पञ्चपावन—फितियाइन ।

पट्टण्डी—रावी ।

पंचाल—बुन्देलखण्ड द्वीपजन तथा नगा

मनुष्य के दोमास का कुछ अंश इसके दो भाग थे ।

(१) उत्तर पांचाल—रा० अहिच्छता (रामनगर जिला बरेली) ।

(२) दक्षिण पांचाल—रा० काम्पिल्य (कम्पिल जिला फर्रुखाबाद) ।

पाटलिपुत्र—पटना ।

पाण्ड्य—तिरुनलवेल्ली, मद्रुरा के जिले ।

पारस्य (आ०) —पारसीक, पशु, फारस ।

पावा—(१) कश्मिरा से १२ मी० उ० पू० वर्तमान पहरौला ।

(२) बिहारशरीक से ७ मी० पू० महावीर का निवास स्थान ।

पुण्ड्र—मालदा तथा पूणिमा एवं दिनाङ्कपुर और राजशाही जिलों के कुछ भाग ।

पुरुषपुर—पेशावर ।

पुष्कलावती—चारमहा ।

पीण्ड्र—सन्ध्याल परगना, बीरभूम के जिले तथा हुबारी बाग का उत्तरी भाग ।

प्रतिष्ठान—पैठन, औरंगाबाद, से २५ मी० द० गोदावरी के उत्तरी तट पर ।

प्रातृहिक—पल्लव ।

वाकेर—वेदीलोमिया ।

भृगुकव्य—बड़ौक ।

समथ—दक्षिणी बिहार, पटना, गया के जिले ।

साम्थ—धामुनिक धनवर ।

सह—रत्नामकोट के आसपास का प्रदेश ।

महोदधि—उगाल की खाड़ी ।

मालव—मालवा ।

मिथिला व०—विदेह की रा० दरभंगा जि० में जनकपुर (वर्तमान सीता-मढ़ी के निकट)

मेरु—नामीर का ऊँचा पठार ।

मगदोष—बावा ।

रत्नाकर—सरख सागर ।

सम्नाक—तमसान, कामुल नदी के उत्तर में जलालाबाद से २० मी० उ० पू० ।

सुम्बिनी वन—कम्पिलदेई (नेपाल) ।

वकान, वकण—वका, अफगानिस्तान का उ० पू० प्रदेश ।

वत्स—इलाहाबाद के आसपास का प्रदेश (रा० कौशांबी)

वत्समी—काठियावाड़ प्रायद्वीप तथा भरुच तथा सूरत जिले । रा० बला भावनगर से १२ मी० उ० पू० ।

वंग—मुर्शिदाबाद, नदिया, पकोहर के जिले तथा राजशाही पबना, फरीदपुर के कुछ भाग । मुजान च्यांग के धनुषार—बंगाल के पाँच भाग थे पुण्ड्र (उत्तरी बंगाल), समतट (पूर्वी बंगाल), कर्ण-मुषर्य (पश्चिमी बंगाल), ताम्रस्तिष्ठि (दक्षिणी बंगाल), कामरूप (आसाम) ।

वसु न०—ग्राम (पाकस) ।

वातापि—बीजापुर जिले में वातुकों की राजधानी बागामी ।

वाक्य द्वीप—बोर्नियो ।

विजय—विल्लिविल्ल (केंच हिन्दुनीय में) ।

विजयनगर—हामी जि० बेलारी ।

वितस्ता—वेहलम ।

विपाशा (विपाद्)—व्यास ।

वैशाली—इलाह, मिथिलबिर्दों की राजधानी (जि० मुजफ्फरपुर) ।

अहरयान—सीतान ।

आकन—रत्नामकोट ।

मुमुक्षु—सततपूज ।

मुरसेन—मथुरा ।

मुषा—मूसा (ईरान की एक पुरानी राजधानी) ।

भावरती—कोसल की राजधानी सहोद महेट (गोंदा, बहराइत जिलों की सीमा पर) ।

श्रीविजय—पल्लवर्ष (मुमाषा) ।

श्रीक्षेत्र—ग्राम (बर्मा) ।

सरस्वती—अफगानिस्तान की सरमन्दाव नदी ।

सारनाथ—बनारस ।

सिंहपुर—सिमापुर ।

सिंहल—श्रीलंका ।

सीता—मध्य एशिया की यारकन्द नदी ।

मुखोदय—मुखोर्दई (स्याम) ।

मुखम्मवती—पेटोन (बर्मा) ।

मुखर्षदीप—मुमावा, मलाया, जावा आदि हिन्द पूर्वी द्वीप समूह ।

मुखर्षभूमि—बर्मा ।

मुवास्तु—स्यात ।

स्वधन—धामेसर से ४० मी० दूर ममुना नदी के पूर्वी किनारे की बस्ती ।

सौराष्ट्र—काठियावाड़ ।

साम्भ-तीर्थ—सम्भार ।

हस्तिनापुर—मेरठ से २२ मी० उ० में हसनपुर गाँव ।

हंसकावत—हुँवा ।

हन्तावती—पेट ।

सहायक ग्रन्थ-सूची

भारतीय संस्कृति और इतिहास विषयक सामान्य ग्रन्थ

- Cambridge History of India Vols. I to VI (S. Chand & Co., Delhi.)
 D. N. Roy : The Spirit of Indian Culture (Calcutta University)
 Dutta : Indian Culture (Cal. Uni.)
 Gokhale, B. G. : Ancient India (Asia, Bombay)
 J. N. Sarkar : India Through the Ages.
 Kahir, H. : The Indian Heritage (Asia, Bombay).
 K. T. Shah : The Splendour that was Ind.
 Panikkar, K. M. : A Survey of Indian History (Asia, Bombay).
 Ramakrishna Centenary Committee : Cultural Heritage of India
 Revised Edition, 5 Vols., Calcutta.
 R. C. Majumdar and A. D. Pusalkar : History and Culture of
 the Indian People Vol. I, Vedic India, Vol. II The Age of Imperial
 Unity, Vol. III The Classical Age, Vol. IV The Age of Imperial
 Kanauf, Vol. V Delhi Sultanate (Bhartiya Vidyabhavan,
 Bombay)
 R. C. Majumdar, H. C. Raychaudhari and K. K. Datta : Advanced
 History of India, 2nd revised, enlarged edition (Macmillan
 1960).
 R. C. Majumdar : Ancient India, Revised (Enlarged edition)
 Motilal Banarasidas, 1960.
 R. K. Mukerji : Hindu Civilization
 Sengupta, P. : Everyday Life in Ancient India (Oxford Uni. P.).
 Smith, V. A. : Early History of India, 4th Revised edition (Oxford
 University Press.)
 Smith, V. A. : Oxford History of India, Revised Edition (Oxford
 University Press.)
 Thomas : Indianism and Its Expansion (Cal. Uni.)
 एन्ड विज्ञापकत्वानि : भारतीय संस्कृति का प्रवाह
 केदारनाथ शास्त्री : विष्णु-सम्पत्ता का यदि केन्द्र हक्या
 केदारनाथ शास्त्री : भारत की सांस्कृतिक परम्परा
 चतुर्वेद : भारतीय संस्कृति का इतिहास ।

- जयचन्द्र विद्यालंकार : भारतीय इतिहास का उन्मीलन ।
 जयचन्द्र विद्यालंकार : भारतीय इतिहास की सीमाया ।
 जयचन्द्र विद्यालंकार : भारतीय कृष्टि का क, ख, ग ।
 डा० वासुदेव शरण अग्रवाल : भारत की भौतिक एकता ।
 डा० वासुदेव शरण अग्रवाल : प्रागैतिहासिक भारतवर्ष ।
 धर्मानन्द कोसाम्बी : भारतीय संस्कृति और ग्रहण ।
 मधुरालाल शर्मा : भारत की संस्कृति का विकास ।
 महावीर शर्मा : भारत का विषय इतिहास ।
 रामभारीसिंह शर्मा : संस्कृति के चार अध्याय ।
 विमलचन्द्र पाण्डेय : भारतवर्ष का सामाजिक इतिहास ।
 गाने गुरु जी : भारतीय संस्कृति ।
 शिवदत्त ज्ञानी : भारतीय संस्कृति ।
 डा० देवराज : भारतीय संस्कृति ।
 सत्यकेतु विद्यालंकार : भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास ।

अनुक्रमणिका

अंकोरगोम १३४, १३५, १६८	अमेकान्तवाद ६२
अंकोरवत् १३८, १६८	अनेकार्थे संघट्ट १४६
अभिरम् ४३	अन्तर्निहित ८३
अक्षर १६०, १६८, २००, २२६	अन्धक-वृष्णि १७५
अक्का देवी १६६	अज्ञागार, तुलुप्पा के २३
अगस्त्य १२६	अप्रभंश खैली १६६
अग्नि ४१	अपर जन गद १६७
अग्निपुराण १२२, १७१	अपाङ्कक १०४
अग्निनिष ११०	अप्यवधीक्षित २५
अग्निष्टोम १७	अभिचम्म पिटक ६६
अग्रहार ग्राम २११, २१२	अभिधातरत्नमाला १४६
अजला १८८	अभितकगुल १४८
अजयपोढ़ १७२	अभिसमवालेकार २३
अज्ञानमय १७३, १७४	अमरकोष १११, १२२
अताता देवी की मन्त्रिय १६२	अमरसिंह १११
अथर्ववेद ३५, ३६, २०३	अमरावती १८३
अथर्वशिरम् ८६	अमरावती खैली १८६
आदति ४७	अमरी २२
अदीना की मन्त्रिय १६२	अमरक घतक १४८
अद्वैतमिडि १५	अमोद प्रली २२१
अनन्दाय २०७	अमोद गुमरो ४, १६२
अनर्घरागव १४७, १४८	अम्बष्ठ १७५
अनमता, भारतीय संस्कृति की विशेषता १७८	अयम् ५०
अनुराधपुर १३०	अरव व्यापारी-इस्लाम के प्रचारक १५३
अनुलोम विवाह १०४, ११८	अरविन्द २२४
अनुसन्धान समितिवा २३७	आर्वाण्य २, २०७, १०६, ११०
	आतर्कनी १२४, १४४, १४६, १४७, २०६
	अतमनूर, १५०

- धनमधुवी १२४
 धन माधुन १५०
 धनाई इरवाका १६२
 धनाउद्धोत ११६
 धनीमुराध २२
 धनकण के बुनी १७३
 धवतार कल्पना ८४
 धवदान ११२
 धवदान धातक ११२
 धवनीन्द्रनाथ ठाकुर २३८
 धवन्तीमुन्दरी १४६
 धविनाथचन्द्रदास ४०
 धशोक ६, ७०, ७६, १०१, १०३, १०६,
 १०७, ११३, ११४, १३०, १३८,
 १६७, १७२, १७४, १८०, २४३
 धववधोष ११०, ११२, १३१
 धववपति २०३
 धविनी ४१
 धव्यांगमार्ग ६८
 धव्यांग संग्रह १२५
 धव्यांग हृदय १५०
 धव्याम्भायी २०८
 धव्य ६३
 धव्यवर्ग विवाह १४२
 धविष्णो ३५
 धमूर्धम्पण्या ६०
 धम्पुश्यता ११६, २३०
 धम्पुश्यता उन्मुलन २३०
 धहोम २०
 धलवर्गीवी १०६
 धलवर्ग ४६
 धामन ८६
 धामस्तु ११६
 धाम्मेस जाति १५, १७, १८
 धाट प्रकाश के विवाह ५६
 धापस्तम्ब ३७, ३८
 धामोद प्रमोद २६, १०६
 धात्मधरा ५७
 धाधुनिक युग का महत्त्व २१६
 धाधुनिक युग की संस्कृति का विकास
 २१६-४०
 धानन्द कुमार स्वामी (शा०) ६३८
 धानन्दवर्धन १४८
 धान्यवर्ग ६६
 धायोजित धर्मव्यवस्था १६८
 धारण्यक ३६
 धार्मिकीक्षित १५०
 धार्मुनामन १७५
 धार्मिक जीवन ५०
 धार्मिक दशा ६१
 धार्म तथा धार्मिक संस्कृतियों का संगम २०
 धार्मेक ६३, १०१, १२२
 धार्मभट्ट ११, १२४, १२७
 धार्मसमाज २२३, २२८, २२९,
 कालवार ८५
 धासुतोष मुकर्जी २३७
 धाधमव्यवस्था ४७
 धाधम, कम्बुज में १३४
 धाधमलायन २७
 दण्डिधन इन्स्टीट्यूट धाक धाईन २३७
 दण्डिधन सोशल रिकार्मर २२५
 दण्डाधन २३५, २४२
 दण्डाकु राधा ११६
 दक्षिण, ११२, २०५, २०८, २०९,
 २१५, २१५
 दण्डुतेजा १४६
 दण्ड ४१
 दण्डुवर्मा १३४, १३५

- इब्न खुरादबेह १३६
 इबाहीम सादिनशाह १५६
 इतिवट ५६
 इतोर ८८, १६१
 इस्लाम का एबुश्वरवाद १५५
 इस्लाम का प्रकार १५३
 इस्लाम में परिवर्तन १६०
 ईश्वरकृष्ण १२२
 ईरान का प्रभाव ११३, ११४
 ईश्वरचन्द्र विद्यासागर २३१, २३५
 ईश्वर सम्बन्धी विचार ४१
 ईसा २४३
 उडिया साहित्य २३६
 उत्तरकुच ५०
 उत्तर मंड १७३
 उत्तर नीमांसा (वेदाल) ६४
 उत्तररागचरित १४७, १४८
 उत्तर वैदिक युग ४६, ५१
 उत्तर वैदिक युग का धर्म ४३
 उत्तरापथ १६७
 उक्तपुरी १६३
 उदयनाचार्य ६७
 उद्योगकला ६१
 उद्योग निर्माण कला १६३
 उद्योगधर्म २६, १०६
 उद्योगकार ६१, ६७, १२२
 उद्योगिका १०६
 उद्योगन मरकाद २०४
 उपनिषद् ३७, ६०
 उपनिषद् हिन्द १३०
 उपनिषद् ६३
 उमा १६
 उर २६
 उरा ३५, ४१
- उपबदात १००
 ऊँच-नीच तथा असुख्यता का विकास ४६
 ऋग्वेद ३, ५, ६, ८६, २४३
 ऋषी का विचार ४७, २०३
 एंग्लो-सैक्सन जाति ५१
 एकान्तिक धर्म ४६
 एरिधन १०६
 एरुदोष १०८
 ऐतरेय ब्राह्मण ३६, ५२, १६३
 ऐतनीज १३८
 मोटोसी ५६
 श्रीरंगजेव १०२, १५४, २०१
 श्रीरांवाभ ४१
 कल्यायत १११
 कठोपनिषद् ६०
 कठिरी १३६
 कषाद ६८
 कष ६६
 कषासरित्सागर १४८
 कदम्ब ११८, ११६
 कनिषम २६८
 कनिष्क ७०, ७६, ६६, १००, १०१, १६६
 कापरीयनाथ १६६
 कन्हरी १८७
 कषात २७
 कषिल ६६
 कषिलवस्तु के शासन १७३
 कवीर १५८, १५६
 कमलाकर भट्ट १५७
 कम्बन १५०
 कम्बुज १२, १२८, १३४
 कम्बोज ५१, १०४, ११२
 कर पद्धति ६२
 कर्मेन २३४

कर्मकाण्ड की जटिलता ४३, ८०
 कर्मोर् ५०
 कर्म २२७
 कलश १७२
 कलिवर्ण्य १४२
 कान्हू १४७
 कल्याणी १६२
 कदम्ब मार्तण्ड १३१
 कांक्षीवरम् १६१
 कांस्य प्रतिमाएं २००
 काठक ३८
 कातन १११, १४६
 कात्यायन ३७, १२२
 कादम्बरी १४८
 काशीलिक ८६
 कामन्दकीय नीतिसार १२२
 कामशास्त्र १११, १२२
 कायचर्चन ८६
 काशवाकी १०५
 काले की गुफाएं १००, १८७
 काशमुख ८६
 कालिदाम ११८, १२०, १२७
 काशीकट १४३
 काशिकावृत्ति १४६
 काश्मीर ९१, ८७
 किमभाव २०१
 किराताबुंसीय १२१
 कोष ५१
 कुलिन्द १७४
 कुलुव मीनार १२५, १६२
 कुत्रेई १३७
 कुन्दकुन्दावामे ६२
 कुमा ३५
 कुमारमुख १०, १२६, १४५

कुमारजीव ११०, ११८, १३१
 कुमारदेवी १७४
 कुमारपाल चरित १४७
 कुमारसम्भव १२१
 कुमारस्वामी ११५
 कुमारिल भट्ट ८५, ६४
 कुरंग गृह २६, २६
 कुन पांचाल ३५
 कुन्तुक भट्ट १२७
 कुषाण ६६
 कुशीनारा १७३
 कुह १८
 कुचा १३१
 कृत्तिवास १६३
 कृत्यकल्पतरु १४८
 कृपलानी २४३
 कुपि ५०, ६१, १०७
 कुण्ड २०, ७५, ८३, १६३
 कुण्डन ५१
 कुण्ड लीलाएं ८४
 कुण्ड यजुर्वेद ३५, ३६
 केशवचन्द्र सेन २२०
 केशविन्यास २७
 केशपुत्र के कामाम १७३
 केशव मन्दिर १६३, १६५
 कोक शास्त्र १४६
 कोटला गिरुण २२
 कोणार्क १६६
 कोरिया १३२
 कोटिल्य ६०, १०५, १०६, १०६, ११०,
 १६७, १७१, १७२
 कोठार १०२
 कोटिन्द १०२, १२६, १६४, १७७
 कोरु २०७
 कोशिक ३८

चन्द्र गोमी १२१, १२३
चन्द्रव्याकरण १२२
चन्द्रोदयर वैकुण्ठरमण २३७
चन्द्रुदयो २२
चम १३५
चम्पा १२, १०२, १३४, १३८
चम्पू १४८
चरक १११
अथर्वतन्त्र ३६
चरित घोर जाबार, गोमं युग में १०६
चर्वन १३१
चाङ्किकेय १०२, १०६
चाणक्य १६८
चातुर्वर्ग ६६
चार धर्म सत्य ६८
चारुसं पंचम २४३
चारुसं विलिखित २३३
चारुसं वसंत ११, १२
चितारोहण १४६
चित्रकला १६२, १८८
चित्तुल्लभाचार्य १५
चोलापेता १५६
चोल १६६
चैतन्य १४२
चैत्य १८७
छन्द ३०
छान्दोग्य उपनिषद् ७५, ८३, २०८
अगदीशचन्द्र वसु २३६, २३७
अनभेजय ३६
अपलभट्ट १४२
अपवर्मा १३४
अमलिह १४७
अमादित्य १४६
अमानक १४७

अलानुदीन बुखारी १५४
अहोमीर २००
आर्जो ५७
आतक ७८, ८३, २०७
आतपात की आतिथी १४३, १४४
आतिथेय ४५, २२८, २२९
आर्जो मार्शल ११५, १५५
आपान १३२
आपसवाल काशीप्रसाद ११५, १७६
आषा १३६
अग्नि ६६
जीवधर्म ४२
जीवन का धारण ६०, १२०
जीव ६५
जीवक २१३
जुमा ४५, १०७
अन धर्म का धारिणीव ६५
अन धर्म का ज्ञान ८२
अन महासभा १२२
अनेन्द्र व्याकरण १२२
अमिनि १३
अमो २३४
अम २३५
अमिपुर १६२
अयोधिया ३६, ११५, १२४
आतमी १०८
आतमी एकुण्ठ १०८
आम ३०
तजोर १२१
तल्लकौमुदी ६६
तल्लदीपिका १५
तल्लदीपिका १२३
तल्लदी ५३
तलोचन पद्धति ५३
तमि १६

तलाक १०५	दास ११
तलाशिला २०५, २१२, २१३,	दिङ्नाग ११, १२२
ताम्रचंद १३२	दिवाकर मिश्र १४५
ताम्रद्वय वाह्य ३६	दिग्मानवान ११२
तामिल साहित्य ८७	दिसापामीषल २१२
तिस्त १३०	दीनार ११६
तिम्बल १६३	दीपकर श्रीमान ११५, १३३
तिरुवस्तुवर ११२	दीर्घजीविता भारतीय सांस्कृतिक की विवि-
तिलक ३६	धता २४१
तीसरी बीड़ महात्मना ६६	दुर्गा १६
तीतिदीय उपनिषद् ६०	दुर्जन १११
तुलनात्मक भाषा शास्त्र २३४	दलवाड़ा १६६
तुलसी की पूजा २०	देवकीपुत्र कृष्ण ४३
तुषारग ११४	देवता १३३
तेजपाल १६६	देवनाग १२३
तीरमाण ११६	देवविमल १२२
तोलकपिपम् १११, ११२	देवेन्द्रनाथ टाकुर २२०
चिप्योसफो २२२	दोरतमुद्र का होमशलेखर मन्दिर १६७
वेराप्पूट १३८	द्रम ११५
बील संभोट १३३	द्रविड १६१
दण्डी १४८	द्रविड प्रभाव १८, १९
दन्तपुर १३५	द्राक्षायण ३७
दर्पण २८	द्वैतवाद १६
दर्शन ५८, ८६	द्वैतार्थ ६५
दर्शनों का निर्माण ७७	ईराग १६६
दशकुमारचरित १४८	धम १६५
दशमुनीतर संकलेखन १२४, १३६	धनपाल १४६
दशरथ २०३	धर्म २४, ४०
दशवन्त १६२	धर्म का पालन ५८
दक्षिणापथ १६७	धर्मकीर्ति ६१
दाम ११५	धर्मचक्र प्रवर्तन ६७
दामोदर १८	धर्मत्व की मुख्यता १७८
दाराशिकोह १६०	धर्मपाल १२२
दार्शनिक विकास के चार युग ८६	

धर्मसहाय्य १६८	साधनम् ८७
धर्मरत्न १३१	सार १२०, १२२, १७४, २०८
धर्मविजय १००	नारायणो पन्थ १६०
धर्मसंज्ञा ६३	नारायणी नागाए २०७
धर्मसूत्र ३७, ३८	नारियल १७
धार्मिक धान्दोलन २१६	नारी धान्दोलन २३२
धार्मिक प्राप्ति ७४, ७५	नार्डिक (धार्मिक) १६
धार्मिक दशा १९	नामन्दा ११, १६६, २११, २१६,
धार्मिक प्रभाव १४७	२१४, २१५
ध्रुव ७२	नामनीतकम् १२५
ध्रुवदेवी १२०	नामदीप सूक्त ६०
नकुल ६१	नासिक १००
नकुलीन ८६	नास्तिक दर्शन ६१
नचिकेता ६०	निषण्ड १५०
नटराज शिव २०१	निष्ठाभुद्दीन घोलिए १४४
नन्द मौर्ययुग ६	निदेय ८३
नन्दलाल बभ्रु २३८	निम्बार्क ८५, ८५
नन्दी ८६	निया १३१
नरवलि ८८	निषेध ५२, १०५
नल चणू १४८	निष्कल ३६
नवसाहसिक भरिल १४७	निर्गम्य ६६
नवद्वीप ६७	निर्मात-ध्याय १०६
नव्य न्याय धारा ६६	निषाद (धाम्नेय) ८
नव्य न्याय ६७	निष्क ५०
नमीर जाह १६३	नीम २५
नहुषान १००, १०६	नीलकण्ठ १५७
नागर सार्वत्र १४६	नृत्य ४५
नाग धामाटक-गुप्त युग १०	नेष्टिटी ८, १४
नागानन्द १४७	नेष्टिटी नल की सांस्कृतिकदेन १९
नागार्जुन ६६, १११, ११२, १२५, १३२	नैषधीय भरिल १४७
नागार्जुनी कीर्ति १८३, १८७	न्यायकुमुदावलि ६७
नायमूनि ८५	न्याय दर्शन ६७
नालक १५६	न्याय भाष्य १२२
नामदेव १५६	न्यायसंज्ञा ६७

न्याय शास्त्रिक ६१, ६७, १२२	पाठ्यविधय २०७
न्यायावतार १२३	शाणिमि ८३, १२२
न्यूटन १५०	शास्त्रिणीय अष्टाध्यायी ६४
पंचतन्त्र १२१	शास्त्रद्वय १३५
पंचदशी ६५	शास्त्रयुग राजा सुन्दर ८२
पंचविश ब्राह्मण ३६	शास्त्रयुग महाभाष्य ११०
पटोला २०१	शास्त्रयुग गृह्यसूत्र ३७
पणि ३१	शास्त्रयुगविधि ६४
पतंजलि ८६, ८६, १०४, १०७, ११०, १११	शास्त्र ६६
पाणि ४६	शास्त्रवेत्ताध पर्वत ६६
पद्यार्थमर्मसंग्रह ६८	शास्त्रकाव्य १२५, १५१
पद्मपाणि अक्वलीकृतेश्वर १८६	शास्त्राभिल ४६
पद्मपुराण २०	पालि व्याकरण १११
पद्मसंस्मरण १३३	पाकगी ४०
परमाणुवाद ६७	पावा १७३
परमा हिन्द १२८	पाशुपत शैवसम्प्रदाय ८६
परमेश्वर १२२, १५७	पासे २६
परिमल १४७	पिण्डनिधन १६३
परीक्षाएँ और उपाधियाँ २१०	पिप्रावा २१
पञ्चन्य ४१	पीपल २५
पद्य ४८	पुनर्वसु १११
पद्मिणी ३५	पुराणी का विकास ८१
पल्लव १६२	पुराणमकाल और नवमकाल ७
पद्मपति २५	पुरुरवा और उर्वशी ३६
पद्मवति के विरह मान्दोलन ४३	पुरुरवर्ष ६०, २४५
पद्मनेत्र ३३	पुरुरासतम देव १४६
पद्मिनी वृत्तकपाल जाति १५	पुष्पमित्र ७६
पहलव ६६, १०५	पूना १६
पद्माही शैली २००	पूरावर्मा १३६
पद्मराज पद्मति ८४	पूर्व भीमांगी ६३
पाटलिपुत्र का प्रबन्ध १६८	पूर्व वैदिक युग ४०-४३, ४४, ४८, ५०
पाटन प्रणाली २०६	पूना ४१
	पुत्र ६२

पृथ्वीराज विजय १४७
 पेरिप्लस १०६
 पो-मा-मो १३१
 पौराणिक हिन्दू धर्म के विकास के दो
 युग ७४
 प्रगतिशीलता ५२
 प्रजापति ४३
 प्रजातन्त्र १७३
 प्रजाती व्यवस्था २३
 प्रजा ११२
 प्रजापारमिता ११२, १६५
 प्रतिलोम विवाह १०४, १४२, १६८
 प्रफुल्लचन्द्र राय २३६
 प्रमाणवातिक २१
 प्रमाणसम्बन्ध ६१
 प्रसन्नगाय ६८
 प्रस्थान पथी ६५
 प्राकृत ११२
 प्रागैतिहासिक युग ७, १४-३३
 प्राचीन राजतन्त्र की समीक्षा १७१
 प्राच्य भूमध्यसागरीय जाति १५
 प्राजापत्य ५६
 प्राणनाथ १३१
 प्रातिपक्ष ३८
 प्राचीन भाषाओं का विकास २३४
 प्रायेणानामात्र २२०
 प्रिन्सेप २३४
 प्रियदर्शिका १४७
 प्लिनी १०२, १०६
 फतहपुर सीकरी १६२
 फाहियान ११६, १३०, १८३
 चिरोजवाह तुगलक १५४
 फूना १३४, १३४

बकिमन्त्र चटर्जी २२१, २३५
 बंगाल की पाल घाटी १६६
 बन्नाली पोथी १५४
 बरबुद्ध १३८
 बनिधर १०२
 बभ्रुक २०६
 बहुरामजी २२७
 बहुविवाह ५६
 बहुमुखराल १३७
 बाण १४२, १४८
 बादरामण ६४
 बालवध २२६
 बालविवाह २२७
 बालि १३७, १३८
 बिज्जल ८७
 बिल्वतिथ १३५, १३६
 बिल्हण १४७
 बुद्ध २७, २०६
 बुद्धगा १८४
 बुद्धधर्म १२२
 बुद्धचरित ११०
 बृहत्तर भारत १२७-३६
 बृहत्तर भारत की वास्तु कला १६८
 बृहत्तर भारत का सूत्रपात १०१
 बृहत्संहिता १२२, १२६
 बृहदारण्यक ६०
 बृहद्गीता का मन्दिर १६७
 बेगार १०७
 बेबुद्ध १२१
 बेमनगर १००
 बेदिक, लार्ड विलियम २२६
 बीमोजकोई ३६

- बोधिमूक १०१
 बोरोबुदुर १३८, १६४
 बोनियो १३७
 बौद्धधर्म का लोप ८२
 बौद्ध धर्म का हिन्दू धर्म पर प्रभाव ७७
 बौद्ध धर्म की लोकप्रियता के कारण ७७
 बौद्धधर्म के प्राकर्षण ७७
 बौद्ध दर्शन ६२
 बौद्ध साहित्य के गणतन्त्र १७३
 बोधायन धर्मसूत्र ३७, ३८
 ब्रह्म ६४, ६५
 ब्रह्मगुप्त १५०, १५२
 ब्रह्मधर्म के नियम २०४
 ब्रह्मन्यायिक और उपन्यास संस्कार २०३, २०४
 ब्रह्मचारी २०५
 ब्रह्मचारी मूल ६५
 ब्रह्मवैवर्त २१६, २२०, २३१
 ब्रह्मसूत्र ६४
 ब्रह्मसूत्रमिश्रान्त १५०
 ब्राह्मण धर्म ३५
 ब्राह्मी लिपि १३१
 ब्रिटिश युग १३
 भक्ति २०, ५७, ८५
 भगवद्गीता ५६, ७८, ८३
 भगवद्गीता की समस्या १६२
 भट्ट नारायण १४६
 भट्ट १४७
 भट्टकर्म १४५
 भट्टहरि १२१, १४८, १४६
 भरत ३६
 भवशास्त्र ६३
 भवभूति १४७, १४८
 भागवत ४६
 भागवत धर्म ७५
 भागवत धर्म का धार्मिक प्रसार ६३
 भागवत पुराण ८५
 भाषा १८७
 भाट्टमल ६४
 भाततल २३६
 भासती ६५
 भासक १४८
 भारत की मूल १४
 भारत की विविधता और मौलिक एकता ४
 भारत नियमक धर्मधर्म २३३
 भारतीय कला की विशेषताएँ १६६
 भारतीय पुरातत्व का धर्मधर्म ३१
 भारतीय संस्कृति १, इसकी विशेषताएँ २३२, ४८
 भारतीय संस्कृति पर बौद्ध धर्म का प्रभाव ७१
 भारतीय संस्कृति में जैनियों की भूमिका ७३
 भारतीय संस्कृति में साम्प्रदायिक ३
 भारवि १२१
 भारवि ७६
 भारद्वाज की कला १८३, १८४
 भाषाविशेष १२२
 भाषाकाल ६०
 भास ११०
 भास्कराचार्य १४६, १४७
 भिक्षावृत्ति २०५
 भूमध्य सागरीय मूल (विशेष) १५
 भूमरा १६०
 भृगुवक्ता १३५
 भोज ६६, १४२, १४१

संगीत (किरात) १६, २०
 संगूर २००
 सण्डन मिश्र १४५
 मधुरा १८, १०१
 मधुरानाथ ६७
 मधुरा वीली १८४, १८५
 मद्र १७४
 माध्य एशिया ११२, १३०
 माध्यकालीन संस्कृति १४०, १४२
 माध्यम मार्ग ६७
 माध्ययुग की भारतीय कला १६०
 माध्ययुग की मूर्तिकला १६०
 माध्ययुगीन चित्रकला १६६
 माध्य ६५
 मनु १०४, १०५, १०७, १२०, १२७.
 २०४
 मयूर ११६
 मन्दागा द्वीप समूह १७५
 मन्दागार १५४
 मलय १७३
 मणिलक्ष्मणसूरी ६२
 मण्डवी १३६
 महाबलचन्द्र मुन ६
 महात्मा गांधी २३०, २३५, २३६
 महात्मा गांधी ६५, ६६
 महानगर का रचना काल ५४
 महानगर की महिमा ५५
 महाभाष्य १०४, ११०
 महाभित्तिचित्रण ६७
 महाभित्ति १६५
 महानोड १०४
 महायान ६६, ७०, १०१, १११, ११६.
 १२१
 महारथी १०४

महाभक्तकीर्ति २३७
 महाबस्तु १११
 महावीर ६६
 महावीरचरित १४७
 महावीरप्रसाद द्विवेदी २३५
 महेंद्र ६६, १३०
 महेंद्र शाह सरकार २३६
 महायोग ६६
 महायोगिनि १०४
 मुहम्मद तुगलक २२६
 मा १६
 माघ १४७
 मातृदेवता १६
 मातृदेवी २४
 मातृशक्ति १६
 माषक १५०, १५७
 माष्यमिक ६२, ६३
 मानसार १२६
 नामल्लपुरम् १६१, १६२, १६५
 माषाबाद ६४
 मातली माषक १४७
 मातव १७५
 मातविकाचिमिष १२१
 मिश्री १३१
 मिताक्षरा १४
 मिथिला १७३
 मिनान्दर ६६, ७०, १००
 मिथिल संस्कृत १११
 मिहिर कुल ११६
 मीनाधी १६७
 मुहम्मदीय चिन्ता १५५, १६०
 मुक्तिदीपनिषद् ३७
 मुक्त जीवी २००
 मुक्तकीर्तिचन्द्र ५६

मुद्रा ११५	मुक्तिकल्पतरु १५१
मुद्राराक्षस १२१	योग ६६
मुरारि १४७	योगाचार ६२
मुरारि मिश्र ६४	यौघेय १७४
मुस्लिम कलौर १५४	रघुनन्दन १५०
मुहम्मद १५३	रघुनाथ शिरोमणि ६७
मुहम्मद गीस १६२	रघुवंश १२१
मुहम्मद बिन कासिम १५४	रजुल १००
मुहरे २८	रत्नावली १४७
मूर्तिपूजा का प्रसार ७१	रत्नी ४८, ४६, १६६
मृच्छकटिक ११०	रथ १६१
मेघरुपनीज ६०, ८६, १०२, १०३, १०६	रथकार ५०
मेघदूत १२१	रन्तिदेव ६२
मेघातिथि १४८	रमाबाई २२७
मेसोपोटामिया ३०	रभिवर्मा २३८
मैकानिक १४८	रवीन्द्रनाथ ठाकुर २३५, २४१
मैकसमूह ३६	रहनुमाए मज्दागनान २२०
मैत्रेय ६३, १२२	राक्षा १८
मैत्रेयी ४७, ६०	रागमाला १६६
मोहेंजोदड़ो २१-३१	राजकृतः ४६
मञ्ज १०५	राजगोपालाचारियर २३५
मञ्जिका ११४	राजतन्त्र १६५-१७६
मञ्जोतरपुर १३४	राजतन्त्र पर प्रतिबन्ध १७१
मञ्जोवरी १४६	राजतरंगिणी १४७, १७२
मञ्जोवर्मा १६४, १३८	राजयोग ५८
मनुर्वेद ३५, ५१	राजराज १६७
महाभारतीय आन्दोलन ४३	राजशेखर १२१, १४२, १४६, १४८, २१०
महावीर ३६	राजस्थानी शैली १६६
माहावल्क्य १०४, १०५, १०७	राज्यश्री १४५, १४६
माहावल्क्य स्मृति ११०, १२०, १२२, १४८	राजाश्री का देवत्व १६६
माहाकाव्य और मुमुक्षु २०६	राजा के कर्तव्य ६२
मारकन्द १०२	राजा का निरावस्था ४६
मुक्तान च्याय ८६, ८७, १८१, २०५, २०६, २१४	

राधा ८४, ८५, ८६
 रामकृष्ण परमहंस २२१
 रामकृष्ण भण्डारकर ७६
 रामकृष्ण मिशन प्रान्दोलन २२१, २२२
 राममोहनराज २१६, २२६, २२८, २३४
 रामायण और महाभारत ७८, ११०
 रामायण का महत्त्व ५५
 रामायण का रचना काल ५४
 रामानन्द १५८
 रामानुज ८५, ८५, १५८
 रायल एशियाटिक सोसायटी २३३
 रावण वध १४७
 राष्ट्रीय अनुसंधान शालाएँ २३७
 राष्ट्रीय समाज सुधार परिषद् २२४
 राम बिहारी घोष २३७
 राजस ५६
 रङ्ग ४३
 रङ्गदामा १०७
 रङ्गसेन ११८
 रेशम का मार्ग १०२, १०८
 रोमक २२
 रोमक ११६, १२५
 लक्ष्मीकर १४८
 रमिल कलाएँ २३८
 रमिलपरिवार ११२
 रान्तु लाल २३५
 राट्टपावन ३७
 रजिपराज का मन्दिर १६१
 रजिपराज मन्दिर ८७, १४८
 रजिपराज १७१, १७४, १७५
 रजिपराज १४६, १५०
 रुम्बिनीवन ६७
 रोग १८७
 रोजी ११२

लोयल की बुद्धि ११, ६२
 रजि १७३, १७४
 रजिपराज १२२
 रजिपराज ७०
 रजिपराज ११२
 रजि ४८
 रजिपराज २०७
 रजि ४०
 रजिपराज ४६, ११६, १४१
 रजिपराज पद्धति १०२
 रजिपराज १२२, १४४, २१५
 रजिपराज ८८
 रजिपराज १६६
 रजि ४१, ७५, ८२
 रजिपराज प्रथम १०१
 रजिपराज २२, १२२
 रजिपराज ११६
 रजिपराज १२५
 रजिपराज मिथ ६१, ६६, ६७
 रजिपराज ६१, ६७, १११
 रजिपराज १४८, १४९
 रजिपराज और रजि ४१
 रजिपराज पद्धति का जन्म ८०
 रजिपराज १३७
 रजिपराज ६१
 रजिपराज १४८
 रजिपराज १६१
 रजिपराज २१०, २१५
 रजिपराज १४७, १४८
 रजिपराज १४६, १६६
 रजिपराज १२१
 रजिपराज १४१
 रजिपराज १२०
 रजिपराज १६७

विज्ञानमित्र १६	वृत्तिभुग ६१
विज्ञानवाच ६३	वृत्त ४१
विज्ञानेस्वर १४८	वेणीमंहार १४७
विष्णुमित्र १६	वेदव्यास ३४
विस्तार ३५	वेदों का महत्त्व ३४
विदेशियों की हिन्दू बनाना ११६	वेदांग ३८
विदेशियों द्वारा भारतीय संस्कृति को ग्रहण करना १००	वेदान्त ३७
विदेशी व्यापार की शुरुआत उद्घाटित १०२	वेदान्तदर्शक ६५
विषय विज्ञान १०४, १२०, २२६, २२७	वेम ६२, १७२
विषय पिच्छ ६६	वेदान्त ३७, ३८
विशेषतः मित्र ११५	वैज्ञानिक और धार्मिक अनुसंधान २३७
विम ८३, १००	वैज्ञानिक उद्घाटित ६३, १६३, २३६,
विमल शाह १६६	वैतहम्य ४६
विमान १६१	वैदिक और वर्तमान हिन्दूधर्म में भेद ४२
विमलपुर २४२	वैदिक देवता ४०
विनिर्देशन योग २३३	वैदिक धर्म का पुनर्जागरण १०१
विवाद पद्धति ४४, ५६, १२०	वैदिक धर्म के साथ समन्वय ८४
विश्वकामन्द २४७	वैदिक युग १६५
विश्वकर्मा ६३	वैदिक साहित्य और संस्कृति ३४-५३
विशिष्टाईत ६५	वैदिक साहित्य का काल ३६
विशालदत्त १२१	वैदिक संस्कृति ४०-४३
विशेष ६६	वैदिक संस्कृति की विशेषताएँ ५१
विश्वेश्वर १५७	वैदिक ६१
विष्टि १०७	वैदिक ६२, ६३
विष्णु ४१, ७८	वैदिकनाम ३५
विष्णु विष्णु २३६	वैदिकी ६३
विष्णु धर्मोत्तर पुराण १२२	वैदिकी के विचार १७३
विष्णुधर्म १२१	वैदिकी ६३, ६८, १२२
विश्वीय सचर १५६	वैदिकी मत ८४
विहार १८७	वैदिकी ५०, १७३
वीरनाम १०२	वैदिकी १०२
वीरदेव ८७	वैदिकी ३६
वृत्ती १३२	वैदिकी ५१, १०८
	वैदिकी ६२

व्यास स्मृति १४१
 यमोभलिवाचार्थ ६०
 याकराचार्य ८५, ८७, ८९, ९४, ९५,
 १४५, १४८
 याक ८८, १०५
 यासपन बाह्य ३६, ५१
 यावर स्वामी ८३, ८४
 याताकाप्राप्तक १७२
 याहाबुदीन मौरी १५४
 याकरभाष्य २४
 याज्ञं धर महिता १५०
 याजय १७३
 याजार्थ ३६
 यात्रारहित ८३, १३३
 यान्ति स्वकय मदनानर २३७
 यारिपुत्र प्रकरण ११०
 यानिहीन ६१
 यासन प्रणाली १६५-१७६
 याज्ञवल्की १६२
 शिक्षा ३०
 शिक्षा धीर फीस २०६
 शिक्षा काय २०७
 शिक्षा केन्द्र २११
 शिक्षा पद्धति २०७
 शिक्षा पद्धति के उद्देश्य २१६
 शिक्षाकीत २६, २८
 शिक्षण ५०, ६१
 शिक्ष १००
 शिक्षा ७२
 शिक्षासलवध १७७
 युग ६६
 युक्तव्यति १४८
 युक्त यजुर्वेद ३६
 युद्धादित २५

युक्त सूत्र ३७, ३८
 युक्त ११०
 युक्तव्य १३५, १३६, १६२
 युक्त वमें ७६
 युक्त सम्प्रदाय ८७
 युक्त साहित्य ८७
 युक्तविद्वान् ८७
 युक्त १०८
 युक्त १३२
 युक्त ६६
 युक्त वेल मोला १६१, १६७
 युक्त २०६
 युक्त १६
 युक्त ५७, ५८, ८४, १७५
 युक्त १३५
 युक्तका १३०
 युक्तव्य १२
 युक्त २५, १५७, १५८
 युक्तवर्मा १३४
 युक्त १०६
 युक्तसूत्र ५७
 युक्तव्यतर उपनिषद् ७६, ८६
 युक्त ११२
 युक्त १६२
 युक्त रत्नाकर १५८
 युक्तहीता ४६
 युक्त १२२
 युक्त ६८, १२०
 युक्तव्यतया ७०, ७१
 युक्तव्य ६२
 युक्तव्य ६२
 युक्त १८
 युक्तव्य ६८
 युक्तव्य २००

संस्कृतियों का संगम १४
 संहिता ३४
 सतनामी १६०
 सतीप्रथा ३३, ५६, १२०, १४६, २२५
 सत्यपीर १६०, १६१
 सत्यार्थ प्रकाश २३३
 सदानुसिद्ध २३५
 सद्धर्मपुण्डरीक ११२
 सनातनमार्ग २०८
 सना ४६, १६६
 सम्मता और संस्कृति १, २
 समन्तबद्ध १२३
 समन्वयात्मक हिन्दू धर्म ८१
 समाज १०३
 सम्राट्म १०३
 समिति ४८, १६६
 समुच्चयपादी ८१
 समुद्र ५१
 समुद्रगुप्त १०, ६३, १२१
 सम्पत्ति का विनिमय ५०
 सम्पर्क के अन्य परिणाम १४६
 सम्मिलन की प्रवृत्ति १५६
 सम्मिश्रण की प्रवृत्ति १६०
 सरस्वती ३५
 सर सेवद संहार २२१, २३५
 सर्वोत्कर्षवाद ४२
 सर्वानुतिवाद ६३
 सर्वज्ञ विद्या ११०
 सहदेव ६१
 सहिष्णुता का भाव ३, ५१, २४२
 शास्त्रकारिका ६६, ११२
 शास्त्र दर्शन ६५, ६६, १२२
 शांति ८४
 शांति की पूजा २५

सांस्कृतिक एकता ५
 सांस्कृतिक प्रभाव, कृत्तर भारत में १३३
 सांस्कृतिक प्रसार के धरोकर कारण १२८
 सातवाहन युग ६, १०, ६०, १६८, १८३
 सामवेद ३५, ३६
 सामाजिक दशा ४४, १०३, ११८, १४१
 सामाजिक संघटन ५६
 सारगाथ ६३
 साहित्यिक उन्नति १६३
 साहित्य १२१
 सिद्धमयी १३६
 सिद्धासन द्वाविधिका १४८
 सिकन्दर १५४, १७४
 सिकन्दर जोड़ी १५४
 सिधिरिया १६०
 सितार १६२
 सित्तनवासल १६०
 सिद्धसेन दिवाकर १२३
 सिद्धदेव १४६
 सिद्धान्तशिरोमणि १४०
 सिन्दूर १८
 सिन्धु ३५, ५१
 सिन्धु सभ्यता २१-३१
 सिन्धु सभ्यता का काम २६
 सिन्धु सभ्यता के निर्माता ३०
 सिन्धु ६६
 सिन्धु सेवी २४६
 सीता १०२
 सुकरात २४३
 सुजायती १३२
 सुत्तपिटक ६६
 सुकन्धु १४८
 सुकर्णदीप ११, १२६, १३५, १३७
 सुकर्णपुष्प १३१

सुवर्णधूमि १२६	हृदय तथा मोहोदयो की सम्मति २१-२१
सुवासु ३४	हम्मानामा २००
सुख १११	हरिवास शारदा २२७
सुहृत्सिख ६३	हरिजनो की उन्नति २२६, २३०
सूर्य ७८	हरिपेण १२१
सूयकाल दर्शनसाहित्य का ६०	हर्षचरित १४८
सूय साहित्य ३७	हवनकुण्ड ३३
सूर्य ४१	हवामुख १४६
सूर्यवर्मा १३४	हाकरणीय १५०
सुष्माकोट्टन २२४	हान ११२, १४६
सुल्लुफन ११४	हालेविद १६७
मेहरा १६४	हिन्दवीन के राज्य १३३
संन्यासप्रवृत्ति ६३	हिन्दवा १२४
सोमदेव १४८	हिन्दुधर्म का नया रूप ७७
सौमि ५४	हिन्दु धर्म के सुधार बान्दीन १५१
सौभाग्यिक ६३, ६३	हिणलास १०२, १०८, ११६
सौन्दरानन्द ११०	हिरण्यधर्म ४२
सौवीर ५०	हीनान ६६, १०१
स्तम्भ १८१	हुण-हीन १३४
स्तूप १८१	हुमायूँ २००
स्त्रियों का उत्थान २३०	हुनरी मेन ११४
स्त्रियों की स्थिति ४७, २६, १०२, १२०, १४४	हुमनन्द ६२, १४७, १४६
स्त्रीतत्त्व ८८	हुमादि १४२, १४७
स्त्री शिक्षा २३१	हुमियोदोरस ८३, ८४, १००
स्वर्गाति ४६, ४६	हुयल १६३, २३८
स्वानामार २३	जता ४६
स्वयं १८२, १६८	जयप ११४
स्वर्ग सम्प्रदाय ८१	जीरस्वामी १४६
स्मृति चरित्रिका १४२	ज्येन्द्र १४८
स्वाहा ६२	जुटक १७४
सौम्यन समी १३३	जिकान्द जेध १४६
स्वामी दयानन्द सरस्वती २२७	जिपिटक ६८
स्वामी विवेकानन्द २२१, २२३	जिम्मिनी १६
स्वतन्त्र नगर १०८	जिम्मिनी ८१, ८२
	जिविषम भट्ट १४८



Cell-
N/15/25

Central Archaeological Library,
NEW DELHI.

36851

Call No 901.0954/Haz

Author—अनन्त, श्री सिंह

Title—शुद्धि के अर्थ

"A book that is shut is but a block"

CENTRAL ARCHAEOLOGICAL LIBRARY
GOVT. OF INDIA
Department of Archaeology
NEW DELHI.

Please help us to keep the book
clean and moving.